हिंदी-गद्य-दर्पण

[हिंदी के श्रेष्ठ गद्य-लेखकों की कुछ कृतियाँ]

डा० धीरेन्द्र वर्मा पुस्तक-संग्रह

संकलनकर्त्ता तथा सम्पादक

सद्गुरुशरण अवस्थी एम० ए०

अध्यक्ष हिंदी विभाग

विश्वम्भरनाथ सनातनधर्म कालेज

कानपुर।

प्रकाशक

राजपूताना प्रकाशन मंडल

जयपुर।

प्रथम संस्करण] १९४८ [मूल्य २॥)

अपनी बात

प्रस्तुत संकलन इंटरमीडियट कक्षा के हिंदी-विद्यार्थियों के लिये प्रस्तुत किया गया है। इस बात का यथासाध्य प्रयत्न किया गया है कि हिंदी गद्य के नये से नये प्रतिनिधि लेखकों की शैलियाँ छात्रों के संमुख उपस्थित की जा सकें। इस छोटे-से संकलन में सभी अच्छे गद्य-लेखकों का समावेश करना कठिन था अतएव जो लेखक छूट गए हैं उनकी कृतियों को स्थानाभाव के कारण संमिलित नहीं किया गया। कुछ ऐसे भी लेखकों को छोड़ना पड़ा है जिनकी कोई भी कृति इंटरमीडियट के विद्यार्थियों को पढ़ाने योग्य नहीं मिली। इस संकलन में संभवतः कुछ ऐसी कृतियाँ भी संमिलित न हो सकीं हों जिनके लेखक हिंदी के युग-प्रवर्त्तक शैली-विधायक हैं। परंतु उनकी कृतियाँ पूर्णरूप से इंटरमीडियट के विद्यार्थियों के ज्ञान के अनुकूल नहीं मिलीं। लगभग सभी लेख इंटरमीडियट के विद्यार्थियों के लिये बिलकुल उपयुक्त हैं। संकलनकर्ता ने अपने गत बाईस वर्षों के इंटरमीडियट कक्षा के विद्यार्थियों के ज्ञान के साक्षात् अनुभव के बल पर यह संकलन प्रस्तुत किया है।

इस संकलन में विभिन्न शैलियों के साक्षात्कार के साथ साथ विभिन्न विषयों का भी समावेश है। इतिहास, प्रबंध, जीवनी, आलोचना, गद्य-काव्य, कहानी, एकांकी नाटक, सभी साहित्य के अंगों के नमूने विद्यमान हैं। कारुणिक वर्णन, परिहास-

पूर्ण दृश्य, मानसिक तथा सामाजिक गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास, काव्य-कला की मीमांसा, वादों की व्याख्या इत्यादि सभी विषयों का इस संकलन में समावेश है।

आरंभ में हिंदी गद्य का एक विवेचनात्मक परिचय दिया गया है। लेखों के आरंभ में बड़े-बड़े लेखकों का परिचय तथा उनकी शैलियों का—जिनमें प्रस्तुत संग्रह के संकलनकर्त्ता को छोड़ कर सभी लेखक संमिलित हैं—स्वतंत्र विवेचन किया गया है। यह विवेचन संभव है सबको पसंद न हो; परंतु लेखक ने इसे प्रस्तुत करते समय किसी पक्षपात अथवा लगाव से काम नहीं लिया है; वरन् अपने अध्ययन के बल पर वह जिस निष्कर्ष पर पहुँचा है उसी की अभिव्यक्ति की है। अतएव उसे विश्वास है कि विद्वान् और निष्पक्ष व्यक्ति उसके विचारों को अन्यथा न समझेंगे।

संग्रह के अंत में प्रत्येक पाठ के कठिन स्थलों को भी समझाने का प्रयास किया गया है। हमको विश्वास है कि प्रस्तुत संकलन सब प्रकार से इंटरमीडियट के विद्यार्थियों के लिये उपयुक्त होगा।

अंत में संकलनकर्ता उन सब लेखकों और प्रकाशकों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है जिनकी सामग्री का प्रस्तुत संकलन में प्रयोग हुआ है।

संकलनकर्त्ता

लेख-सूची

विषय	लेखक	पृष्ठ
१. कवि और कविता	(स्वर्गीय श्री पंडित महावीर प्रसादजी द्विवेदी)	१ – १७
२. एक घूँट	(स्वर्गीय श्री बाबू जयशंकर प्रसाद)	१८ – ३२
३. त्रिमूर्त्ति	(श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी)	३३ – ४५
४. क्षमा	(स्वर्गीय श्री प्रेमचंदजी)	४६ – ६१
५. ललित कलाएँ और काव्य	(स्वर्गीय श्री डाक्टर श्यामसुंदरदास)	६२ – ७८
६. हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी	(स्वर्गीय श्री पंडित पद्मसिंह शर्मा)	७९ – ८९
७. काव्यपद्धति और हिन्दी का श्रेष्ठ कवि	(स्वर्गीय श्री पंडित रामचंद्र शुक्ल)	९० – १०८
८. अपने राम की चिट्ठी	(स्वर्गीय श्री पंडित विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक')	१०९ – ११९
९. बिंदु सिंधुत्व का दावेदार	(श्री पंडित माखनलालजी चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा')	१२० – १३०
१०. कैकेयी	(सद्गुरुशरण अवस्थी)	१३१ – १६३
११. साहित्य और जीवन का सम्बन्ध	(श्री पं० नंददुलारे वाजपेयी)	१६४ – १७२
१२. अपना अपना भाग्य	(श्री 'जैनेन्द्र')	१७३ – १८४
१३. वादों का विवाद	(सद्गुरुशरण अवस्थी)	१८५ – २०३
१४. साहित्यिक चंद्रमा	(श्री वियोगी हरि)	२०४ – २१९

विषय	लेखक	पृष्ठ
१५. विज्ञान और प्रकृति	(स्वर्गीय श्री पंडित रामदासजी गौड़)	२२० – २३६
१६. आचरण की सभ्यता	(स्वर्गीय श्री सरदार पूर्णसिंहजी)	२३७ – २५७
१७. हिन्दी-लिंग-विचार	(श्री पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी)	२५८ – २७१
१८. कबीर	(श्री पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी)	२७२ – २८३
१९. अध्ययन	(श्री मिश्रबन्धु)	२८४ – २९४
२०. शिवमूर्त्ति	(स्वर्गीय श्री पंडित प्रतापनारायण मिश्र)	२९५ – ३०८

भूमिका

साहित्य 'साहित्यिक' नहीं होता—

लक्षण-ग्रंथकारों ने कविता को 'साहित्यिक' बनाने के लिये जिन उपादानों की सृष्टि की है वे साहित्य के प्राण नहीं हैं। 'साहित्यिकता' के विलासी साहित्य के मर्म को नहीं जानते। वे मूल के स्थान में दल और देवता के स्थान में मूर्त्ति की स्थापना करते हैं। कभी कभी तो 'साहित्यिकता' के बोझ में दबकर साहित्य पिस जाता है। यह बात भारतीय काव्य-विधान की ही नहीं है, वरन् पाश्चात्य देशों में भी देखने में आती है। आज की 'साहित्यिक' कविता गद्य के निकट पहुँच गई है, नीरसता-कवित्वहीनता के कारण नहीं वरन् उन प्रतिबंधों को उखाड़ फेंकने के कारण। जो 'साहित्यिकता' के नाम पर गद्य और पद्य लिये, चाहे वह गद्य हो के बीच में खड़े थे। यह एक बार समझ लेना होगा कि अच्छे साहित्य के अथवा पद्य, पूर्ण मानसिक विकास की आवश्यकता है। गद्य-पद्य का रूप एक हो जाय इसके लिये उतना ही विलंब है जितना 'मनुष्य' को पूर्ण मनुष्य हो जाने में देरी है।

गद्य-पद्य का ऐक्य—

गद्य और पद्य का ऐक्य मानव-समाज की उन्नति का अंतिम उत्कर्ष है। सभ्यता के चरम विकास में मानवता का जो चरम स्वरूप हमारे समक्ष आवेगा वह न गद्य में लिखेगा और न पद्य में। उसका बोलना और लिखना गद्य-पद्य से परे और गद्य-पद्य का समन्वय होगा। उसमें मर्म

का चुटीलापन होगा, उसमें राग का वेग होगा, उसमें मनोवृत्तियों का विस्फोट होगा; परंतु उसमें साथ ही साथ कथन का सुलझाव होगा, चिंतन का नया खंड होगा, प्रतिपादन-प्रणाली में नया तर्क होगा। आज हम जिसे हृदय के उफान का बेसिलसिलापन समझते हैं, उस समय उसमें हम दर्शन की तार्किकता और प्रतिपादन-प्रणाली का क्रम देखेंगे। आज हमारा हृदय साधु की जटा की भाँति चिपका हुआ है। इसीलिये उसकी प्रेरणा में बिलगाव नहीं। अतएव रागात्मक चित्र उलझे हुए और अतार्किक निकलते हैं। मस्तिष्क की सहायता से चिंतन के प्रकाश में गुंफित होने के पूर्व उन्हें सुलझाना पड़ता है। तब यह बात न रहेगी। बुद्धि का अंतिम चिंतन ही हृदय का कोष होगा। बाह्य पदार्थों के संपर्क से हृदय में जो कसमसाहट उत्पन्न होगी उसमें बुद्धि का चिंतन-कोष ही फूट निकलेगा और उसी की अभिव्यक्ति हम काव्य में देखेंगे। काव्य में और दर्शन में विषय को छोड़कर कोई भेद न रह जायगा। विज्ञान का और कला का स्थूल-भेद नष्ट हो जायगा। रहस्य-वाद का स्थान व्यक्त-वाद ले लेगा और छायावाद को बिंबवाद अपदस्थ करेगा। प्रज्ञात्मक और रागात्मक प्रणाली का भेद मिट जायगा। छंदों के प्रतिबंध को अनैसर्गिक समझ कर छोड़ दिया जायगा, और अभिव्यंजन-प्रणाली संगीत की सूक्ष्म गतियों के बल पर स्वतः निश्चित होगी।

अभी युगों तक यह गद्य-पद्य का भेद चलता रहेगा। इस विभेद को मिटा देने के प्रयास तो आज भी परिलक्षित हो रहे हैं परंतु उस स्वरूप का संकेत, जिसकी ऊपर चर्चा की गई है, अभी नहीं मिलता।

पशु-स्वरूप में तो जीव रागमय होता ही है, परंतु विकास के सोपान में 'मनुष्य' की परिस्थिति तक पहुँच कर प्राणी चिंतना की चिनगारी को जितना ही फूँक-फूँककर उद्दीप्त करता है, उतना ही अधिक उन्नत होता जाता है। यहाँ तक कि उसे अपनी भावना-शक्ति को नियंत्रित, अनुशासित और परिमार्जित करते करते चिंतनशक्ति की सजगता के अधीन करना पड़ता है। होते होते चिंतनशक्ति ही केवल भावनिधि की वस्तु रह जाती है और मनुष्य अपने पूर्ण स्वरूप में आकर टिकता है।

साहित्य में पद्य की प्राचीनता—

हम देखते हैं कि विश्व में सर्वत्र जहाँ कहीं भी साहित्य संरक्षित है, सबसे पहले पद्य के ही स्वरूप दिखाई देते हैं, गद्य के नहीं। यह क्यों? यह इसलिये नहीं है कि मनुष्य पर संगीत का प्रभाव बहुत पुराना है और संगीत का अनुशासन मानना सभ्यता का चिन्ह है। इसका कारण यही है कि प्रत्येक देश के साहित्य के आदि-युग में मनुष्य गद्य-प्रधान-युग की अपेक्षा कम सभ्य थे। भावमय, रागमय, भड़भड़मय परिस्थिति में पले हुए व्यक्ति अनिवार्य रूप से पद्यमय होते होंगे। संभव है कि उन आदिम कृतियों में भी चिंतना की सामग्री हो और इससे उनके विकास और सभ्यता का ऊँचा मोल आँका जा सके; परंतु एक बात निश्चय ही थी कि आकार-विधान का उनका अभिव्यंजन पद्य और कथित संगीत के रूप में उनकी चिंतना की उन्नति की उलटी गंगा बहाता था। वर्ष दो वर्ष के बच्चों के समक्ष माता, जो मन में आता है, गाती है; इधर-उधर के

बाजे टन टन बजाती है और बच्चों को यह सब बहुत अच्छा लगता है। परंतु बच्चे की संगीत-प्रियता का न तो यह अर्थ है कि विश्व में संगीत-कला का सार्वभौमिक प्रभाव है और न यह अर्थ है कि बच्चे की समझ अथवा सभ्यता इतनी सजग होती है कि वह माता के गानों का कला की दृष्टि से आनंद लेता है। इसका केवल यह अर्थ है कि पशु-स्वरूप के अव्यक्त बेसिलसिले के नाद से प्राणी के भावात्मक स्वरूप का ऐसा सान्निध्य है कि बचपन में जब तक उसमें चिंतना की सजगता उदय नहीं होती, तब तक वह असभ्यों की भाँति अथवा पशुओं की तरह अपने को उससे बहला लेता है। चिंतना के उदय होने पर भी हम जो उसी प्रकार का लगाव क़ायम रखते हैं उसका भी कारण पुरातन असभ्य संस्कार ही है।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि कवि अथवा कविता-प्रेमी, संगीताचार्य्य अथवा संगीत-रसिक असभ्य अथवा अर्ध-सभ्य हैं। जिस काव्य अथवा संगीत के सिद्धांतों को स्थिर करने में चिंतना को शताब्दियाँ लगी हों, जिनके मनन, अनुशीलन और अध्ययन में चिंतना का विकास और भावना का परिष्कार होता हो वे कलाएँ असभ्यता की प्रतिकृति नहीं हो सकतीं। जब हृदय की स्फूर्ति में बुद्धि के ही उत्कर्ष का स्वरूप है तो फिर असभ्यता की बात ही क्या है। स्मरण-शक्ति की सहायता के लिये, कहते हैं यहाँ के विद्वानों ने ज्योतिष, तर्क, वैद्यक आदि सभी विज्ञान के ग्रंथों को पद्यमय स्वरूप दे डाला। इस स्मरण-शक्ति के मूल में पशुवृत्ति है। वह स्मरण-शक्ति जो नाद का सहारा लेकर ही टिक सकती है—असंस्कृत है। छंदों के मूर्त आकार से हट कर अमूर्त

पर टिकने का अभ्यास करना शिक्षित मेधा का उन्नत प्रयास है।

संसार के साहित्य में पद्य क्यों सर्वप्रथम मिलता है—इसके और भी कारण हैं। ९९ प्रतिशत भाव-प्रधान लोगों के लिये गद्य का लिखना नीरस, अनाकर्षक और सारहीन था। यदि उनसे बन पड़ता तो गद्य में बोलते भी नहीं। उस समय की बोलियों के प्रमाण कम मिलते हैं। बहुत संभव है कि थोड़ा टेढ़ापन उनमें भी हो। बोली में भी पद्य-प्रयोग के लोग कैसे उत्सुक थे, इसके कुछ उदाहरण नाटकों में मिल सकते हैं। बोलने के स्थान में पात्र गाते हैं। इस वृत्ति की भरमार संस्कृत रूपकों में देखने में आती है। कुछ नाटक तो ऐसे हैं कि जिनमें गद्य-भाग से पद्य-भाग कहीं अधिक है, और गद्य में सरलता से लिखे जानेवाले इतिवृत्तात्मक स्थलों को भी तुकबंदियों में बाँध दिया गया है। आज-कल भी पिछलगों को भाँति वह दोष नाटकों में वर्तमान रहता है।

प्राचीन काल में स्मरण-शक्ति बड़ी प्रबल थी, अतएव शास्त्रों का बहुत कुछ स्वरूप लिपि-बद्ध कभी नहीं हुआ। गद्य कैसे दिखाई देता? शासन-संबंधिनी आज्ञाओं का उल्लेख कहीं-कहीं थोड़ी-सी पंक्तियों में उदाहरण के रूप में दिखाई देता है। आने-जाने की सुविधाएँ न थीं। रेल, तार और डाक-घर न थे। पत्रों को कैसे भेजा जाता? छापेखानों की अनुपस्थिति में पुस्तकों की प्रतिलिपि करना उतना ही दुस्साध्य था जितना गौरीशंकर पर चढ़ना। सभ्यता का जो कुछ विकास हुआ था वह भावना के कटघरे में बंद था, और छंदों के रूप में ही मिश्रित हुआ था।

ये सब भाषाओं के लिये एक-से प्रतिबंध थे। परंतु प्रत्येक भाषा के लिये अपने निजी कारण भी हैं। हिंदी-भाषा का विकास तो दसवीं शताब्दी से माना जाता है, परंतु उस समय का गद्य नहीं मिलता। भारतवर्ष की भाषाओं की विकास-धारा से कितनी शाखाएँ फूटीं, कब कब फूटीं और इनका क्या क्या नाम पड़ा इसका उत्तर हमें साहित्य के इतिहास भाषा के इतिहास और भाषा-विज्ञान की ओर ले जायगा, परंतु जिस शाखा-विशेष को हिंदी नाम दिया गया उसके स्वतंत्र अस्तित्व की घोषणा का पहला शंखनाद पद्य के रूप में था, गद्य में नहीं। बाद में कितने ही सुंदर काव्य रचे गए परंतु सब पद्य में। यह क्रम १७ वीं शताब्दी तक जारी रहा।

साहित्य में गद्य का महत्त्व—

यह बात निर्विवाद है कि किसी राष्ट्र अथवा युग के साहित्य की आत्मा से परिचय प्राप्त करने के लिये जिज्ञासु प्रायः सदैव उसके काव्य के उपवन में पदार्पण करते चले आए हैं; कविता का अंचल पकड़कर वे साहित्य की महत्ता से साक्षात्कार करते रहे हैं और ज्ञानकोष के पद्यात्मक अंश से प्रभावित होकर उन्होंने साहित्य के मूल को आँका है। किंतु इसका यह अभिप्राय नहीं कि जनसाधारण में प्रचलित विचार-विनिमय के साधन अर्थात् गद्य का साहित्य के सृजन-उद्योग में कोई अंश ही नहीं रहता। अपने नित्य-प्रति के संभाषण में जिस कथन-प्रणाली को आधार बनाकर हम अपने हृद्गत भाव, शोक, हर्ष, रोष आदि प्रकट करते हैं; जिसे सभी आबाल-वृद्ध स्त्री, पुरुष, समान रूप से व्यवहार में लाते हैं, उसकी उपादेयता कविता अथवा पद्य के

संमुख नगण्य नहीं है। आधुनिक समाज में जब कि शिक्षा, संस्कृति और साहित्य का विकसित और प्रौढ़ स्वरूप हमारे संमुख है, हम देखते हैं कि पद्य ही साहित्य के शृंगार का एकमात्र साधन नहीं है। इस वैज्ञानिक युग में ऐहिकता के प्रति ज्ञानार्जन अनिवार्य सा हो रहा है। ज्ञान के विविध स्वरूप और विभिन्न क्षेत्रों का ऊहापोह अब हमारा अभीष्ट रहता है। नित्यप्रति जनता में लेख्य विषयों की गणना-वृद्धि होती जाती है। ऐसी स्थिति में साहित्य सरोवर में जल-विहार करने के हेतु हम पद्य-रूपी एक ही डाँड़ के सहारे अपनी जीवन-नौका को लेकर ध्येय तक नहीं पहुँच सकते।

हम अपने साधारण क्रियात्मक जीवन में, अपने आलाप-संभाषण और वाद-विवाद में संसार की ऐहिकता से लिप्त रहते हैं। स्वयं कवितामय होने का अवकाश और सौभाग्य कभी कभी मिलता है। यही कारण है कि हमारी गति और प्रणाली अधिकांशतः विचारात्मक अर्थात् बुद्धि, अनुभव और दुनियादारी से संबंधित है। जीवन के संघर्ष में कविता उपेक्षित है; इसमें कविता का बहुत कम अंश है। गद्य हमारे लिये बागडोर है, इसका महत्व सर्वतोमुखी है।

किसी भी जाति के बौद्धिक विकास की कसौटी उसकी वैज्ञानिक उन्नति होती है। विभिन्न कलाओं का विकास, उद्योग-धंधों की प्रचुरता, सामाजिक उन्नति आदि से ही राष्ट्र शिक्षित कहाता है, अतः हमारे मानसिक स्फुरण में गद्य की महत्ता और उपादेयता सर्वमान्य है। इसके अतिरिक्त स्वतः साहित्य के भी अनेक ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ पद्य की पहुँच नहीं; और यदि ऐसे स्थलों में पद्य अपना पैर रोपता है तो

यह उसकी हिमाक़त और लेखकों की उद्दंडता ही समझना चाहिए। पदार्थ-विज्ञान, समाज-विज्ञान (चिकित्सा क़ानून, अर्थ, राजनीति आदि) तथा अन्यान्य उपयोगी कलाओं का विवेचन यदि पद्यबद्ध संमुख आए तो हास्यास्पद और अनुचित होगा। इस संबंध में हमें संस्कृत-वालों की झक का स्मरण हो आता है जिन्होंने ज्योतिष, तर्क, मीमांसा आदि को पद्यबद्ध किया था। उनका यह प्रयास अपने समय की समाज-गत रुचि को देखते हुए भले ही युक्तिसंगत कहा जा सके; किंतु यह स्वाभाविक है कि केवल पद्य में बाँधकर ही ज्योतिष, तर्क, धर्म्म-शास्त्र आदि का प्रचार और प्रसार जनसाधारण तक नहीं किया जा सकता। एक शिक्षित राष्ट्र का निर्माण गद्य के बल पर ही होना स्पष्ट है। गद्य ही मानव-जीवन की समीक्षा-प्रणाली है, और यही वास्तविक संसार के चित्रण की उपयुक्त तूलिका।

पद्य के पूर्व-प्रवेश के कुछ और कारण—

साहित्य में गद्य के समुचित स्थान का निर्देश करते समय स्वभावतः प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब गद्य ही राष्ट्र की शिक्षोन्नति का महत्त्वपूर्ण साधन है तो प्रत्येक देश के साहित्य में पद्य का प्रचार अपेक्षाकृत पूर्वगामी क्यों देखा जाता है? इस संबंध में हम ऊपर संकेत कर चुके हैं। इस तथ्य का ऊहापोह बहुत कुछ ऐतिहासिक घटनाक्रम पर आधारित है, साथ ही इसके कुछ प्राकृतिक कारण भी हैं। समाज-शास्त्र और सभ्यता का इतिहास इस बात का द्योतक है कि आदिमकाल में जब मनुष्य ने कोई उल्लेखनीय सामाजिक दृढ़ता न अंगीकार की थी, हमारी आवश्यकताएँ न्यून थीं, जीवन एक संघर्ष न

था और संतोष सहज-प्राप्त था। तत्त्वचिंतन के स्थान पर आत्मगत-भावोद्वेगों के नैसर्गिक अभिव्यंजन में ही सुख की उपलब्धि थी, तथा ज्ञान का भंडार परिमित था। साहित्य का प्राथमिक स्वरूप ऐसी स्थिति में व्यंजनात्मक हुआ। उसमें विश्लेषण अथवा आलोचना का कोई अंश न होने से भाषा का आरंभ अधिकतर कविता से होता है।

गद्य के आविर्भूत होने में विलंब होने का कारण उस समय की देश की शासन-व्यवस्था अथवा अव्यवस्था से उत्पन्न मनुष्य के जीवन का अस्तव्यस्त और आपदाकुल होना भी है। तब आक्रमण, युद्ध और पलायन नित्य की घटनाएँ थीं। किसी विषय के गूढ़-चिंतन का किसी को अवकाश न था। शांत वातावरण में कुछ दिनों रहकर किसी विधेयात्मक साहित्य का प्रणयन करना एक दुस्तर कार्य था। धर्म अथवा युद्ध ही ऐसे विषय थे जिनसे समाज की रुचि आकृष्ट होती थी। इस कारण भी धर्म-प्राण संस्कृत-साहित्य का रुझान पद्य की ओर ही रहा। समाज का ज्ञान कोष बहुविषयक न था और न बहुत गहन ही। उस समय एक प्रथा-सी थी वर्णित विषय को संक्षेप में कहने की और ऐसे ढंग से कहने की कि वह जनरव बन जाय। विषय के पद्यात्मक अंश को स्मरण रखना गद्य की अपेक्षा कुछ सरल होता भी है, तथा आशय को संक्षेप में स्पष्ट कर देने की पद्य में कुछ अद्भुत क्षमता होती है। संभवतः पद्य के प्रसार का यह भी एक प्रयोजन रहा है।

हमारा सामाजिक जीवन जब तक पार्थिवतापूर्ण नहीं होने पाता वह कविता का कानन रहता है। सभ्यता के मंडप के नीचे जब तक संसार नहीं आया था, उसकी मानसिक अवस्था दुनियादारी से दूर

थी। तब हमारी व्यावहारिक बुद्धि में न अधिक वेग आया था, न विशेष प्रबलता ही दिखाई देती थी। सरल जीवन और अमल धवल मानस के मध्य में वे दिवस काव्योचित वातावरण के विधायक थे। वायु में अंतर की स्वर-लहरी निनादित रहती थी अतः उस समय तक गद्य की आवश्यकता अथवा उपयोगिता कोसों दूर थी। इसका कुछ ऐसा प्रभाव हुआ कि पद्य-रचना की एक दीर्घकालव्यापी बयार-सी बह चली। जब संस्कृत के आधार पर अपभ्रंश भाषाओं में साहित्य का सृजन होने लगा तब भी पद्य ही विषय प्रकाशन का प्रचलित साधन था।

संस्कृत का साहित्य-कोष यद्यपि पर्याप्त मात्रा में गद्यांश था; किंतु संस्कृत प्रचलित व्यावहारिक बातचीत का माध्यम न थी। लोगों में इसे पढ़ने का धैर्य न था, वे इससे उदासीन थे। अपनी प्रचलित भाषा में पाठ्य पुस्तकों की पद्यात्मक शैली उन्हें ग्राह्य थी, किंतु संस्कृत-विद्वानों के गद्य से वे ऊबते थे। वास्तव में बाण और दंडी प्रभृति संस्कृत के वाग्मीश्वर जैसा गद्य लिखते थे वह था भी अत्यधिक आलंकारिक और आडंबरपूर्ण। इनके गद्य की भाषा पद्य का जामा ओढ़े, कविता-विषयक शुष्क उपादानों से अत्यधिक आवृत है। गद्य का यह वेश जन-रुचि को पसंद न आया और इसका कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि हिंदी-लेखकों ने हिंदी-गद्य की ओर ध्यान ही नहीं दिया। लोग रीतिकाव्य लिखना ऐसे गद्य से अपेक्षाकृत सरल और सुबोध समझकर पद्य में ही अपनी उक्तियों का चमत्कार दिखाते रहे। संस्कृत-गद्य से अरुचि होने के कारण हिंदी-काव्य के क्षेत्र में भी एक ऐसी धारा का

उद्गमन हुआ जिसमें अति साधारण विषय-वर्णन को पद्य के ढाँचे में ढालकर कविता का रूप दिया गया था।

हिंदी-गद्य का आविर्भाव—

वर्तमान प्रचलित गद्य की भाषा (खड़ी बोली) का उद्गमस्थल अथवा आविर्भावकाल का ठीक-ठीक निर्देश करना कठिन है। हिंदी-गद्य का आरंभ विक्रमीय संवत् १४०७ के लगभग माना गया है। यह हिंदी-गद्य वस्तुतः ब्रजगद्य कहाता है। गोरखनाथ ने अपना 'सिष्ट-प्रमाण' इस समय गद्य में लिखा। इस समय के गद्य-लेखकों में गोरखनाथ, गोकुलनाथ, गंगभट्ट, नाभादास, अमरसिंह कायस्थ आदि की रचनाएँ प्रकाश में आ चुकी हैं। इन गद्य-लेखकों की भाषा तथा शैली अत्यंत अनगढ़, अनियंत्रित तथा शिथिल है। वास्तव में इस युग की भाषा के रूप-निरूपण की जो कुछ भी सामग्री उपलब्ध हो सकी है, वह पंडिताऊ पोथियों, वैष्णव उपदेशों तथा राजकीय पत्र व्यवहार में ही देख पड़ी है। यह ब्रजगद्य स्थायी न बन सका। टीकाकारों के हाथ में पड़कर यह अकाल में ही नष्ट हो गया। सत्रहवीं विक्रमीय तक इस ब्रजगद्य का पूर्ण ह्रास हो गया।

गोकुलनाथ-कृत ब्रजभाषा के दो गद्य-ग्रंथ "चौरासी वैष्णवों की वार्ता" तथा "दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता" का उल्लेख भी यहाँ प्रासंगिक है।

किंतु गद्य-लेखन का यथेष्ट प्रचार न होने के कारण, ब्रजगद्य पनप न पाया। काव्यों की टीकाओं का गद्य इतना लचर, भ्रष्ट और अशक्त दिखाई दिया कि उसकी लड़खड़ाहट और अपांगता ने मूल का भी मूलोच्छेदन कर डाला।

अतः आगे चलकर गद्य में स्थूल ब्रज के स्थान पर खड़ी बोली सुगमता से ग्रहण कर ली गई। यह खड़ी बोली अपने आदिरूप में केवल बोलचाल में व्यवहृत होती थी। तत्कालीन दिल्ली और मेरठ तथा उसके समीप की प्रचलित भाषा के नमूने खड़ी बोली का प्रामाणिक निर्माण करते हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि वर्तमान हिंदी (खड़ी बोली) का प्रारंभिक स्थल मुग़लकालीन दिल्ली का समीपवर्ती प्रांत था। संयोग पाकर खड़ी बोली पहेलियों, मुकरियों और ग्राम्य गीतों में आई। इस समय संस्कृत का गौरव बहुत कुछ लुप्त हो चुका था और मुस्लिम-संस्कृति के अणु तथा उनकी भाषा का रंग हमारी बोली पर अधिकाधिक चढ़ रहा था। वास्तव में उस समय की व्यवहृत भाषा का "हिंदी" नाम मुसलमानों-द्वारा ही दिया हुआ है। सर्वप्रथम खुसरो ने खड़ी बोली में पहेलियाँ गूँथ कर हिंदी को साहित्य में बरता। पंद्रहवीं शताब्दी में कबीर ने भी इसे अपनी कविता में स्थान दिया और उसकी व्यंजनाशक्ति बढ़ाई। किंतु अभी तक इस भाषा में गद्य का निर्माण नहीं के बराबर हुआ था। इस काल में प्रौढ़ गद्य का सृजन न हो सकने का एक कारण यह भी था कि इस समय तक किसी देश-व्यापी आंदोलन की चर्चा न चली थी, न समाज में उपदेश और वाद-विवाद का ही प्रचार दिखाई देता था। खड़ी बोली में अभी तक भावप्रकाशन का यथेष्ट बल भी न आया था। वास्तव में मनोविनोद ही साहित्योन्नति के समारंभ का हेतु बना। खड़ी बोली को आरंभ कहानी-कथाओं-द्वारा ही देखा गया है।

बहुत शीघ्र ही खड़ी बोली के क्षेत्र का विस्तार होने लगा। इसका

प्रसार उत्तर-भारत तक ही सीमित नहीं रहा, वरन् बंगाल, बिहार और दक्षिण में भी इसने द्रुतवेग से प्रवेश पाया। इसके प्रचार और विस्तार में देश की ऐतिहासिक घटनाओं ने असाधारण योग दिया। दिल्ली की अवनति, मरहठों के उत्कर्ष और फिर अँगरेज़ों के आगमन से इसके विकास के उपादान संगृहीत होते गए।

मुसलमानों की राजकीय सत्ता के छिन्न होते ही उत्तर और दक्षिण दोनों ही ओर से आक्रमण होने लगे और दिल्ली का शासन डगमगाने लगा। अहमदशाह दुर्रानी और मरहठों के आघातों से बचने के लिये दिल्ली और आगरा का वैभव खिसककर बंगाल और बिहार में जा टिका। इन मुसलमानों के साथ खड़ी बोली बहुत शीघ्र सुदूरपूर्व तक व्याप्त हो गई। इन्हीं दिनों अँगरेज़ों की भी बंगाल में प्रभुता और प्रधानता बढ़ रही थी। भारत और भारतीयों के जीवन में अँगरेज़ों ने ज्यों-ज्यों अपने अधिकारों का क्षेत्र-विस्तार किया, एक वैज्ञानिक युगांतर घटित होता गया। एक ओर वाणिज्य और व्यापार का विकास दृष्टिगत होता था; दूसरी ओर आवागमन के विभिन्न नवीन साधनों की उत्पत्ति होती जाती थी। मुद्रणकला का प्रचार सम्यक् रूप से हो ही चला था, अतः समाज में शिक्षित-समुदाय की वृद्धि हुई और गद्य-साहित्य की खपत होना अधिकाधिक सम्भव हो गया। अब भारतीय जनता विभिन्न वैज्ञानिक विषयों से उत्तरोत्तर परिचित हो रही थी; समाजशास्त्र, राजनीति, न्याय, अर्थशास्त्र, चिकित्साशास्त्र आदि विषयों की पुस्तकों की आवश्यकता स्पष्टतर हुई। साथ ही रेल, तार, डाकखानों आदि ने हमारे रहन-सहन, आचार-विचार में परि-

वर्त्तन पैदा कर दिया। इस नवीन युग के नितांत नवीन वायुमंडल में लोगों की साहित्यिक रुचि में उलट फेर होना स्वाभाविक था। लेखकों में पूर्वकालिक लक्षण-काव्य के प्रति उदासीनता एवं उपेक्षा के भाव उदित हुए और क्रमशः गद्य के समीचीन स्वरूप का कलेवर सँवारा जाने लगा।

इस समय समाज के प्रत्येक अंग में ऐहिक तथा जीवनोपयोगी साहित्य के लिये गद्य अपेक्षित था। अँगरेजों को भी पारस्परिक परिचय बढ़ाने के लिये बोलचाल की भाषा का आश्रय लेना पड़ा। ईसाइयत के प्रचार में भी खड़ी बोली ही उपयुक्त माध्यम थी। इस प्रकार खड़ी बोली सरल और आम-फ़हम होने के कारण मुसलमानों की भाँति अँगरेज़ों-द्वारा भी अपनाई गई। मुग़ल-दरबारियों के ही सदृश अँगरेज़ों को भी अपने वाणिज्य के उत्कर्ष में ईस्ट इंडिया कंपनी के लिये जो बाबू रखने पड़े उन्हें देश की प्रचलित भाषा खड़ी बोली में व्यवहार-कुशल होना अनिवार्य था। गद्य में विकास और शोधन के चिन्ह भी अब स्पष्ट हो रहे थे। उदाहरणार्थ—विरामादि चिन्हों के प्रयोग को लोग समझने लगे थे। और व्याकरण संबंधी नियम-बद्धता स्वीकृत हो रही थी।

प्रथम चार आचार्यों का सापेक्षिक योग—

चारों गद्यकारों का रचना-काल संवत् १८६० का समीपवर्त्ती है। इनमें से पूर्णतः मौलिक गद्य-लेखक इंशा साहब ही ठहरते हैं। आपकी शैली भी स्वतंत्र है। जिस प्रकार इनकी "रानी केतकी की कहानी" का कोई आधार-ग्रंथ न था, उसी तरह इनका आलेख भी किसी

पूर्ववर्त्ती के गद्य का अनुकरण नहीं कर रहा है। उसका वेष नितांत नवीन और चाल-ढाल निराली ही है; किंतु इसमें केवल मनोविनोद की ही सृजन-शक्ति थी, अतः एकांगी होने के कारण इसे हम प्रौढ़ गद्य का स्वरूप नहीं स्वीकार करते। इसी प्रकार लल्लूलालजी की रचना भी यद्यपि हिंदी-गद्य का प्रारंभिक साहित्यिक प्रयोग भले ही कहाता है किंतु इसमें व्यावहारिकता की कमी तथा समय से उलटे लौटने की प्रवृत्ति होने से हिंदी का बोधगम्य स्वरूप नहीं मिलता। आपकी शैली का प्रयोग सार्वभौमिक भी नहीं है। हाँ, मुंशी सदासुखलाल और सदल मिश्र की भाषा में हमें आधुनिक हिंदी का मूल स्वरूप लक्षित हो जाता है। मिश्रजी की शैली लल्लूलालजी को अपेक्षा अधिक गठीली और विशद भी है, व्यंजना और भावप्रकाशन की दृष्टि से वह अधिक सचिक्कण जँचती है। किंतु सदासुखलाल का आविर्भाव चूँकि मिश्रजी से पहले का है, तथा उनमें भाषा-संबंधी उपरोक्त गुणों के अतिरिक्त यह और महत्त्वपूर्ण विशेषता पाई जाती है कि आपने किसी अन्य के आदेशानुसार नहीं, प्रत्युत स्वांतःसुखाय ही अपनी लेखनी से 'भाखा' के लुप्त-प्राय प्रभाव को फिर से जागृत किया है—आपका स्थान अधिक महत्त्वशाली है। शैली की दृष्टि से भी मुंशीजी की भाषा सर्वत्र व्यवहारोपयोगी है, और इसमें आधुनिक गद्य का आदि-रूप प्रचुर मात्रा में देखने को मिल जाता है। अतएव सदासुखजी को हिंदी-गद्य के निर्माणकों में प्रथम स्थान देना चाहिए।

संवत् १८६० के लगभग हिंदी-गद्य की स्थापना तो हो गई, किंतु विकास का क्रम न आरंभ हो पाया। खड़ी बोली के इन अधिष्ठाताओं

के सत्प्रयास की प्रतिक्रिया बहुत दिनों बाद तक न देख पड़ी। गद्य रचना ने इसके बाद ही एक दीर्घ-काल-व्यापी निष्क्रियता का अवकाश ले लिया। सिपाही-विद्रोह (सं० १९१४) के आरंभ तक फिर कोई उल्लेखनीय गद्य का पता नहीं मिलता। विद्रोह के बाद जब देश का सामाजिक और राजनैतिक वायुमंडल बहुत कुछ परिवर्त्तित हो गया और साथ ही समाज के जीवन में कुछ स्थिरता आ गई तब हिंदी गद्य को परंपरागत साहित्य का स्वरूप और गौरव मिला। विगत ६० वर्षीय गद्य-क्षेत्र की निष्क्रियता के कारणों की ओर भी यहाँ संकेत कर देना प्रासंगिक जान पड़ता है।

लगातार ६० वर्ष तक गद्य के अभाव के कुछ कारण—

अँगरेज़ों ने अपने आरंभिक काल, आगमन के दिनों में भारतीय भाषा से परिचित होने के निमित्त हिंदी-लेखकों को प्रश्रय दिया था। उन्हें ईस्ट इंडिया कंपनी में बाबूगीरी तथा कालेज में अध्यापन-कार्य देकर उनसे हिंदी सीखी। जब उनका व्यापार-व्यवहार-संबंधी इस आवश्यकता की पूर्त्ति हो गई तो भाषाविद् गद्य-लेखकों का यह आधार लुप्त हो गया, ऐसी स्थिति में हिंदी-गद्य के विकास का यह द्वार भी बंद हो गया। इसके अतिरिक्त "नासिकेतोपाख्यान" और प्रेमसागर जैसी हिंदी की पुस्तकें जो गिलक्रिस्ट साहब के निर्देशानुसार लिखी गई थीं वे अँगरेज़ों को प्रभावित न कर सकीं। इन पुस्तकों द्वारा हमारी सांस्कृतिक अवस्था का बहुत बुरा चित्र उनको मिला। कंपनी के कर्मचारियों को अब अँगरेज़ी-शिक्षित बंगाली बाबुओं की आवश्यकता थी; अतः उन्होंने अँगरेज़ी पठन-पाठन का क्षेत्र तैयार करने

का प्रयास आरंभ कर दिया। मेकाले की शिक्षा-योजना को व्यापक रूप धारण करते ही अँगरेज़ी शिक्षा का प्रसार और आदर होने लगा। इस प्रकार हिंदी न अब अँगरेज़ों के संपर्क में जीविकोपार्जन का साधन थी और न किसी अन्य प्रतिष्ठित राजदरबार ही की साहित्यिक भाषा। अँगरेज़ों ने जब राज्य-विस्तार की ओर अपनी सारी शक्तियाँ लगा दीं तो देश में भी यत्र-तत्र राजनैतिक विपर्यय दृष्टिगत होने लगा। समाज में अशांत वातावरण प्रकट हो जाने से साहित्य-निर्माण का फिर सुयोग कहाँ? इन दिनों देश में कोई धार्मिक आंदोलन भी प्रचलित न था जो विषय के खंडन-मंडन करने तथा मतमतांतर को प्रकाश में लाने के लिये गद्य-ग्रंथ लिखे जाते। हाँ, ईसाइयत का प्रसार निर्बाध गति से बढ़ रहा था। ईसाई-धर्म-प्रचारकों ने अपने कार्य-संपादन में हिंदी से सहायता भी ली। बाइबिल का अनुवाद सुबोध भाषा में अवश्य हुआ, किंतु शासनकार्य तथा न्यायालयों की बोली तथा लिपि उर्दू और फ़ारसी ही थी। इस समय हिंदी खड़ी बोली का वह रूप विकसित हुआ जो उर्दू-लिपि में लिखा जाता था और जिसमें न केवल फ़ारसी और अरबी लिपि को ही प्रधानता रहती थी प्रत्युत उनके व्याकरण का भी हिंदी खड़ी बोली के साथ बेजोड़ मिलाप दिखाई देता था। खड़ी बोली का यह स्वरूप उर्दू-भाषा के नाम से विख्यात हो गया। यह उर्दू-भाषा कभी कभी हिंदी-लिपि में भी लिखी गई; किंतु कचहरियों में उर्दू-लिपि का ही अधिकार था। इस प्रकार उर्दू को प्रोत्साहन मिलने से जनता में भी उर्दू के प्रति अनुरक्ति बढ़ी। संवत् १८६० में दिल्ली से एक उर्दू-अख़बार प्रकाशित

हुआ। सारांश यह कि एक ओर तो मेकाले की शिक्षा-योजना के अनुसार अँगरेज़ी-शिक्षा के प्रचार से हिंदी को इस काल में धक्का लग रहा था, दूसरी ओर हिंदी के समक्ष उर्दू की उन्नति पहले प्रारंभ हो गई।

संवत् १९०२ में राजा शिवप्रसाद ने बनारस से "बनारस अखबार" निकाला। इसकी लिपि यद्यपि नागरी थी किंतु शब्द-भंडार उर्दू ही। इस समय उर्दू ही शिक्षित-वर्ग की खड़ी बोली हो रही थी।

राजा शिवप्रसाद ने पाठ्यक्रम के उपयोगी कहानियाँ लिखी हैं जैसे 'राजा भोज का सपना', 'वीरसिंह का वृत्तांत', 'आलसियों का कोड़ा' आदि। किंतु वे अपनी अस्वाभाविक 'आम-फ़हम' भाषा को समाज-प्रचलित रूप देने में असफल ही कहे जायँगे। देश की सांस्कृतिक वृत्तियाँ खड़ी बोली को इस परिवर्तित स्वरूप में अपने अंक में भला कैसे स्थान देतीं। लोगों को उसका यह परिवर्तन अखरा और राजा लक्ष्मणसिंह अपने पत्र 'प्रजा-हितैषी' को लेकर संमुख आए।

राजा लक्ष्मणसिंह के पत्र 'प्रजा-हितैषी' में भी 'अभिज्ञान-शाकुंतल' का अनुवाद शुद्ध और सरस हिंदी में प्रकाशित होता था। इसने हिंदी को सुधारने में प्रशंसनीय और महान् उद्योग किया। 'शकुंतला' की भाषा में हिंदी के ठेठ शब्दों के साथ, बहुत दिनों पहले से प्रचलित सरल, सरस संस्कृत-शब्दों का समावेश है। भाषा का शोधन जैसा कुछ आपके हाथों हुआ वह स्मरणीय रहेगा।

इसी समय स्वामी दयानंद आर्य-समाज की पताका लेकर अवतीर्ण हुए। अपने धार्मिक आंदोलन को लोक-व्यापी बनाते हुए उन्होंने हिंदी के भाषा-विषयक संघर्ष में अपना निजी स्थान बना लिया।

भारतेंदुजी अपनी असाधारण मेधा-शक्ति द्वारा साहित्याकाश में खूब चमके। आपके पिता बाबू गोपालचंद्र व्रजभाषा के बड़े कुशल लेखक तथा कवि थे। पिता द्वारा भारतेंदुजी को बाल्यावस्था में ही काव्यानुरक्ति हुई। सर्वप्रथम इनकी प्रतिभा ने कविता-कानन में ही विहार किया। युवाकाल में पदार्पण करते करते इन्होंने साहित्य के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अपनी छाप लगा दी। बँगला से रूपांतरित "विद्यासुंदर" नाटक आपकी पहली कृति है। इसके उपरांत आपने "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" शीर्षक एक मौलिक प्रहसन लिखा। फिर तो "कर्पूरमंजरी", "सत्य हरिश्चंद्र", "चंद्रावली नाटिका", "भारतदुर्दशा", "अंधेर नगरी", "नील देवी" आदि कई नाटकों का प्रणयन किया। ये नाटक ऐतिहासिक, पौराणिक और सामाजिक सभी वर्ग के हैं।

देश इस समय शिक्षा की ओर द्रुतवेग से अग्रसर हो रहा था। शिक्षितवर्ग की साहित्य के प्रति परिवर्धित अभिरुचि को निहारकर और संभवतः बँगला के नाटक-उपन्यासों की ओर दृष्टि डालकर ही उपर्युक्त नाटकों की रचना हुई। भारतेंदुजी ने अपने छोटे-से साहित्यिक जीवन में तीन पत्रिकायें निकालीं—"कविवचनसुधा" "हरिश्चंद्र मेग्ज़ीन" अथवा "हरिश्चंद्रचंद्रिका" और "बाला-बोधिनी"। आप स्त्री-शिक्षा के प्रबल पक्षपाती थे। "बाला-बोधिनी" का जन्म स्त्रियों में शिक्षा-प्रचार करने के ही उद्देश्य से हुआ था। इन्होंने इतिहास-विषयक पुस्तकें भी लिखीं। "काश्मीरकुसुम", "बादशाह दर्पण" लिख चुकने के बाद वे उपन्यास-रचना की ओर

झुके किंतु उनके शीघ्र परलोकगमन से कोई उपन्यास पूर्णरूप से देखने को न मिला।

भारतेंदुजी की प्रतिभा का विकास सर्वतोमुखी था। आपने भाषा और साहित्य दोनों का ही रूप सँवारा। काव्याराधन में संलग्न रहते हुए भी उन्होंने गद्य की भाषा का जैसा महत्त्वपूर्ण परिमार्जन किया है, वह वास्तव में उन्हीं का काम है। उनके नाटकों से हिंदी में एक नवीन क्षेत्र की स्थापना हुई। समाज का जीवन अब जिस प्रकार अधिक शिक्षित और सुसंस्कृत हो रहा था, साहित्य उतना उन्नत न हो पाया था। समाज से साहित्य पिछड़ रहा था। भारतेंदु के मौलिक नाटकों से जन-रुचि संतुष्ट हुई तथा समाज और साहित्य के मध्य संधि स्थिर हुई।

अनेक लोगों के मत से भारतेंदुजी ने गद्य की सेवा गौण-रूप से ही की है। उनका प्रधान व्यक्तित्व कवि और नाटककार का ही है; किंतु तब भी उनके नाटकों का गद्य उनकी हिंदी-विषयक सिद्धांतरूप से स्वीकृत-शैली का परिचायक है। उर्दू और संस्कृत दोनों के ही आवरण से हिंदी के वास्तविक परिधान की आपने रक्षा की है। हिंदी को राष्ट्रीय रंग से रँगने का संकल्प धारण किए हुए देशहितैषी भारतेंदुजी को राजा शिवप्रसाद की उर्दू-दानी अत्यंत हेय मालूम होती थी। इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने उर्दू को कोई स्थान दिया ही नहीं। भारतेंदु-सदृश व्यक्ति से भाषा-विषयक किसी प्रकार का पक्षपात संभव न था। आपने उर्दू-शब्दों का व्यवहार किया किंतु एक नवीन सुन्दरता से। उर्दू में प्रयुक्त

शब्दों को पहले आपने खड़ी बोली का हिंदी-स्वरूप दिया और अपनी हिंदी-विषयक राष्ट्रीय भावना की रक्षा करते हुए उनका व्यवहार किया। 'कफन', 'जाफत', 'खजाना' आदि शब्दों के नीचे आप बिंदु नहीं लगाते थे। इसी प्रकार संस्कृत के भी तत्सम शब्दों के स्थान पर आपने सुंदर तद्भव शब्द ही प्रयुक्त किए हैं, जैसे 'हिया', 'भलेमानुस', 'आपुस', 'लच्छन', 'आँचल', 'जोबन', 'अचरज' आदि। जिन बाहरी शब्दों को आपने मिलाया है वे आज हिंदी के निजी हो गए हैं। आपके इस सदुद्योग से हिंदी में स्थिरता के साथ-साथ समीचीनता आ गई। वास्तव में इस दृष्टि से भी आपका स्थान अत्यंत महान् है। उर्दू और संस्कृत के बीच संधि-स्थल बनाने में और इन दोनों शैली-विषयक प्रभावों में परस्पर ग्रंथि-बंधन करने में आप ही पूर्ण रूप से सफल हुए हैं। इन सब कारणों से हम कह सकते हैं कि भाषा का मार्जन जैसा कुछ भारतेंदुजी के हाथों हुआ है वैसा आपके पूर्ववर्त्ती अथवा समसामयिक साहित्यकारों में से किसी ने भी नहीं किया। आपकी लिखी हिंदी में शिष्टता और नागरिकता है; यहाँ हमें प्रतापनारायण मिश्र की-सी ग्रामीणता नहीं मिलती। नाटकों की भाषा सरस, भावमय, कोमल और सरल है।

भारतेंदुजी ने गद्य में काव्य का सौंदर्य लाकर एक नई प्रकार की सजीवता प्रवाहित की है जिसके द्वारा जनसाधारण की रुचि उर्दू से हट-कर हिन्दी की ओर आकृष्ट हुई। आपने ही सर्वप्रथम गद्य की भाषा में हास्य के साथ व्यंग का पुट दिया। भावों की सम्यक् व्यंजना के साथ हास्य और व्यंग की बानगी इनकी शैली में मिलती है। अस्तु,

आपकी भाषा में पहली बार वे सब लक्षण देखने को मिले जो आधुनिक गद्य के जीवनदायक अणु कहलायेंगे। आपकी शैली में भावोद्वेग है और गंभीरता भी, हाँ, तथ्य-निरूपण करते समय उसमें प्रौढ़ता के साथ क्लिष्टता भी आ गई है। इनकी शैली की यह विशेषता है कि वह सरस, परिमार्जित और सहृदय होते हुए देश काल के सर्वथा अनुकूल है।

"हरिश्चंद्री हिंदी" और भारतेंदुजी के संपर्क ने कई लेखक और कवि उत्पन्न किये। इन मित्रों और सहयोगियों का एक खासा 'हरिश्चंद्र-मंडल' बन गया। राजनैतिक उलटफेर के पश्चात् देश में जो सामयिक-सामाजिक परिवर्तन की बयार बही और उसके प्रभाव से देश की भाषा, भाव, रुचि आदि में एक नवीनता के साथ साथ शिक्षित वर्ग की भावनाओं में जो राष्ट्रीयता उदित हुई इन सबका सम्यक् आधार 'हरिश्चंद्र मंडली' के ज़िन्दा दिल लेखकों की लेखनी का ही कौशल है।

हरिश्चंद्र मंडली के बाद के लेखक अपना-अपना निजी स्थान रखते हैं। उनका विवेचन करके इस भूमिका का कलेवर नहीं बढ़ाया है।

आज का हिंदी गद्य बिलकुल एक नये ढंग की परिपाटी लेकर उतरा है। उसकी व्यापकता बहुत बढ़ गई है। प्रत्येक लेखक की समीक्षा लेख के पूर्व संक्षेप में कर दी गई है।

हिन्दी-गद्य-दर्पण

कवि और कविता

(लेखक—स्वर्गीय श्री पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी)

[स्व० आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी दौलतपुर ज़िला रायबरेली के रहने वाले हैं। आपका जन्म-काल सं० १९२१ है। स्कूली शिक्षा समाप्त करने पर आपने रेलवे विभाग में कुछ दिन तक काम किया, यहाँ रहते हुए भी आप हिंदी में सदैव लेख लिखा करते, और कविता किया करते थे। पर आपका जन्म रेलवे की नहीं, वरन् साहित्य की सेवा करने के लिए हुआ था। आपने रेलवे की नौकरी छोड़कर 'सरस्वती' का संपादन प्रारंभ किया। उस समय हिंदी लिखने की ओर लोगों का कम ध्यान था। इने-गिने लेखक थे, गद्य-शैली भी परिमार्जित न हुई थी, भाषा भी पूर्णतया व्याकरण-संगत न हो सकी थी। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के द्वारा भाषा को व्याकरण-संगत बनाया। विद्वानों को हिंदी के लिखने तथा पाठकों को पढ़ने की ओर आकर्षित किया। अपनी जोरदार लेखनी से साहित्य के कूड़े-करकट को दूर किया। आप के ही प्रोत्साहन से आज खड़ी बोली की कविता इतनी उन्नत दिखाई पड़ रही है। आपके लिखित तथा अनुवादित ग्रंथों की संख्या ४० के लगभग है।

हिंदी के वर्तमान गद्य-लेखकों में द्विवेदी जी का पद महान् और असाधारण महत्त्व का है। द्विवेदी जी के आविर्भूत होते ही हिंदी का नव-युग आरंभ होता है। आपकी हिंदी के प्रति सेवाओं में गुरुत्व का दर्शन है। अपने दीर्घकालीन साहित्यक जीवन में द्विवेदी जी ने लेखकों की वृद्धि और लेख्य विषयों का विस्तार किया। आपने अपनी विभिन्न शैलियों द्वारा अनेक लेखकों की शैलियों का सृजन और मार्जन किया था। द्विवेदी

जी संस्कृत के प्रकांड पंडित और अन्य अनेक भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। आप विज्ञानादि विभिन्न विषयों के बहुज्ञ समझे जाते थे। "सरस्वती" के आदि-संपादक के पद से आपने हिंदी की स्मरणीय सेवायें की हैं। हिंदी में गणेशशंकर विद्यार्थी प्रभृति कुशल पत्र-संपादकों ने द्विवेदी जी का ही शिष्यत्व ग्रहण कर और उनके निर्देशित मार्ग पर आरूढ़ होकर संपादकीय गौरव पाया। गंभीर लेखों से लेकर वर्णनात्मक कहानियों तक तथा काव्य में भी आपका अलग एक उच्च आसन है। आपने अपने आदर्श संपादकीय जीवन से एक संपादक के कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व की परिभाषा रच दी थी। आपकी सेवायें एकदेशीय नहीं बहुत व्यापक हैं। वर्त्तमान हिंदी-संसार द्विवेदी जी से अत्यधिक प्रभावित है और उन्हें आचार्यपद से विभूषित कर संतोष पाता है। सन् १९३३ में प्रयाग में आपके संमानार्थ साहित्यिकों का एक मेला हुआ था। इस द्विवेदी-अभिनंदन मेले में आचार्य ने जो भाषण दिया था वह हिंदी-प्रेमियों को स्मरण रहेगा। इंडियन प्रेस, प्रयाग से "द्विवेदी-अभिनंदन ग्रंथ" नामक एक वृहद् ग्रंथ भी अभी प्रकाशित हुआ है, इसे काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने द्विवेदी जी को भेंट किया है।

साहित्य-क्षेत्र में उतरते ही द्विवेदी जी भाषा की अपांगता, स्थूलता और शिथिलता का परिहार करने में लग गए थे। पहले प्रायः सभी गद्य-लेखक व्याकरण के नियमों की अवहेलना करते चले आते थे। आपने अपने प्रबल आंदोलन और परिश्रम से भाषा की इस अनगढ़ता को दूर किया था। आपके प्रयास से ही हिंदी-लेखकों ने भाषा में व्याकरण-संबंधी भूलें करना बंद किया, और वे अपनी अपनी शैली का भी नियंत्रण करने लगे। आचार्य की भाषा में ओज है, उसमें विचारों की व्यंजना की रीति हृदय-ग्राही और बोधगम्य है। विषय को अत्यधिक सरल और स्पष्ट कर देना आपकी शैली की विशेषता है। आपके वाक्यों में विषय-विवेचन का सुंदर और क्रमबद्ध सामंजस्य रहता है। द्विवेदी जी ने छोटी मोटी अनेक पुस्तकें और सैकड़ों फुटकर लेख लिखे, और बहुत-से अनुवाद किए।

सन् १९०३ में आपने "सरस्वती" का संपादन आरंभ किया था, तब से आपकी विभिन्न-विषयक रचनायें जैसे निबंध, आलोचना, स्त्रियोपयोगी और बालोपयोगी पुस्तकें हिंदी का भंडार भरती रहीं। आरंभ में आप कवितायें भी सुंदर लिखते थे और बुढ़ापे तक संस्कृत के श्लोक रचते थे।

आपकी शैली एक नहीं है। गूढ़ विषयों का निदर्शन करते समय आपकी भाषा का वेश साधु और गति संयत रहती थी। इस गति में स्थिरता और तरल सरलता का प्रवाह रहता था। आचार्य की ही भाँति आप विषय को स्पष्ट करते हुए लिखते थे। आलोचना करते समय आपके वाक्य तीव्र कटाक्ष करते थे। आपका व्यंग चटपटा न होकर भी चुटीला होता था। शब्द-चयन सदैव उपयुक्तता का अपेक्षित रहता था; उसमें अँगरेजी के शब्द भी हमको मिलते हैं, फ़ारसी और संस्कृत के भी। संस्कृत शब्दों के तत्सम और तद्भव दोनों ही रूपों का प्रयोग रहता है। आपका कथन था कि शिक्षित-समुदाय में शिष्ट संभाषण की भाषा ही साहित्य की भाषा है। आपने सरल भाषा में वर्णित विषय को सुबोध बनाने का पांडित्य दिखाया है। आचार्य द्विवेदी जी के संमान में इससे अधिक और कुछ नहीं कहा जा सकता कि अब तक उनके पूर्व के जितने गद्य-लेखक हुए हैं, उनकी समूची साहित्यिक कृतियाँ यदि आज किसी भी विज्ञ संपादक द्वारा संपादित कराई जायें तो उनमें अधिकांश परिवर्त्तित हो जायगा, परंतु आचार्य के बायें हाथ से लिखे लेख पर भी किसी को क़लम उठाने का साहस नहीं होगा।]

यह बात सिद्ध समझी गई है कि कविता अभ्यास से नहीं आती। जिसमें कविता करने का स्वाभाविक माद्दा होता है वही कविता कर सकता है। देखा गया है कि जिस विषय पर बड़े बड़े विद्वान् अच्छी कविता नहीं कर सकते उसी पर अपढ़ और कम उम्र के लड़के कभी कभी अच्छी कविता लिख देते हैं। इससे स्पष्ट है कि किसी किसी में कविता लिखने की

इस्तेदाद स्वाभाविक होती है, ईश्वरदत्त होती है। जो चीज ईश्वरदत्त है वह अवश्य लाभदायक होगी। वह निरर्थक नहीं हो सकती। उससे समाज को अवश्य कुछ न कुछ लाभ पहुँचता है।

कविता यदि यथार्थ में कविता है तो संभव नहीं कि उसे सुन कर सुननेवाले पर कुछ असर न हो। कविता से दुनिया में आज तक बहुत बड़े बड़े काम हुए हैं। अच्छी कविता सुन कर कवितागत रस के अनुसार, दुःख, शोक, क्रोध, करुणा, जोश आदि के भाव पैदा हुए बिना नहीं रहते और जैसा भाव मन में पैदा होता है, कार्य के रूप में फल भी वैसा ही होता है। हम लोगों में, पुराने जमाने में भाट, चारण आदि अपनी कविता ही की बदौलत वीरों में वीरता का संचार कर देते थे। पुराणादि में कारुणिक प्रसंगों का वर्णन सुनने और उत्तररामचरित आदि दृश्य काव्यों का अभिनय देखने से जो अश्रुपात होने लगता है वह क्या है? वह अच्छी कविता ही का प्रभाव है।

रोम, इंगलैंड, अरब, फ़ारस आदि देशों में इस बात के सैकड़ों उदाहरण मौजूद हैं कि कवियों ने असंभव बातें संभव कर दिखाई हैं। जहाँ पस्तहिम्मती का दौरदौरा था वहाँ गदर मचा दिया है। अतएव कविता एक असाधारण चीज है परन्तु बिरले ही को सत्कवि होने का सौभाग्य प्राप्त होता है। जब तक ज्ञान-वृद्धि नहीं होती, जब तक सभ्यता का जमाना नहीं आता, तभी तक कविता में परस्पर विरोध है। सभ्यता और विद्या की वृद्धि होने से कविता का असर कम हो जाता है।

कविता में कुछ न कुछ झूठ का अंश जरूर रहता है।

असभ्य अथवा अर्द्धसभ्य लोगों को यह अंश कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगों को बहुत। तुलसीदास की रामायण के खास खास स्थलों का स्त्रियों पर जितना प्रभाव पड़ता है, उतना पढ़े-लिखे आदमियों पर नहीं। पुराने काव्यों को पढ़ने से लोगों का चित्त जितना पहले आकृष्ट होता था उतना अब नहीं होता। हजारों वर्षों से कविता का क्रम जारी है। जिन प्राकृतिक बातों का वर्णन बहुत कुछ अब तक हो चुका है, जो नए कवि होते हैं वे भी उलट-फेर से प्रायः उन्हीं बातों का वर्णन करते हैं। इसी से अब कविता कम हृदय-ग्राहिणी होती है।

संसार में जो बात जैसी देख पड़े, कवि को उसे वैसी ही वर्णन करनी चाहिये। उसके लिये किसी तरह की रोक या पाबन्दी का होना अच्छा नहीं। दबाव से कवि का जोश दब जाता है। उसके मन में जो भाव आप ही आप पैदा होते हैं उन्हें जब वह निडर होकर अपनी कविता में प्रकट करता है तभी उसका पूरा पूरा असर लोगों पर पड़ता है। बनावट से कविता बिगड़ जाती है। किसी राजा या किसी व्यक्ति-विशेष के गुण-दोषों को देखकर कवि के मन में जो भाव उद्भूत हों उन्हें यदि वह बेरोक-टोक प्रकट कर दे तो उसकी कविता हृदय-द्रावक हुए बिना न रहे, परन्तु परतंत्रता या पुरस्कार-प्राप्ति या और किसी तरह की रुकावट के पैदा हो जाने से, यदि उसे अपने मन की बात कहने का साहस नहीं होता तो कविता का रस जरूर कम हो जाता है। इस दशा में अच्छे कवियों की भी कविता नीरस, अतएव प्रभावहीन हो जाती है।

सामाजिक और राजनैतिक विषयों में कटु होने से सच

कहना भी जहाँ मना है वहाँ इन विषयों पर कविता करनेवाले कवियों की उक्तियों का प्रभाव क्षीण हुए बिना नहीं रहता। कवि के लिये कोई रोक न होनी चाहिये। अथवा जिस विषय में रोक हो उस विषय पर कविता ही न लिखनी चाहिये। नदी, तालाब, वन, पर्वत, फूल, पत्ती, गरमी, सरदी आदि ही के वर्णन से उसे संतोष करना उचित है।

खुशामद के जमाने में कविता की बुरी हालत होती है, जो कवि राजाओं नवाबों या बादशाहों के आश्रय में रहते हैं, अथवा उनको खुश करने के इरादे से कविता करते हैं, उनको खुशामद करनी पड़ती है, वे अपने आश्रयदाताओं की इतनी प्रशंसा करते हैं, इतनी स्तुति करते हैं कि उनकी उक्तियाँ असलियत से दूर जा पड़ती हैं। इससे कविता को बहुत हानि पहुँचती है। विशेष करके शिक्षित और सभ्य देशों में कवि का काम प्रभावोत्पादक रीति से यथार्थ घटनाओं का वर्णन करना है, आकाश-कुसुमों के गुलदस्ते तैयार करना नहीं। अलंकारशास्त्र के आचार्य्यों ने अतिशयोक्ति एक अलंकार ज़रूर माना है, परंतु अभावोक्तियाँ भी क्या कोई अलंकार है? किसी कवि की बेसिर-पैर की बातें सुनकर किस समझदार आदमी को आनंद प्राप्त हो सकता है? जिस समाज के लोग अपनी झूठी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होते हैं वह समाज प्रशंसनीय नहीं समझा जाता।

कारणवश अमीरों की प्रशंसा करने, अथवा किसी एक ही विषय की कविता में कवि-समुदाय के आजन्म लगे रहने से, कविता की सीमा कट-छँटकर बहुत थोड़ी रह जाती है। इस तरह की कविता उर्दू में बहुत अधिक है। यदि यह कहें कि

आशिकाना (शृंगारिक) कविता के सिवा और तरह की कविता उर्दू में है ही नहीं, तो बहुत बड़ी अत्युक्ति न होगी। किसी दीवान को उठाइये, आशिक-माशूकों के रंगीन रहस्यों से आप उसे आरंभ से अंत तक रँगा हुआ पाइयेगा।

इश्क भी यदि सच्चा हो तो कविता में कुछ असलियत आ सकती है, पर क्या कोई कह सकता है कि आशिकाना शेर कहनेवालों का सारा रोना, कराहना, ठंढी साँसें लेना, जीते ही अपनी कब्रों पर चिराग़ जलाना सब सच है? सब न सही, उनके प्रलापों का क्या थोड़ा सा भी अंश सच है? फिर क्यों इस तरह की कविता सैकड़ों वर्ष से होती आ रही है। अनेक कवि हो चुके हैं जिन्होंने इस विषय पर न मालूम क्या क्या लिख डाला है। इस दशा में नए कवि अपनी कविता में नयापन कैसे ला सकते हैं? वही तुक, वही छंद, वही शब्द, वही उपमा, वही रूपक! इस पर भी लोग पुरानी ही लकीर को बराबर पीटते जाते हैं। कवित्त, सवैये, घनाक्षरी, दोहे, सोरठे लिखने से बाज़ नहीं आते। नख-शिख, नायिका-भेद, अलंकारशास्त्र पर पुस्तकों पर पुस्तकें लिखते चले जाते हैं। अपनी व्यर्थ की बनावटी बातों से देवी-देवताओं तक को बदनाम करने से नहीं सकुचाते। फल इसका यह हुआ है कि असलियत काफ़ूर हो गई है।

कविता के बिगड़ने और उसकी सीमा के परिमित हो जाने से साहित्य पर भारी आघात होता है। वह बरबाद हो जाता है। भाषा में दोष आ जाता है। जब कविता की प्रणाली बिगड़ जाती है तब उसका असर सारे ग्रंथकारों पर पड़ता है। यही क्यों, सर्वसाधारण की बोल-चाल तक में कविता के दोष आ

जाते हैं। जिन शब्दों, जिन भावों, जिन उक्तियों का प्रयोग कवि करते हैं उन्हीं का प्रयोग और लोग भी करने लगते हैं। भाषा और बोलचाल के संबंध में कवि ही प्रमाण माने जाते हैं। कवियों ही के प्रयुक्त शब्दों और मुहावरों को कोषकार अपने कोषों में रखते हैं। मतलब यह कि भाषा और बोलचाल का बनाना या बिगाड़ना प्रायः कवियों ही के हाथ में रहता है। जिस भाषा के कवि अपनी कविता में बुरे शब्द और बुरे भाव भरते रहते हैं उस भाषा की उन्नति तो होती ही नहीं उलटे अवनति होती जाती है।

कविता-प्रणाली के बिगड़ जाने पर यदि कोई नए तरह की स्वाभाविक कविता करने लगता है तो लोग उसकी निंदा करते हैं। कुछ नासमझ और नादान आदमी कहते हैं कि यह बड़ी भद्दी कविता है। कुछ कहते हैं कि यह कविता ही नहीं। कुछ कहते हैं कि यह कविता तो "छंदप्रभाकर" में दिए गए लक्षणों से च्युत है, अतएव यह निर्दोष नहीं। बात यह है कि वे जिसे अब तक कविता कहते आए हैं वही उनकी समझ में कविता है और सब कोरी काँव काँव ?

इसी तरह की नुक़ता-चीनी से तंग आकर अँगरेज़ी के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ ने अपनी कविता को संबोधन करके उसकी सांत्वना की है। वह कहता है—"कविते ! यह बेक़दरी का ज़माना है। लोगों के चित्त का तेरी तरफ़ खिंचना तो दूर रहा, उलटे सब कहीं तेरी निंदा होती है। तेरी बदौलत सभा-समाजों और जलसों में मुझे लज्जित होना पड़ता है, पर जब मैं अकेला होता हूँ तब तुझ पर मैं घमंड करता हूँ। याद रख, तेरी उत्पत्ति

स्वाभाविक है। जो लोग अपने प्राकृतिक बल पर भरोसा रखते हैं वे निर्धन होकर भी आनंद से रह सकते हैं, पर अप्राकृतिक बल पर किया गया गर्व कुछ दिन बाद ज़रूर चूर्ण हो जाता है।" गोल्डस्मिथ ने इस विषय पर बहुत कुछ कहा है। इससे प्रकट है कि नई कविता-प्रणाली पर भृकुटी टेढ़ी करनेवाले कवि-प्रकांडों के कहने की कुछ भी परवा न करके अपने स्वीकृत पथ से ज़रा भी इधर-उधर होना उचित नहीं।

आज-कल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज़ समझ रक्खा है। यह भ्रम है। कविता और पद्य में वह भेद है जो 'पोइट्री' (Poetry) और 'वर्स' (Verse) में है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरंजक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है, और नियमानुसार तुली हुई सतरों का नाम पद्य है। जिस पद्य के पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता वह कविता नहीं। वह नपी-तुली हुई शब्द-स्थापना-मात्र है। गद्य और पद्य दोनों में कविता हो सकती है। तुकबंदी और अनुप्रास कविता के लिये अपरिहार्य नहीं, और संस्कृत का प्रायः सारा पद्य-समूह बिना तुकबंदी का है, देखो संस्कृत से बढ़कर कविता शायद ही किसी भाषा में हो।

अरब में भी सैकड़ों अच्छे-अच्छे कवि हो गए हैं। वहाँ भी शुरू-शुरू में तुकबंदी का बिलकुल ख्याल नहीं था। अँगरेजी में भी अनुप्रास-हीन बेतुकी कविता होती है, हाँ एक बात जरूर है कि वजन और क़ाफ़िये से कविता अधिक चित्ताकर्षक हो जाती है पर कविता के लिये ये बातें ऐसी हैं जैसे कि शरीर के लिये वस्त्राभरण।

यदि कविता का प्रधान धर्म मनोरंजकता और प्रभावोत्पादकता उसमें न हो तो इनका होना निष्फल ही समझना चाहिये। पद्य के लिये क़ाफ़िये वग़ैरह की जरूरत है, कविता के लिये नहीं। कविता के लिये तो ये बातें एक प्रकार से उलटी हानिकारक हैं। तुले हुए शब्दों में कविता करने और तुक, अनुप्रास आदि के ढूँढ़ने से कवियों के विचार-स्वातंत्र्य में बड़ी बाधा आती है। पद्य के नियम कवि के लिये एक प्रकार की बेड़ियाँ हैं। उनसे जकड़ जाने से कवियों को अपनी स्वाभाविक उड़ान में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कवि का काम है कि वह अपने मनोभावों को स्वाधीनता-पूर्वक प्रकट करे। पर क़ाफ़िये और वजन उसकी स्वाधीनता में विघ्न डालते हैं। वे उसे अपने भावों को स्वतंत्रता से नहीं प्रकट करने देते। क़ाफ़िये और वजन के परले ढूँढ़कर कवि को अपने मनोभाव तदनुकूल गढ़ने पड़ते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि प्रधानता को अप्रधानता प्राप्त हो जाती है, और एक बहुत ही गौण बात प्रधानता के आसन पर जा बैठती है। फल यह होता है कि कवि की कविता का असर ही जाता रहता है।

जो बात एक असाधारण और निराले ढंग से शब्दों के द्वारा इस तरह प्रकट की जाय कि सुननेवालों पर उसका कुछ न कुछ असर जरूर पड़े, उसका नाम कविता है। आज-कल हिंदी के पद्य-रचयिताओं में कुछ ऐसे भी हैं जो अपने पद्यों को कालिदास, होमर और बाइरन की कविता से भी बढ़कर समझते हैं, कुछ सम्पादक के ख़िलाफ नाटक, प्रहसन और व्यंगपूर्ण लेख प्रकाशित करके अपने जी की जलन शांत करते हैं।

कवि का सब से बड़ा गुण नई नई बातों का सूझना है। उसके लिये कल्पना या इमैजिनेशन (Imagination) की बड़ी ज़रूरत है। जिसमें जितनी ही अधिक यह शक्ति होगी वह उतनी ही अच्छी कविता कर सकेगा। कविता के लिये उपज चाहिये। नए नए भावों की उपज जिसके हृदय में नहीं वह कभी अच्छी कविता नहीं कर सकता। ये बातें प्रतिभा की बदौलत होती हैं, इसी लिये संस्कृतवालों ने प्रतिभा ही को प्रधानता दी है। प्रतिभा ईश्वरदत्त होती है, अभ्यास से वह नहीं प्राप्त होती, इस शक्ति को कवि माँ के पेट के लेकर पैदा होता है। इसी की बदौलत वह भूत और भविष्यत् को हस्तामलकवत् देखता है। वर्तमान की तो कोई बात ही नहीं। इसी की कृपा से वह सांसारिक बातों को एक अजीब निराले ढंग से बयान करता है, जिसे सुन कर सुननेवाले के हृदयोदधि में नाना प्रकार के सुख, दुःख, आश्चर्य आदि विकारों की लहरें उठने लगती हैं। कवि कभी ऐसी अद्भुत-अद्भुत बातें कह देते हैं कि जो कवि नहीं हैं उनकी पहुँच वहाँ तक कभी हो ही नहीं सकती।

कवि का काम है कि वह प्रकृति-विकास को खूब ध्यान से देखे। प्रकृति की लीला का कोई ओर-छोर नहीं, वह अनंत है। प्रकृति अद्भुत-अद्भुत खेल खेला करती है। एक छोटे से फूल में वह अजीब-अजीब कौशल दिखलाती है। वे साधारण आदमियों के ध्यान में नहीं आते। वे उनको समझ नहीं सकते, पर कवि अपनी सूक्ष्म दृष्टि से प्रकृति के कौशल अच्छी तरह से देख लेता है, उनका वर्णन भी वह करता है, उनसे नाना प्रकार की

शिक्षायें भी ग्रहण करता और अपनी कविता के द्वारा संसार को लाभ पहुँचाता है। जिस कवि में प्राकृतिक दृष्टि और प्रकृति के कौशल के देखने और समझने का जितना ही अधिक ज्ञान होता है वह उतना ही बड़ा कवि भी होता है।

प्रकृति-पर्यालोचना के सिवा कवि को मानव-स्वभाव की आलोचना का भी अभ्यास करना चाहिये। मनुष्य अपने जीवन में अनेक प्रकार के सुख, दुःख आदि का अनुभव करता है। उसकी दशा कभी एक सी नहीं रहती। अनेक प्रकार की विकार-तरंगें उसके मन में उठा सी करती हैं। इन विकारों की जाँच, ज्ञान का अनुभव करना सब का काम नहीं। केवल कवि ही इनका अनुभव कराने में समर्थ होता है।

जिसे कभी पुत्र शोक नहीं हुआ उसे उस शोक का यथार्थ ज्ञान होना संभव नहीं। पर यदि वह कवि है तो वह पुत्र-शोकाकुल पिता या माता की आत्मा में प्रवेश सा करके उसका अनुभव कर लेता है। उस अनुभव का वह इस तरह वर्णन करता है कि सुननेवाला तन्मनस्क होकर उस दुःख से द्रवीभूत हो जाता है। उसे ऐसा मालूम होने लगता है कि स्वयं उसी पर वह दुःख पड़ रहा है। जिस कवि को मनोविकारों और प्राकृतिक बातों का यथेष्ट ज्ञान नहीं होता वह कदापि अच्छा कवि नहीं हो सकता।

कविता को प्रभावोत्पादक बनाने के लिये उचित शब्द-स्थापना की भी बड़ी ज़रूरत है। किसी मनोविकार या दृश्य के वर्णन में ढूँढ़-ढूँढ़कर ऐसे शब्द रखने चाहिये जो सुननेवालों की आँखों के सामने वर्ण्य-विषय का एक चित्र सा खींच दें। मनोभाव चाहे कैसा ही अच्छा क्यों न हो, यदि वह तदनुकूल शब्दों में

न प्रकट किया गया, तो उसका असर यदि जाता नहीं रहता, तो कम जरूर हो जाता है। इसी लिये कवि को चुन-चुनकर ऐसे शब्द रखने चाहिये, और इस क्रम से रखना चाहिये, जिससे उसके मन का भाव पूरे तौर पर व्यक्त हो जाय, उसमें कसर न पड़े।

मनोभाव शब्दों ही के द्वारा व्यक्त होता है। अतएव सयुक्ति शब्द-स्थापना के बिना कविता तादृश हृदय-हारिणी नहीं हो सकती। जो कवि अच्छी शब्द-स्थापना करना नहीं जानता, अथवा यों कहिये कि जिसके पास काफी शब्द-समूह नहीं, उसे कविता करने का परिश्रम ही न करना चाहिये। जो सुकवि हैं उन्हें एक एक शब्द की योग्यता ज्ञात रहती है, वे खूब जानते हैं कि किस शब्द में क्या प्रभाव है। अतएव जिस शब्द में उनके भाव को प्रकट करने की एक बाल भर भी कमी होती है, उसका वे कभी प्रयोग नहीं करते।

अँगरेजी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने कविता के तीन गुणों का वर्णन किया है। उनकी राय है कि कविता सादी हो, जोश से भरी हो, और असलियत से गिरी हुई न हो। सादगी से यह मतलब नहीं कि सिर्फ शब्द-समूह ही सादा हो किंतु विचार-परंपरा भी सादी हो। भाव और विचार ऐसे सूक्ष्म और छिपे हुए न हों कि उनका मतलब समझ में ही न आवे, या देर से समझ में आवे। यदि कविता में कोई ध्वनि हो तो इतनी दूर की न हो कि उसे समझने में गहरे विचार की जरूरत हो।

कविता पढ़ने या सुननेवाले को ऐसी साफ-सुथरी सड़क बनानी चाहिये जिस पर कंकड़, पत्थर, टीले, खंदक, काँटे और

झाड़ियों का नाम भी न हो। वह खूब साफ और हमवार हो, जिससे उस पर चलनेवाला आराम से चला जाय। जिस तरह सड़क के जरा भी ऊँची-नीची होने से पैरगाड़ी के सवार को दचके लगते हैं, उसी तरह कविता की सड़क यदि थोड़ी सी भी नाहमवार हुई तो पढ़नेवाले के हृदय पर धक्का लगे बिना नहीं रहता। कविता रूपी सड़क के इधर-उधर स्वच्छ पानी के नदी-नाले बहते हों, दोनों तरफ फलों-फूलों से लदे हुए पेड़ हों, जगह जगह पर विश्राम करने योग्य स्थान बने हों, प्राकृतिक दृश्य की नई-नई झाँकियाँ आँखों को लुभाती हों।

दुनिया में आज तक जितने अच्छे अच्छे कवि हुए हैं उनकी कविता ऐसी ही देखी गई है। अटपटे भावों और अटपटे शब्दों का प्रयोग करनेवाले कवियों की कभी कद्र नहीं हुई। यदि कभी किसी की कुछ हुई भी है तो थोड़े ही दिन तक। ऐसे कवि विस्मृति के अंधकार में ऐसे छिप गए हैं कि इस समय उनका कोई नाम तक नहीं जानता। एक-मात्र सूखा शब्द-झंकार ही जिन कवियों की करामात है उन्हें चाहिये कि वे एकदम ही बोलना बंद कर दें।

भाव चाहे कैसा ही ऊँचा क्यों न हो, उसे पेचीदा न होना चाहिये। वह ऐसे शब्दों के द्वारा प्रकट किया जाना चाहिये जिनसे सब लोग परिचित हों। क्योंकि कविता की भाषा बोल-चाल से जितनी ही अधिक दूर जा पड़ती है उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। बोलचाल से मतलब उस भाषा से है जिसे खास और आम सब बोलते हैं, विद्वान् और अविद्वान् दोनों काम में लाते हैं। इसी तरह कवि को मुहावरे

का भी ख्याल रखना चाहिये। जो मुहावरा सर्व-सम्मत है उसी का प्रयोग करना चाहिये। हिंदी और उर्दू में कुछ शब्द अन्य भाषाओं के भी आ गए हैं। वे यदि बोलचाल के हैं तो उनका प्रयोग सदोष नहीं माना जा सकता। उन्हें त्याज्य नहीं समझना चाहिये। कोई-कोई ऐसे शब्दों को मूलरूप में लिखना ही सही समझते हैं, पर यह उनकी भूल है।

असलियत से यह मतलब नहीं कि कविता एक प्रकार का इतिहास समझा जाय और हर बात में सचाई का ख्याल रक्खा जाय। यह नहीं कि सचाई की कसौटी पर कसने से यदि कुछ भी कसर मालूम हो तो कविता का कवितापन जाता रहे। असलियत से सिर्फ इतना ही मतलब है कि कविता बेबुनियाद न हो। उसमें जो उक्ति हो वह मानवीय मनोविकारों और प्राकृतिक नियमों के आधार पर कही गई हो। स्वाभाविकता से उसका लगाव छूटा न हो। कवि यदि अपनी या और किसी की तारीफ करने लगे और यदि वह उसे सचमुच ही समझे, अर्थात् यदि उसकी भावना वैसी ही हो, तो वह भी असलियत से खाली नहीं, फिर चाहे और लोग उसे उसका उलटा ही क्यों न समझते हों।

परंतु इत बातों में भी स्वाभाविकता से दूर न जाना चाहिये, क्योंकि स्वाभाविक अर्थात् नेचुरल (Natural) उक्तियाँ ही सुननेवाले के हृदय पर असर कर सकती हैं, अस्वाभाविक नहीं। असलियत को लिए हुए कवि स्वतंत्रतापूर्वक जो चाहे कह सकता है। असल बात को एक नए साँचे में ढालकर कुछ दूर तक इधर-उधर को उड़ान भी कर सकता है पर असलियत के लगाव

को वह नहीं छोड़ता। असलियत को हाथ से जाने देना मानो कविता को प्रायः निर्जीव कर डालना है।

शब्द और अर्थ दोनों ही के संबंध में उसे स्वाभाविकता का अनुसरण करना चाहिये। जिस बात के कहने में लोग स्वाभाविक रीति पर जैसे और जिस क्रम से शब्दों का प्रयोग करते हैं वैसे ही कवि को भी करना चाहिये। कविता में उसे कोई बात ऐसी न कहनी चाहिये जो दुनिया में न होती हो। जो बातें हमेशा हुआ करती हैं अथवा जो बातें संभव हैं, वे ही स्वाभाविक हैं। अर्थ की स्वाभाविकता से मतलब ऐसी ही बातों से है।

जोश से यह मतलब है कि कवि जो कुछ कहे इस तरह कहे मानों उसके प्रयुक्त शब्द आप ही आप उसके मुँह से निकल गए हैं। उनसे बनावट न जाहिर हो। यह न मालूम हो कि कवि ने कोशिश करके ये बातें कही हैं, किंतु यह मालूम हो कि उसके हृद्गत भावों ने कविता के रूप में अपने को प्रकट कराने के लिये उसे विवश किया है। जो कवि है उसमें जोश स्वाभाविक हो जाता है।

वर्ण्य-वस्तु को देखकर किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से वह उस पर कविता करने के लिये विवश सा हो जाता है। उसमें एक अलौकिक शक्ति पैदा हो जाती है। इसी शक्ति के बल से वह सजीव ही नहीं, निर्जीव चीजों तक का वर्णन ऐसे प्रभावोत्पादक ढंग से करता है कि यदि उन चीजों में बोलने की शक्ति होती तो खुद वे भी उससे अच्छा वर्णन न कर सकतीं।

जोश से यह मतलब नहीं कि कविता के शब्द खूब जोरदार और जोशीले हों। संभव है शब्द जोरदार न हों पर जोश

उनमें छिपा हुआ हो। धीमे शब्दों में भी जोश रह सकता है, और पढ़ने या सुननेवाले के हृदय पर चोट कर सकता है। परंतु ऐसे शब्दों का कहना ऐसे-वैसे कवि का काम नहीं। जो लोग मीठी छुरी से तलवार का काम लेना चाहते हैं वे ही धीमे शब्दों में जोश भर सकते हैं।

सादगी, असलियत और जोश, यदि यह तीनों गुण कविता में हों तो कहना ही क्या है। परंतु बहुधा अच्छी कविता में भी इनमें से एक-आध गुण की कमी पाई जाती है। कभी-कभी देखा जाता है कि कविता में केवल जोश ही रहता है और असलियत नहीं। परंतु बिना असलियत के जोश होना बहुत कठिन है। अतएव कवि को असलियत का सब से अधिक ध्यान रखना चाहिये।

अच्छी कविता की सब से बड़ी परीक्षा यह है कि उसे सुनते ही लोग बोल उठें कि सच कहा है। वे ही कवि सच्चे कवि हैं जिनकी कविता सुनकर लोगों के मुँह से सहसा यह उक्ति निकलती है, ऐसे ही कवि धन्य हैं, और जिस देश में ऐसे कवि पैदा होते हैं वह देश भी धन्य है।

एक घूँट

(लेखक—स्वर्गीय श्री बाबू जयशङ्कर प्रसाद)

[बाबू जयशंकर प्रसाद का जन्म सन् १८८९ में एक प्रतिष्ठित व्यापारी कुल में हुआ था। बाल्यकाल में इनकी शिक्षा का कोई प्रबंध स्कूल में नहीं किया गया; आपने अपने घर पर ही शिक्षा पाई। विद्याध्ययन से प्रसाद जी की विशेष रुचि थी। अतः शीघ्र ही आप संस्कृत, फारसी, हिंदी और अँगरेजी पढ़ गए। संस्कृत से उन्हें विशेष प्रेम था, और भारतीय संस्कृति के वे बड़े पक्षपाती थे। इसी से, अब तक, प्राचीन संस्कृति और साहित्य का आप अध्ययन करते रहे। बँगला भी आपने सीखी थी। हिंदी से तो आपका स्वाभाविक स्नेह था और अपने व्यापार की देख भाल करते रह कर आप हिंदी-साहित्य की भी अमूल्य सेवा करते रहे।

प्रसाद जी की बहुमुखी प्रतिभा के कारण हिंदी के प्रायः सभी विद्यार्थी उनसे परिचित हैं। उन्होंने हिंदी-साहित्य के दो प्रधान अंगों—नाटक और कविता—में मौलिकता का समावेश किया। उनका विषय नया था, शैली नई थी, रचनादर्श नया था। इन्होंने नाटक-साहित्य के रिक्त भंडार को भरने का सुन्दर प्रयत्न किया। हिंदी में, उनके पहिले, मौलिक नाटक एक ही दो लिखे गए थे और उनकी शैली, चरित्र-चित्रण आदि में भी विशेष नवीनता नहीं थी। प्रसाद जी ने इस कमी को पूरा किया और कई सुन्दर-सुन्दर नाटक लिखे। इनके नाटकों में भारतीय संस्कृति का सुंदर दिग्दर्शन कराया गया है।

प्रसाद जी आधुनिक रसस्यवादी कविता की नवीनधारा के प्रवर्त्तक भी माने जा सकते हैं। द्विवेदीकाल के, "सरस्वती" के कवियों के ढंग पर

कविता न करके उन्होंने प्रधानतः यौवन और प्रेम-विषयक बड़ी सुन्दर भावात्मक कविताओं की रचना की जिनके कारण वे विश्वविद्यालयों के नवयुवक विद्यार्थियों को विशेष प्रिय हैं। रहस्यवादी कवियों में तो उनकी तुलना विश्वविख्यात कवींद्र रवींद्र से की जाती है। चौथी बात है उनकी साहित्यिक शैली जिसके कारण उनकी कहानियाँ भी गद्य-काव्य का सा आनंद देती हैं। प्रसाद जी की मुख्य रचनाएँ ये हैं—

(क) **नाटक**—सज्जन, अजातशत्रु, चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त, राज्यश्री विशाख, जनमेजय का नागयज्ञ।

(ख) **काव्य**—प्रेम-पथिक, कानन-कुसुम, झरना, लहर, कामायनी, आँसू।

(ग) **कहानी-संग्रह**—छाया, प्रतिध्वनि, नवपल्लव, आँधी, आकाश दीप।

(घ) **उपन्यास**—कंकाल और तितली।

छोटी कहानियों, उपन्यासों, नाटकों और कविताओं में सर्वत्र प्रसाद जी की शैली में एक ही रवानी है। वह संस्कृत के तत्सम शब्दों से लदी हुई मंद-मंद चलती है। कहीं कहीं पर नाटकों में यह शैली अस्वाभाविक-सी मालूम होती है, परंतु यह कोई नहीं कह सकता कि उनके गहरे दार्शनिक विचारों को और उनके तीव्र अंतर्द्वंद्व को प्रकट करने के लिए यह शैली कृत्रिम है अथवा उपयुक्त नहीं है। प्रसाद जी ऊँचे कलाकार थे और इन्हें अपनी अभिव्यक्ति को सँवारने की आदत थी। आपकी भाषा की दुरूहता कविता को और भी कठिन बना देती थी। पुरातत्त्व के अच्छे विद्वान् होकर और संस्कृत-साहित्य का अच्छा अध्ययन करने के कारण, तत्सम स्वरूप हिंदी के शब्द उनकी प्रणाली के अंग हो रहे थे।

संस्कृत-शब्दों से विभूषित प्रसाद जी की शैली में संस्कृत-शैली के

दोष नहीं हैं, न उसमें आवश्यकता से बड़े वाक्य हैं और न लंबे-लंबे 'समस्तपद'। जहाँ एक ओर अपनी शैली के कारण जयशंकर प्रसाद की कृतियों में सर्वसाधारण से दूर जाने की वृत्ति दिखाई देती है तथा वस्तु की जटिलता और दुरूहता इस खाई को और भी चौड़ी किए है वहाँ दूसरी ओर शैली की नवीनता के ही कारण आप जटिल और दुर्बोध्य दार्शनिक व मनोवैज्ञानिक विषय सुलझा सके हैं। इनकी कृतियाँ विशिष्टों की आदर-भाजन बन गई हैं। इनकी शैली में मनोविकारों का अट्टहास चाहे न हो परंतु नियंत्रण का संमार्जन अवश्य है। कुछ भी हो, इनके जीवन का जो स्थायी रस है उसे अभिव्यक्त करने में यह शैली अनुपम रूप से सफल हुई है। अपनी लेखन-प्रणाली से बाबू जयशंकर प्रसाद इस युग के शैली-प्रवर्त्तक लेखक समझे जाते थे। शैली के दुर्बोध और जटिल होने के कारण उनको लोग छायावादी कवि के नाम से पुकारते हैं।

'प्रसाद'जी का यह एकांकी नाटक पूरा का पूरा है। इसमें वनलता, कुंज, मौलश्री, रसाल, आनंद आदि पात्रों के रूप दिखाई देते हैं। जड़ों ने चेतन का रूप धारण किया है, अमूर्त्त मूर्तिमान् होकर सामने आए हैं। पर विचार होता है चेतन जगत् का। आनंद का शुद्ध स्वरूप अथवा प्रेम का निर्विशेष रूप क्या है—इसी की व्याख्या इसमें प्रधान है। संसार की मूल सत्ता आनंद पर स्थित है, दुःख पर नहीं—यही समझाने का प्रयत्न इसका उद्देश्य है। बहिरंग और अंतरंग में भेद है। दुःख की अंतः-प्रवाहिनी धारा का अस्तित्व माननेवाले बहिरंग से अंतरंग की ओर उन्मुख होते हैं। यदि शाश्वत आनंद के स्रोत का अस्तित्व जानना चाहे तो अंतरंग से बहिरंग की ओर आना होगा। यही तत्त्व है जो इस 'एक घूँट' में दिखाया गया है।]

(अरुणाचल-आश्रम का एक सघन कुञ्ज।

श्रीफल, बट, आम, कदंब और मौलसिरी के बड़े बड़े वृक्षों की झुर-

मुट में प्रभात की धूप घुसने की चेष्टा कर रही है। उधर समीर के झोंके, पत्तियों और डालों को हिला-हिलाकर, जैसे किरणों के निर्विरोध प्रवेश में बाधा डाल रहे हैं। वसंत के फूलों की भीनी-भीनी सुगंध, उस हरी-भरी छाया में कलोल कर रही है। वृक्षों के अंतराल से गुंजारपूर्ण नभखंड की नीलिमा में जैसे पक्षियों का कलरव साकार दिखाई देता है!

मौलसरी के नीचे वेदी पर वनलता बैठी हुई, अपनी साड़ी के अंचल की बेल देख रही है। आश्रम में कहीं होते हुए संगीत को कभी सुन लेती है, कभी अनुसुनी कर जाती है।)

(नेपथ्य में गान)

खोल तू अब भी आँखें खोल!
जीवन-उदधि हिलोरें लेता उठती लहरें लोल।
छवि की किरनों से खिल जा तू,
अमृत-झड़ी सुख से झिल जा तू।
इस अनंत स्वर से मिल जा तू वाणी में मधु घोल।
जिससे जाना जाता सब यह, उसे जानने का प्रयत्न! अह!
भूल अरे अपने को मत रह जकड़ा, बंधन खोल।
खोल तू अब भी आँखें खोल।

(संगीत बंद होने पर कोकिल बोलने लगती है। वनलता अंचल छोड़कर खड़ी हो जाती है। उसकी तीखी आँखें जैसे कोकिल को खोजने लगती हैं। उसे न देखकर हताश-सी वनलता अपने-ही-आप कहने लगती है—)

कितनी टीस है, कितनी कसक है, कितनी प्यास है; निरंतर पंचम स्वर की पुकार! कोकिल! तेरा गला जल उठता होगा। विश्व भर से निचोड़कर यदि डाल सकती तेरे सूखे गले में एक

घूँट ! (कुछ सोचती है) किंतु इस संगीत का···क्या अर्थ है··· बंधनों को खोल देना, एक विशृंखलता फैलाना, परंतु मेरे हृदय की पुकार क्या कह रही है। आकर्षण किसी को बाहुपाश में जकड़ने के लिये प्रेरित कर रहा है। इस संचित स्नेह से यदि किसी रूखे मन को चिकना कर सकती ? (रसाल को आते हुए न देखकर) मेरी विश्व-यात्रा के संगी, मेरे स्वामी ! तुम काल्पनिक विचारों के आनंद में अपनी सच्ची संगिनी को भूल··· (रसाल चुपचाप वनलता की आँखें बंद कर लेता है, वह फिर कहने लगती है) कौन है ? नीला, शीला, प्रेमलता ! बोलती भी नहीं; अच्छा मैं भी खूब छकाऊँगी, तुम लोग बड़े दुलार पर चढ़ गई हो न।

रसाल—(निःश्वास होकर हाथ हटाते हुए) इन लोगों के अतिरिक्त और कोई दूसरा तो हो ही नहीं सकता। इतने नाम लिये, किंतु···किंतु एक मेरा ही स्मरण न आया। क्यों वनलता ?

वनलता—(सिर पर साड़ी खींचती हुई) आप थे ? मैं नहीं जान·····

रसाल—(बात काटते हुए) जानोगी कैसे लता ? मैं भी जानने की, स्मरण होने की वस्तु होऊँ तब न ! अच्छा तो है, तुम्हारी विस्मृति भी मेरे लिये स्मरण करने की वस्तु होगी। (निःश्वास लेकर) अच्छा, चलती हो आज मेरा व्याख्यान सुनने के लिये ?

वनलता—(आश्चर्य्य से) व्याख्यान ! तुम कब से देने लगे ? तुम तो कवि हो कवि, भला तुम व्याख्यान देना क्या जानो, वह विषय कौन-सा होगा जिस पर तुम व्याख्यान दोगे ? घड़ी दो घड़ी बोल सकोगे ! छोटी-छोटी कल्पनाओं के उपासक !

सुकुमार सूक्तियों के संचालक ! तुम भला क्या व्याख्यान दोगे ?

रसाल—तो मेरे इस भविष्य अपराध को तुम क्षमा न करोगी। आनंद जी के स्वागत में मुझे कुछ बोलने के लिये आश्रमवालों ने तंग कर दिया है। क्या करूँ वनलता !

वनलता—(मौलसिरी की एक डाल पकड़कर झुकाती हुई) आनंद जी का स्वागत ! अब होगा ! कहते क्या हो ? उन्हें आए तो कई दिन हो गए।

रसाल—(सिर पकड़कर) ओह ! मैं भूल गया था स्वागत, नहीं उनके परिचय-स्वरूप कुछ बोलना पड़ेगा।

वनलता—हाँ परिचय ! अच्छा, मुझे तो बतलाइए यह आनंद जी कौन हैं, क्यों आए हैं और कब ! नहीं-नहीं, कहाँ रहते हैं ?

रसाल—मनुष्य हैं, उनका कुछ निज का संदेश है; उसी का प्रचार करते हैं। कोई निश्चित निवास नहीं। (जैसे कुछ स्मरण करता हुआ) तुम भी चलो न ! संगीत भी होगा। आनंद जी अरुणाचल पहाड़ी की तलहटी में घूमने गए हैं; यदि नदी की ओर भी चले गए हों तो कुछ विलंब लगेगा, नहीं तो अब आते ही होंगे। तो मैं चलता हूँ।

(रसाल जाने लगता है। वनलता चुप रहती है। फिर रसाल के कुछ दूर जाने पर उसे बुलाती है।)

वनलता—सुनो तो !

रसाल—(लौटते हुए) क्या ?

वनलता—यह अभी अभी जो संगीत हो रहा था (कुछ सोचकर) मुझे उसका पद स्मरण नहीं हो रहा है; वह·····

रसाल—मेरी 'एक घूँट' नाम की कविता मधुमालती गाती रही होगी।

वनलता—क्या नाम बतलाया—'एक घूँट'? उहूँ! कोई दूसरा नाम होगा। तुम भूल रहे हो; वैसा स्वरविन्यास एक घूँट नाम की कविता में हो ही नहीं सकता।

रसाल—तब ठीक है। कोई दूसरी कविता रही होगी। तो मैं जाऊँ न!

वनलता—(स्मरण करके) अहो, उसमें न जकड़े रहने के लिये, बंधन खोलने के लिये, और भी क्या क्या ऐसी ही बातें थीं। वह किसकी कविता है?

रसाल—(दूसरी ओर देखकर) तो, तो वह मेरी—हाँ—हाँ—मेरी ही कविता थी।

वनलता—(त्योरी चढ़ाकर) अच्छा, तो आप बंधन तोड़ने की चेष्टा में हैं आजकल! क्यों, कौन बंधन खल रहा है?

रसाल—(हँसने की चेष्टा करता हुआ) यह अच्छी रही। किंतु लता! यह क्या पुराने ढंग की साड़ी तुमने पहन ली है? यह तो समय के अनुकूल नहीं; और मैं तो कहूँगा, सुरुचि के भी यह प्रतिकूल है।

वनलता—समय के अनुकूल बनने की मेरी बान नहीं, और सुरुचि के संबंध में मेरा निज विचार है। उसमें किसी दूसरे की सम्मति की मुझे आवश्यकता नहीं।

रसाल—उस दिन जो नई साड़ी मैं ले आया उसे पहन आओ न!

वनलता—अच्छा-अच्छा, तुम जाते कहाँ हो ? व्याख्यान कहाँ होगा ? ए कविजी, सुनूँ भी।

रसाल—यही तो मैं पूछने जा रहा था।

(वनलता दाहिने हाथ की तर्जनी से अपना अधर दबाए, बायें हाथ से दाहिनी कुहनी पकड़े, हँसने लगती है और रसाल उसकी मुद्रा साग्रह देखने लगता है, फिर चला जाता है।)

वनलता—(दाँतों से ओठ चबाते हुए) हूँ! निरीह, भावुक प्राणी। जंगली पक्षियों के बोल, फूलों की हँसी और नदी के कलनाद का अर्थ समझ लेते हैं। परंतु मेरे अंतर्नाद को कभी समझने की चेष्टा भी नहीं करते। और मैंने ही·····

(दूर से कुछ लोगों के बातचीत करते हुए आने का शब्द सुनाई पड़ता है। वनलता चुपचाप बैठ जाती है। प्रेमलता और आनंद का बात करते हुए प्रवेश। पीछे-पीछे और भी कई स्त्री पुरुषों का आपस में संकेत से बातें करते हुए आना। वनलता जैसे उस ओर ध्यान ही नहीं देती।)

आनंद—(एक ढीला रेशमी कुरता पहिने हुए है, जिसकी बाँहें उसे बार बार चढ़ानी पड़ती हैं। बीच बीच में चदरा भी सम्हाल लेता है। पान को रूमाल से पोछते हुए प्रेमलता की ओर गहरी दृष्टि से देखकर) जैसे उजली धूप सबको हँसाती हुई आलोक फैला देती है, जैसे उल्लास की मुक्त प्रेरणा फूलों की पँखड़ियों को गद्-गद कर देती हैं, जैसे सुरभि का शीतल झोंका सबका आलिंगन करने के लिये विह्वल रहता है, वैसे ही जीवन की निरंतर परि-स्थिति होनी चाहिये।

प्रेमलता—किंतु जीवन की झंझटें, आकांक्षायें, ऐसा अवसर

आने दें तब न ! बीच-बीच में ऐसा अवसर आ जाने पर भी वे चिरपरिचित निष्ठुर विचार गुर्राने लगते हैं। तब !

आनंद—उन्हें पुचकार दो, सहला दो; तब भी न मानें, तो किसी एक का पक्ष न लो। बहुत संभव है कि वे आपस में लड़ जायँ और तब तुम तटस्थ दर्शक-मात्र बन जाओ और खिलखिलाकर वह दृश्य देख सको। देख सकोगे न !

प्रेमलता—असंभव ! विचारों का आक्रमण तो सीधे मुझी पर होता है। फिर वे परस्पर कैसे लड़ने लगे ? (स्वगत) अहा, कितना मधुर यह प्रभात है ! यह मेरा मन जो गुदगुदी का अनुभव कर रहा है, उसका संघर्ष किससे करा दूँ।

(मुकुल भौओं को चढ़ाकर अपनी एक हथेली पर तर्जनी से प्रहार करता है, जैसे उसकी समझ में प्रेमलता की बात बहुत सोच-विचार कर कही गई हो। आनंद दोनों को देखता है, फिर उसकी दृष्टि वनलता की ओर चली जाती है।)

आनंद—(सँभालते हुए) जब तुम्हारे हृदय में एक कटु विचार आता है, उसके पहले से क्या कोई मधुर भाव प्रस्तुत नहीं रहता ? जिससे तुलना करके तुम कटुता का अनुभव करती हो।

प्रेमलता—हाँ, ऐसा ही तो समझ में आता है।

आनंद—तो इससे स्पष्ट हो जाता है कि पवित्र हृदयमंदिर में दो भावों—कटु और मधुर—का द्वंद्व चला करता है, और उन्हीं में से एक दूसरे पर आतंक जमा लेता है।

प्रेमलता—लेता है; किंतु यह बात मेरी समझ में·····

आनंद—(हँसकर) न आई होगी। किंतु तुम उस द्वंद्व के

प्रभाव से मुक्त हो सकती हो। मान लो कि तुम किसी से स्नेह करती हो (ठहर कर प्रेमलता की ओर गूढ़ दृष्टि से देखकर) और तुम्हारे हृदय में इसे सूचित करने···व्यक्त करने के लिये इतनी व्याकुलता·····

प्रेमलता—ठहरिए तो, मैं प्यार करती हूँ कि नहीं, पहले इस पर—भी मुझे दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये।

आनंद—(विरक्ति प्रकट करता हुआ) उँह, दृढ़ निश्चय को बीच में लाकर तुमने मेरी विचार-धारा दूसरी ओर बहा दी। दृढ़ निश्चय ! एक बंधन है। प्रेम की स्वतंत्र आत्मा को बंदी-गृह में न डालो। इससे उसका स्वास्थ्य, सौंदर्य्य और सरलता सब नष्ट हो जायगी।

प्रेमलता—ऐं ! (और भी कोई व्यक्ति आश्चर्य्य से) ऐं !

आनंद—हाँ-हाँ, उस नियमबद्ध प्रेम-व्यापार का बड़ा ही स्वार्थपूर्ण विकृत रूप होगा। जीवन का लक्ष्य भ्रष्ट हो जायगा।

प्रेमलता—(आश्चर्य्य से) और वह लक्ष्य क्या है ?

आनंद—विश्व-चेतना के आकार धारण करने की चेष्टा का नाम 'जीवन' है। जीवन का लक्ष्य 'सौंदर्य्य' है; क्योंकि आनंद-मयी प्रेरणा जो उस चेष्टा या प्रयत्न का मूल रहस्य है, स्वस्थ—अपने आत्मभाव में, निर्विशेष रूप से—रहने पर सफल हो सकती है। दृढ़ निश्चय कर लेने पर उसकी सरलता न रहेगी, अपने मोह-मूलक अधिकार के लिये वह झगड़ेगी।

प्रेमलता—किंतु अभी-अभी आपने नदी-तट पर जाल की कड़ियों को आपस में लड़ाते हुए मछुओं की बातें सुनी हैं। वे न जाने·····

आनंद—सुनी हैं। आनंद के संबंध में पहले एक बात मेरी सुन लो। आनंद का अंतरंग सरलता है और बहिरंग सौंदर्य्य है, इसी में वह स्वस्थ रहता है।

प्रेमलता—किंतु आपकी ये बातें समझ में नहीं आतीं।

आनंद—(हँसकर) तो इसमें मेरा अपराध नहीं। प्रायः न समझने के कारण मेरे इस कथन का अर्थ उलटा ही लगाया जायगा। किंतु करूँ क्या, बात तो जैसी है वैसी ही कही जायगी न! उन मछुओं को सरलता और सौंदर्य्य दोनों का ज्ञान नहीं। फिर आनंद के नाम पर वे दुःख का नाम क्यों न लें?

प्रेमलता—(उदास होकर) यदि हम लोगों की दृष्टि में उनके यहाँ सौंदर्य्य का अभाव हो, तो भी उनके पास सरलता नहीं है मैं ऐसा नहीं मान सकती।

आनंद—तुम्हारा न मानने का अधिकार मैं मानता हूँ, किंतु वे अपने भीतर ज्ञाता बनने का निश्चय करके, अपने कुछ स्वार्थों के लिये दृढ़ अधिकार प्रकट करते हुए, अपनी सरलता की हत्या कर रहे थे और सौंदर्य्य को मलिन बना रहे थे। काल्पनिक दुखों को ठोस मानकर·····

मुकुल—(बात काटते हुए) ठहरिए तो, क्या फिर 'दुख' नाम की कोई वस्तु है ही नहीं?

आनंद—होगा कहीं; हम लोग उसे खोज निकालने का प्रयत्न क्यों करें? अपने काल्पनिक अभाव, शोक, ग्लानि और दुख के काजल आँखों के आँसू में घोलकर सृष्टि के सुंदर कपोलों को क्यों कलुषित करें? मैं उन दार्शनिकों से मतभेद रखता हूँ

जो यह कहते आए हैं कि संसार दुःखमय है और दुःख के नाश का उपाय सोचना ही पुरुषार्थ है।

(वनलता चुपचाप तीव्र दृष्टि से दोनों को देखती हुई अपने बाल सँवारने लगती है और प्रेमलता आनंद को देखती हुई अपने-आप सोचने लगती है।)

प्रेमलता—(स्वगत अहा ! कितना सुंदर जीवन हो, यदि मनुष्य को इस बात का विश्वास हो जाय कि मानव-जीवन की मूल सत्ता में आनंद है। आनंद ! अहा ! इनकी बातों में कितनी प्रफुल्लता है ! हृदय को जैसे अपनी भूली हुई गति स्मरण हो रही है। (वह प्रसन्न नेत्रों से आनंद को देखती हुई कह उठती है) और !

आनंद—और दुःख की उपासना करते हुए एक दूसरे के दुःख से दुःखी होकर परंपरागत सहानुभूति—नहीं नहीं, यह शब्द उपयुक्त नहीं; हाँ—सहरोदन करना मूर्खता है। प्रसन्नता का हत्या का रक्त पानी बन जाता है। पतला, शीतल ! ऐसी समवेदनाएँ संसार में उपकार से अधिक अपकार ही करती हैं।

प्रेमलता—(स्वगत सोचने लगती है) सहानुभूति भी अपराध है ? अरे यह कितना निर्दय ! आनंद ! आनंद ! यह तुम क्या कह रहे हो ? इस स्वच्छंद प्रेम से या तुम से क्या आशा !

मुकुल—फिर संसार में इतना हाहाकार !

आनंद—उँह, विश्व विकास-पूर्ण है; है न ? तब विश्व की कामना का मूल रहस्य 'आनंद' ही है, अन्यथा वह 'विकास' न होकर दूसरा ही कुछ होता।

मुकुल—और संसार में जो एक दूसरे को कष्ट पहुँचाते हैं, झगड़ते हैं !

आनंद—दुःख के उपासक उसकी प्रतिमा बनाकर पूजा करने के लिए द्वेष, कलह और उत्पीड़न आदि सामग्री जुटाते रहते हैं। तुम्हें हँसी के हलके धक्के से उन्हें टाल देना चाहिये।

मुकुल—महोदय, आपका यह हलका जोगिया रंग का कुरता जैसे आपके सुंदर शरीर से अभिन्न होकर हम लोगों की आँखों में भ्रम उत्पन्न कर देता है, वैसे ही आपको दुःख के झलमले अंचल में सिसकते हुए संसार की पीड़ा का अनुभव स्पष्ट नहीं हो पता। आपको क्या मालूम कि बुद्धू के घर की काली-कलूटी हाँड़ी भी कई दिन से उपवास कर रही है। छुन्नू मूँगफलीवाले का एक रुपये की पूँजी का खोंमचा लड़कों ने उछल-कूदकर गिरा भी दिया और लूटकर खा भी गए, उसके घर पर सात दिन की उपवासी रुग्ण बालिका मुनक्के की आशा में पलक पसारे बैठी होगी या खाट पर पड़ी होगी।

प्रेमलता—(आनंद की ओर देखकर) क्यों ?

आनंद—ठीक वही बात ! यही तो होना चाहिये। स्वच्छंद प्रेम को जकड़ कर बाँध रखने का, प्रेम की परिधि संकुचित बनाने का यही फल है, यही परिणाम है। (मुसकराने लगता है)।

मुकुल—तब क्या सामाजिकता का मूल उद्गम वैवाहिक प्रथा तोड़ देनी चाहिये ? यह तो साफ़ साफ़ दायित्व छोड़कर उद्भ्रांत जीवन बिताने की घोषणा होगी। परस्पर सुख-दुःख में गला बाँधकर एक दूसरे पर विश्वास करते हुए, संतुष्ट दो प्राणियों की आशाजनक परिस्थिति क्या छोड़ देने की वस्तु है ? फिर···

हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद (६८-८) पुस्तकालय

प्रेमलता—(स्वगत) यह कितनी निराशामयी शून्य कल्पना है ! (आनंद को देखने लगती है ।)

आनंद—(हताश होने की मुद्रा बनाकर) ओह ! मनुष्य कभी न समझेगा । अपने दुःखों से भयभीत कंगाल दूसरों के दुःख में श्रद्धावान् बन जाता है ।

मुकुल—मैंने देखा है कि मनुष्य एक ओर तो दूसरे से कुछ ठग लेने के लिये सावधान और कुशल बनने का अभिनय करता रहता है ।

प्रेमलता—ऐसा भी होता होगा ।

आनंद—यह मोह की भूख···

वनलता—(पास आकर) और केवल पेट की ही भूख-प्यास तो मानव-जीवन में नहीं होती । हृदय को— छाती पर हाथ रखकर) कभी इसको—भी टटोल कर देखा है । इसकी भूख-प्यास का भी कभी अनुभव किया है ? (आनंद कौतुक से वनलता की ओर देखने लगता है । आश्रम के मंत्री कुंज के साथ रसाल का प्रवेश ।)

आनंद—(मुसकराकर) देवि, तुम्हारा तो विवाहित जीवन है न ! तब भी हृदय भूखा और प्यासा ! इसी से मैं स्वच्छंद प्रेम का पक्षपाती हूँ ।

वनलता—वही तो मैं समझ नहीं पाती, प्रतिकूलताएँ··· (कहते-कहते रसाल को देखकर रुक जाती है, फिर प्रेमलता को देखकर) प्रेमलता ! तुमने आज प्रश्न करके हम लोगों के अतिथि श्री आनंद जी को अधिक समय तक थका दिया है । अच्छा होता

कि कोई गान सुनाकर इन शुष्क तर्कों से उत्पन्न हुई हम लोगों की ग्लानि को दूर करतीं।

प्रेमलता—(सिर झुकाकर प्रसन्न होती हुई) अच्छा, सुनिये। (सब प्रसन्नता प्रकट करते हुए एक दूसरे को देखते हैं।)

प्रेमलता—(गाती है।)

जीवन-वन में उजियाली है।
यह किरनों की कोमल धारा—
बहती ले अनुराग तुम्हारा।
फिर भी प्यासा हृदय हमारा—
व्यथा घूमती मतवाली है।
हरित दलों के अंतराल से—
बचता-सा इस सघन जाल से।
यह समीर किस कुसुमवाल से—
माँग रहा मधु की प्याली है।
एक घूँट का प्यासा जीवन—
निरख रहा सबको भर लोचन।
कौन छिपाये है उसका धन—
कहाँ सजल वह हरियाली है।

(गान समाप्त होने पर एक प्रकार का सन्नाटा हो जाता है। संगीत की प्रतिध्वनि उस कुंज में अभी भी जैसे सब लोगों को मुग्ध किए है। वनलता सब लोगों से अलग कुंज से धीरे-धीरे कहती है।)

त्रिमूर्त्ति

(लेखक—श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी)

[ये हिंदी के उन इने-गिने लेखकों में हैं जिन्होंने अध्ययन करना पहला काम और लिखना बाद का काम समझा है। द्विवेदी जी के बाद "सरस्वती" का संपादन-भार इन्हीं के कंधों पर आया, और उस समय 'सरस्वती' और इनकी दोनों की खूब धूम रही। इन्होंने रामचंद्र शुक्ल की भाँति आलोचना के नए तथ्यों का शोध किया है। आपने दर्जनों ऐसे प्रबंध लिखे हैं जो मनन और गंभीर साहित्य की वस्तु हैं। आपके विषय इतिहास, दर्शन, साहित्य और आध्यात्म सभी प्रकार के थे और सभी विषयों पर इन्होंने उच्च कोटि की बातें लिखी हैं। इनकी शैली सीधी-सादी और मधुर है; सर्वत्र छोटे छोटे वाक्य देखने में आते हैं। आपकी कुछ कृतियाँ स्वतंत्र और मौलिक हैं और कुछ अँगरेज़ी के अनुवाद-रूप में प्रकाशित हुई हैं। आपने कुछ कहानियाँ भी लिखी हैं। इनके 'साहित्य-विमर्श', 'विश्वसाहित्य', 'पंच पात्र' आदि पुस्तकें उल्लेखनीय हैं। पदुमलाल का स्थान हिंदी में अंतर्राष्ट्रीयता स्थापित करने की दृष्टि से ऊँचा समझा जायगा।]

मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह अपने ज्ञान के रूप को परिमित देखना नहीं चाहता। जब वह देखता है कि उसकी बुद्धि काम नहीं देती, तब वह कल्पना का आश्रय लेता है। तब काव्य की सृष्टि होती है। बाह्य-जगत् मनुष्यों के अन्तर्जगत् में प्रविष्ट होकर एक दूसरा ही रूप धारण कर लेता है। जड़ के साथ चेतन का सम्मिलन होता है। जो बुद्धि का अवलम्बन करते हैं, उनके लिये सूर्योदय एक साधारण घटना है, हिमालय एक पर्वत है और मन्दाकिनी एक नदी है। परन्तु कल्पना के

द्वारा कवि सूर्योदय में ऊषा देवी का दर्शन करते, हिमालय में भगवान् शिव का विराट् रूप देखते और मन्दाकिनी में मातृ-मूर्ति देख गद्गद हो जाते हैं। अँगरेज़ी के प्रसिद्ध लेखक मेकॉले की राय है कि ज्यों-ज्यों सभ्यता की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों कवित्व का ह्रास होता है। इनके इस कथन का अभिप्राय यही है कि ज्यों-ज्यों मनुष्य में प्राकृतिक भाव नष्ट होता जाता है और कृत्रिमता आती जाती है, ज्यों-ज्यों मनुष्य प्रकृति का संसर्ग छोड़ कर संसार में प्रवेश करता जाता है, त्यों-त्यों उसका जीवन-रस सूखता जाता है। जीवन के प्रभात काल में किसको यह जगत् सुन्दर नहीं मालूम होता? उस समय हम पवन से क्रीड़ा करते हैं, फूलों से मैत्री रखते हैं और पृथ्वी की गोद में निश्चिन्त हो विश्राम करते हैं। उदीयमान सूर्य की प्रभा के समान हमारा जीवन निर्मल, सौम्य और मधुर रहता है। परन्तु जीवन के मध्याह्न काल में हमारे लिये प्रकृति का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। संसार के अनन्त कार्यों में निरत होकर हम केवल विश्व के विषम संताप का अनुभव करते हैं। सब कुछ वही रहता है, हमीं दूसरे हो जाते हैं। पहले वर्षाकाल में हम कीचड़ का कुछ भी ख़्याल न कर हम आकाश के नीचे पृथ्वी के वक्षःस्थल पर विहार करते थे। जब जल के छोटे-छोटे स्रोत कल-कल करते, हँसते, नाचते, थिरकते बहे जाते थे, तब हम भी उन्हीं के साथ खेलते, कूदते, दौड़ते थे। परन्तु सभ्य होने पर हमें वर्षा में कीचड़ और गंदलेपन का दृश्य दिखाई देता है और हम अपने संसार को नहीं भूलते। वाल्मीकि और तुलसीदास के वर्षा-वर्णन में हम यह

बात स्पष्ट देख सकते हैं। दोनों विख्यात कवि हैं, दोनों ने एक ही विषय का वर्णन किया है। परन्तु जहाँ वाल्मीकि के वर्णन में हम प्रकृति का यथार्थ रूप देखते हैं, वहाँ तुलसीदास के वर्णन में हम संसार की कुटिलता का परिचय पाते हैं। इसका कारण यही है कि वाल्मीकि ने तपोवन में कविता लिखी थी और तुलसीदास ने काशी में अथवा अन्य किसी नगर में।

कवि पर देश-काल का यही प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव कवि की कल्पना-गति में बाधक नहीं होता तो भी इसमें सन्देह नहीं कि उसके कारण कवि की कल्पना एक निर्दिष्ट पथ पर विचरण करती है। होमर सीता की कल्पना नहीं कर सकता था और न वाल्मीकि हेलेन की सृष्टि कर सकते थे। भिन्न-भिन्न युगों में भिन्न-भिन्न भावों की प्रधानता होती है। एक ही देश में भिन्न-भिन्न युगों के कवियों की रचनाओं में हम विभिन्न भावों की जो प्रधानता पाते हैं, उसका कारण यही है। सभ्यता के आदि काल में जो कवि होंगे, उनकी रचनाओं में हम भाषा आडम्बर नहीं देखेंगे। निर्मल जल धारा के समान उनकी कविता सदैव प्रासादिक और विशद रहेगी। परन्तु धन और वैभव से सम्पन्न देश में कवियों की रुचि भाषा की सजावट की ओर अधिक रहेगी। इतना ही नहीं उनकी कविता का विषय भी वाह्य-जगत् होगा।

साहित्यज्ञों ने ऐसे ही प्रधान प्रधान लक्षणों के अनुसार साहित्य के युग को तीन कालों में विभक्त किया है—प्राचीन काल, मध्य काल और नवीन काल। साहित्य का यह काल-विभाग सभी देशों के साहित्य में पाया जाता है। साहित्य के मुख्य

विषय दो ही हैं—अन्तर्जगत् और वाह्य-जगत्। भिन्न-भिन्न युगों में इन दोनों का सम्बन्ध भी भिन्न-भिन्न होता है। कोई सा एक युग लीजिये। उस काल की सभी रचनाओं में कुछ न कुछ सादृश्य अवश्य रहता है। प्राचीन काल में कवि वाह्य-जगत् को अन्तर्जगत् में मिलाकर एक अभिनव जगत् की सृष्टि करते हैं, जिसमें देवताओं और मनुष्यों का सम्मिलन होता है। उस समय अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् में भेद नहीं रहता। पृथ्वी मधुपूर्ण हो जाती है। उस समय हमें जान लेना चाहिये कि हम वाल्मीकि, व्यास और होमर के सत्ययुग में पहुँच गये हैं।

काव्य दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। कुछ काव्य ऐसे होते हैं जो कवि के व्यक्तित्व से पृथक् नहीं किये जा सकते। उनमें कवि ही की आत्मा छिपी रहती है। ऐसे काव्यों में कवि अपनी प्रतिभा के बल से अपने जीवन के अनुभवों ही के द्वारा समस्त मानव-जाति के चिरंतन गूढ़ भावों को व्यक्त कर देता है। परन्तु कुछ काव्य ऐसे होते हैं जिनमें विश्वात्मा संचरण करती है। वे देश और काल से अनवच्छिन्न रहते हैं। ऐसे ही काव्यों को महाकाव्य कहते हैं, और उनकी रचना वही कवि करते हैं जो विश्व-कवि कहलाते हैं, जो समय, देश और समग्र युग के भावों को प्रकट कर अपनी कृति को मानव-जाति का जीवन-धन बना जाते हैं। गिरिराज हिमालय के सदृश पृथ्वी को भेद कर आकाश-मंडल को छूते हैं। उन पर काल का प्रभाव नहीं पड़ता। वे सदा अटल बने रहते हैं और उनकी कविता-जाह्नवी अनिश्चित काल तक लोगों को पुनीत करती रहती है। भारतवर्ष में रामायण और महाभारत इसी प्रकार के महाकाव्य

हैं। प्राचीन ग्रीस के ईलियड और ओडेसी उसी के समकक्ष महाकाव्य हैं। भारतवर्ष में जो स्थान वाल्मीकि और व्यास का है, योरुप में वही स्थान होमर का है।

वाल्मीकि, व्यास और होमर के जीवन-चरित्र लिखने की विफल चेष्टा करने की अपेक्षा उनके काव्यों पर विचार करना अधिक समुचित होगा। इसमें सन्देह नहीं कि इन कवियों के विषय में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। होमर के कई जीवन-चरित्र बहुत प्रसिद्ध हैं। उन्हीं में से एक का लेखक हेरोटोटस माना जाता है। इन दन्त-कथाओं में कवियों की आसाधारण बातों का ही उल्लेख किया गया है। वाल्मीकि, व्यास और होमर के काव्य अलौकिक हैं। उनकी कृतियों से यह साफ़ प्रकट होता है कि वे दिव्यशक्ति-सम्पन्न थे। अतएव यदि मनुष्य उनके जीवन में भी अलौकिकता देखें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? कहा जाता है कि वाल्मीकि, पहले अत्यन्त क्रूर और नृशंस थे। पीछे राम का नाम लेकर वे तपस्वी हो गये। जिसके काव्य में करुण-रस का अपूर्व स्रोत बह गया है; उनकी क्रूरता भी देखने योग्य होगी। बात यह है कि रामायण के पाठ से भक्ति का उन्मेष होता है और उससे पाषाण-हृदय भी द्रवित हो जाता है। यही बात इस किंवदन्ती में बतलाने की चेष्टा की गई है। वाल्मीकि के विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि क्रौञ्चपक्षी के वध से व्यथित होकर उन्होंने श्लोक की रचना की। ऐसी घटनायें असाधारण होने पर भी असम्भव नहीं हैं। तो भी ऐसा प्रतीत होता है कि वे किंवदंतियाँ कवियों की कृतियों पर सर्व-साधारण की आलोचनाएँ हैं। कविता की उत्पत्ति कैसे होती है, यह इस

घटना के द्वारा बतलाया गया है। इस मर्त्यलोक में जीवन और मृत्यु की जो लीला हो रही है, मनुष्यों के हास्य में भी करुण-वेदना की जो ध्वनि उठ रही है, क्षणिक संयोग के बाद अनन्त वियोग की जो निदारुण निशा आती है, उसी से मर्माहत होकर कवि के हृदय से सहसा जो उद्गार निकल पड़ता है, वही कविता है। जिस कविता में वेदना का स्वर नहीं, वह कविता माधुर्य से हीन है। शैली ने इसी भाव को निम्नलिखित पद्य में व्यक्त किया है—

Our sweetest songs are those,
That tell of saddest thoughts.

व्यासदेव ने हिन्दू-समाज को धर्म और नीति की शिक्षा दी है। उनके महाभारत से ही हिन्दू-सदाचार की सृष्टि हुई है। इसीलिये उसको पञ्चम वेद कहते हैं। परन्तु धर्म और ज्ञान की सूक्ष्म विवेचना करने वाले व्यास जी का जन्म-वृत्तान्त ऐसा नहीं है कि उसे प्रकट करने के लिये लोग लालायित हों। क्या उनके जीवन से यह सिद्ध नहीं होता कि जन्म किसी का भविष्य निश्चित नहीं कर देता। होमर अन्धा था। 'होमर' शब्द का अर्थ ही अन्धा है। इसी प्रकार हमारे सूरदास भी अन्धे थे। जो जगत् के वाह्यरूप की अवहेलना करके अन्तर्गत सत्य की खोज करता है, उसके लिये ये चर्म-चक्षु सर्वथा व्यर्थ हैं। आँख से तो हम पृथ्वी पर पृथ्वी ही देखते हैं। पर होमर ने नेत्र-हीन होकर पृथ्वी पर स्वर्ग के दर्शन किये थे।

वाल्मीकि भारतवर्ष के आदि-कवि माने जाते हैं। उनकी गणना महर्षियों में की जाती है। हिन्दू-समाज में ऋषि का

स्थान बहुत ऊँचा है। उनकी देव-तुल्य पूजा होती है। उनके कथन का खण्डन करने का कोई साहस नहीं कर सकता। उनके वचन कभी मिथ्या नहीं होते। आदि-कवि का महर्षि होना यह सूचित करता है कि कवि को वही स्थान प्राप्त हो जो ऋषि को है। उपनिषदों में भी कहा गया है—'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' अतएव जिस कवि की रचना में वह गुण नहीं जो एक ऋषि के वचन में होना चाहिये, उसे हम कवि नहीं कहेंगे। अलंकार, भाषा का सौष्ठव, माधुर्य आदि काव्य के गुण कहे जाते हैं। परन्तु ऋषि की कृति में हम इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होंगे। हम तो उससे यही आशा करेंगे कि वह हम में स्वर्गीय भाव भर दे। ऋषि का वचन कामधेनु के समान हमारी सब वासनाओं का अन्त कर सकता है और रामायण का पाठ करने से फिर कोई वासना नहीं रह जाती। तभी तो वह स्वर्ग का सोपान कहा जाता है।

रामायण में एक आदर्श समाज का चित्र है। इसीलिये कुछ लोगों को उसकी कथा अस्वाभाविक प्रतीत होती है। परन्तु यह उनका भ्रम है। रामायण से यही सिद्ध होता है कि मानव-समाज किस प्रकार आदर्श रूप में परिणत हो सकता है, पृथ्वी स्वर्ग कैसे हो सकती है। अरविन्द बाबू की राय है कि रामायण में एक विशुद्ध नैतिक अवस्था का चित्र पाया जाता है। उसमें शारीरिक और मानसिक शक्तियों का पूर्ण विकास दिखाया गया है। साथ ही साथ इन शक्तियों को स्वभाव की शुद्धता और श्रेष्ठ धार्मिक जीवन के कार्यों को सहायक बनाने की भी आवश्यकता बतलाई गई है।

व्यास जी ने महाभारत में पार्थिवशक्ति की पराकाष्ठा दिखलाकर उसकी निस्सारता दिखलाई है। उन्होंने कर्त्तव्याकर्त्तव्य और धर्माधर्म का बड़ा ही सूक्ष्म निर्णय किया है। स्वर्ग में युधिष्ठिर को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उनके धर्मात्मा भाइयों का तो वहाँ पता नहीं, पर अधार्मिक दुर्योधन स्वर्ग की विभूति का उपभोग कर रहा है! बात यह है कि अपने कर्त्तव्य-क्षेत्र में बलि हो जाना, यही धर्म की पराकाष्ठा है।

होमर के दो काव्य प्रसिद्ध हैं। एक का नाम ईलियड है और दूसरे का नाम ओडेसी। ईलियड में प्राचीन ग्रीस के इतिहास में प्रसिद्ध 'ट्रोजन वार' नामक युद्ध का सविस्तार वर्णन है। प्राचीन काल में ट्रोजन एशिया में एक समृद्धिशाली राज्य था। उसकी राजधानी थी ट्राय। उस राज्य के अधीश्वर का नाम प्रायम था। उसका एक पुत्र था पेरिस। स्पार्टा नरेश मेनीलास की स्त्री हेलेन को पेरिस भगा लाया था। इस अपमान से क्षुब्ध होकर मेनीलास ने सब ग्रीक के राजाओं को एकत्र कर ट्राय पर आक्रमण किया। बड़ा भीषण युद्ध हुआ। दोनों ओर के बड़े-बड़े वीर धराशायी हुए। अन्त में ग्रीक के वीरों ने ट्राय को हस्तगत कर लिया। यही ईलियड की कथा है। ओडेसी में यूलीसेस नामक एक ग्रीक नरेश की यात्रा वर्णित है।

होमर की कल्पना-शक्ति बड़ी प्रचण्ड थी। उसके काव्यों में एक विलक्षण शक्ति है। महाकाव्यों की कथा ही पर ज़ोर दिया जाता है। पर होमर ने भिन्न-भिन्न चरित्रों का अवतरण कर और उनके मानसिक भावों का विश्लेषण कर अपने काव्य को नाटक का रूप दे दिया है। एक विद्वान् समालोचक की राय है कि यदि

हम नाटककारों में होमर को स्थान देना चाहें, तो हमें उसे शेक्सपियर का समकक्ष मानना पड़ेगा। इस दृष्टि से उसके काव्यों की तुलना रामायण और महाभारत से नहीं की जा सकती परंतु रामायण और महाभारत की तरह होमर के काव्यों ने योरप में एक विचार-धारा प्रवर्तित कर दी। मनुष्यों के जीवन में जिस अदृष्ट शक्ति का प्राबल्य है उससे पृथक् कर उसने मानव-जाति के अध्यात्म-शक्ति-विहीन जीवन के दर्शन करा दिये। हेलेन पार्थिव श्री की प्रतिमा है, जिस प्रकार द्रौपदी क्रिया-शक्ति की और सीता विशुद्धि की। उसी के प्रभाव से ट्राय जर्जर हो गया। अब हम कविता के नैपुण्य पर कुछ विचार करना चाहते हैं।

कविता के लिये अलंकार भी आवश्यक माने गये हैं। होमर की उपमाओं के विषय में एक समालोचक का कथन है कि होमर ने भाषा की सौन्दर्य-वृद्धि के लिये उपमा का प्रयोग नहीं किया है। वह जिससे किसी बात को विशेष प्रभावोत्पादक बनाना चाहता था उसी का उल्लेख उपमा द्वारा कर देता था। उपमाओं से कवित्व शक्ति का उच्छ्वास प्रकट होता है; इस लिये उनका प्रयोग उतना ही स्वाभाविक जान पड़ता है जितना उनका प्रभाव। वाल्मीकि की उपमायें बड़ी सरल होती हैं; परन्तु व्यास जी की उपमाओं में एक प्रकार की निरंकुशता है।

होमर की कविता के विषय में मैथ्यू आर्नल्ड साहब का कथन है कि उसके तीन प्रधान गुण हैं। पहला गुण है उसका वेग। गिरि-निर्झर की तरह होमर का कविता-स्रोत बड़े ही वेग से बहता है। उसकी गति कभी शिथिल नहीं होती। उसकी छन्दो-

योजना भी ऐसी है कि उससे कविता की गति तीव्रतर हो जाती है। दूसरा गुण है भावों की विशदता। होमर की लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण उसकी प्रासादिक कविता है। तीसरा गुण है भावों की उच्चता, जिससे मनुष्य अपना पशुत्व दूर कर देवोपम हो जाते हैं। मैथ्यू आर्नल्ड साहब का यह कथन रामायण और महाभारत के लिये भी उपयुक्त है। उनमें भी कविता की निर्बाध धारा, प्रसाद गुण और स्वर्गीय भाव है।

कवि का प्रधान गुण है आदर्श चरित्रों की सृष्टि। होमर ने भी आदर्श नर-नारियों के चरित्र अंकित किये हैं और व्यास तथा वाल्मीकि ने भी। परन्तु इनके चरित्रों की परस्पर तुलना नहीं हो सकती। होमर की हेलेन, वाल्मीकि की सीता और व्यास की द्रौपदी तीनों अद्वितीय हैं। जैसी सफलता हेलेन के चरित्राङ्कण में होमर को हुई है वैसी ही सफलता व्यास और वाल्मीकि को द्रौपदी और सीता के चरित्र-चित्रण में भी हुई है। परन्तु कला की कुशलता का विचार न कर यदि चरित्र की दिव्यता का विचार किया जाय, तो राम और सीता के चरित्र अद्वितीय हैं।

रामायण में रामचन्द्र और सीता का ही चरित्र प्रधान है। अन्य चरित्रों की अवतारणा इन्हीं दो के चरित्रों को विशद करने के लिये हुई है। रामचन्द्र पुरुषोत्तम हैं। वे लोक-मर्यादा के संरक्षक हैं। वे सत्यव्रत हैं। वे शूर हैं। उनमें देव-दुर्लभ गुण हैं। परन्तु यदि राम में सिर्फ यही गुण रहते तो कदाचित् आज मनुष्यों के हृदय-मन्दिर में उनका यह स्थान न रहता। उनके चरित्र की विशालता और भव्यता देखकर लोग विस्मय-विमुग्ध

हो जाते पर उन्हें अपनाते नहीं। आज रामचन्द्र को ईश्वर-पद प्राप्त है। उनका नाम-मात्र स्मरण करके नीच मनुष्य भी भव-सागर को पार कर जाता है। मनुष्यों की यह भक्त-भावना उनके अलौकिक चरित्र के कारण नहीं, किन्तु उनके लौकिक चरित्र के कारण है। उनकी विशाल महिमा से आतंक उत्पन्न हो सकता है, प्रेम की उत्पत्ति नहीं हो सकती। रामचन्द्र ईश्वर थे, पर आये थे वे मनुष्य ही के रूप में। उनमें मनुष्योचित गुण थे। वे पुत्र थे, भ्राता थे, स्वामी थे। उन्होंने मनुष्यों के सुख-दुःख और आशा-निराशा का अनुभव किया था। जो राज-राजेश्वर है, वह दरिद्रों की कुटी का अनुभव नहीं कर सकता। परन्तु रामचन्द्र ने दारिद्र्यव्रत भी धारण किया था, राजसिंहासन से नीचे उतर कर दरिद्रता को आलिङ्गन किया था, वल्कल-वस्त्र पहन कर जंगल-जंगल घूमे थे। तभी तो अधर्मियों को उनके पास जाने का साहस होता है। तुलसीदास जी ने रामचन्द्र के चरित्र में उनकी ईश्वरीय शक्ति का बार बार स्मरण कराया है। इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। सच पूछो तो इससे राम-चरित मानस में बड़ा दोष आ गया है। सीता की वियोग-व्यथा से पीड़ित होकर रामचन्द्रजी ने जो विलापोद्गार किये हैं, उन्हें पढ़कर हृदय द्रवीभूत हो जाता है। सम्भव नहीं कि कोई पाठक उन स्थलों को पढ़कर—जहाँ तुलसीदास जी ने करुणा-रस का स्रोत बहा दिया है—आँसू न बहावे। परन्तु ऐसे स्थानों में तुलसीदास जी हठात् कह देते हैं—ये तो ईश्वर हैं, नर-लीला कर रहे हैं, इन्हें कहाँ दुःख-सुख! उस समय हृदय हताश हो जाता है; क्योंकि तब वे हमसे बहुत दूर हट जाते हैं। कौशल्या की भाँति

हम भी हाथ जोड़कर कहते हैं–'भगवान्, आप अपना विश्वरूप मत दिखलाइये। ईश्वर के रूप में मत आइये। हमें आप तपस्वी रूप में ही दर्शन दीजिये।' इसी प्रकार धनुष-भंग में सीता के हृदय में आशा और निराशा का जो द्वन्द्व चला है, उससे क्षण भर के लिये हृदय-स्पन्दन रुक जाता है। परन्तु ज्यों ही तुलसीदास जी हमें इसका स्मरण कराते हैं कि सीता जगज्जननी हैं, त्यों ही हमारा औत्सुक्य नष्ट हो जाता है। क्योंकि तब वे हमसे बहुत दूर हट जाती हैं—वहाँ जहाँ क्षुद्र मनुष्य के भाव नहीं पहुँच सकते। वाल्मीकि जी ने रामचन्द्र जी की ईश्वरता पर ज़ोर नहीं दिया है। उन्हें मनुष्य के रूप में लाकर मनुष्यों के लिये उनका चरित्र सुगम कर दिया है। सीता जी के चरित्र-चित्रण में तो उन्हें बड़ी सफलता हुई है। ऐसा दिव्य चरित्र अन्य किसी कवि ने अंकित नहीं किया है। यही कारण है कि हज़ारों वर्ष बीत गये तो भी वाल्मीकि का मधुर गान भारतीय नर-नारियों के कान में आज भी ध्वनित हो रहा है। प्राचीन अयोध्या ध्वंस हो गई, किन्तु हिन्दू-समाज के हृदय में रामायण की अयोध्या आज भी प्रतिष्ठित है। संसार में हिन्दू-जाति का जब तक अस्तित्व रहेगा तब तक उसके हृदय से रामायण का प्रभाव दूर न हो सकेगा।

मानव-जाति एक ही है तो भी देश और काल के व्यवधान से वह अनेक खण्डों में विभक्त हो गई है। धर्म के समान साहित्य का भी यही उद्देश्य है कि वह मनुष्यों को एक दूसरे से पृथक् रखने वाले इस व्यवधान को उठा दे। यदि यह कभी संभव हो जाय, तो हम पृथ्वी पर सौंदर्य का यथार्थ रूप देख लें। परन्तु भिन्नता दूर होने के स्थान में बढ़ रही है। धार्मिक-

क्षेत्र में जब कभी किसी महात्मा ने मानव-जाति को एक करने की चेष्टा की, तब न केवल उसकी चेष्टा व्यर्थ हुई, बल्कि उससे संसार में भेद-भाव की संख्या बढ़ाने वाले एक और नये पन्थ की सृष्टि हो गई है। संसार में जितने मत प्रचलित हैं, उन सब का प्रारम्भ इसी उद्देश्य से हुआ था। तो भी हम देखते हैं कि उन्हीं से संसार में पारस्परिक विद्वेष और घृणा के भाव फैले हैं। परन्तु साहित्य के क्षेत्र में यह हाल नहीं है। यहाँ किसी महान् आत्मा का अभ्युदय होने पर विद्वेष और घृणा के स्थान में प्रेम और सहानुभूति के भाव जाग्रत होते हैं। सभी लोग परस्पर मिलते-जुलते, देते-लेते हैं और इस प्रकार अपना जातित्व छोड़कर मनुष्यत्व ग्रहण करते हैं। साहित्य में आदान-प्रदान का यह कार्य बड़ी शान्ति से होता है। किसी की दृष्टि भी उस पर नहीं जाती। भारत ने योरुप को कितना दिया और उससे कितना लिया, इस विषय का अनुसंधान करना पुरातत्त्व-वेत्ताओं का काम है। हम तो यही कहेंगे कि यह समग्र साहित्य विश्व-साहित्य है और वह समस्त मानव-जाति के कल्याण के लिये निर्मित हुआ है। टेम्स, गंगा, मिसीसिपी आदि नदियों का उद्भव कहीं हुआ हो, परन्तु अन्त में वे सभी आकर अनन्त समुद्र में गिरती हैं। इसी प्रकार वाल्मीकि, व्यास और होमर का जन्म कहीं हुआ हो, उनकी काव्य-धारायें एक अनन्त विश्व में गिर कर पूर्णता लाभ करती हैं।

क्षमा

(लेखक—स्वर्गीय श्री प्रेमचंद जी)

[श्री प्रेमचन्द जी का असली नाम धनपतराय है । जन्म-स्थान बनारस जिले में है । आप ने आरम्भ में फारसी पढ़ी । अध्यापक रहते हुए आपने एफ० ए० और बी० ए० की परीक्षायें पास कीं। कुछ दिन तक आप डि० बोर्ड में डिप्टी इन्सपेक्टर भी रहे। परन्तु सं० १९८८ वि० में आप सरकारी नौकरी छोड़कर साहित्य-सेवा में लग गये। आप पहले उर्दू में कहानियाँ जमाना आदि उर्दू की प्रसिद्ध मासिक पत्रिकाओं में लिखते थे। परंतु आगे आपने हिन्दी में लिखना आरंभ किया। सं० १८७७ वि० में 'सेवा-सदन' लिखकर आप ने प्रेमाश्रम, रंगभूमि, काया-कल्प, ग़बन आदि कई उपन्यास लिखे। आपकी कहानियों के कई संग्रह भी निकल चुके हैं, जिनमें सप्तसरोज, नवनिधि, आदि मुख्य हैं। आप ने अपने उपन्यासों तथा अपनी कहानियों में भारतीय आदर्शों और मनोभावों के सफल चित्रण किये हैं। आप की वर्णन शैली सुन्दर होती है। आप की भाषा मुहावरेदार और चलती हुई होती है। सन् १९३६ ई० के सितम्बर मास में आप की मृत्यु हो गई।

श्री प्रेमचंद का साहित्यिक क्षेत्र निश्चित है। उन्होंने मर्मस्पर्शी कहानियाँ और सुन्दर उपन्यास लिखकर हिंदी की जो सेवा की है वह अनुपम और अतुलनीय है। प्रेमचंद जी ने जितना अकेले लिखा है उतना कई उपन्यासकार मिलकर भी नहीं लिख सके। उत्कर्ष की दृष्टि से और विशदता की दृष्टि से प्रेमचंद हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कहानी और उपन्यास-लेखक थे। इनकी कृतियों को अन्य भाषाओं में अनुवादित होने का

सौभाग्य प्राप्त हो चुका है। इनके कुछ नाटक भी क्षेत्र में आए थे। कुछ लोगों का कथन है कि उनमें प्रेमचंद को सफलता नहीं मिली। हम इस कथन से पूर्ण-रूप से सहमत नहीं।

प्रेमचंद जी के उपन्यास हिंदी की स्थायी संपत्ति हैं। आप हिंदी के प्रथम उत्कृष्ट मौलिक उपन्यास-लेखक थे। वैसे तो भारतेंदु जी के दिनों में ही उपन्यास-रचना आरंभ हो गई थी। लाला श्रीनिवासदास को "परीक्षागुरु" लिखे पूरी एक आयु समाप्त हो गई। सैकड़ों अनुवाद हुए और बीसियों तिलिस्मी और ऐय्यारी के पिटारे खुले, किंतु जो नाम को सार्थक बनानेवाली वस्तु आपने भेंट की उसकी समता पहले तो क्या आज भी किसी में करने की क्षमता नहीं है। प्रेमचंद जी की रचनाओं के समक्ष पहले के उपन्यास ऊसर के ठूँठ जान पड़ते हैं। कथानक, भाषा, भाव, चरित्र-चित्रण आदि सभी बातों में आपके उपन्यास बे-जोड़ हैं। आपका चित्रण स्वाभाविक, हृदयहारी और भावाभिव्यंजन आत्मा के अन्तस्तल तक के मनोविकारों को मथकर निकाला हुआ नवनीत था। मनुष्य-जीवन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूति का मनोवैज्ञानिक चित्र तो आप बाएँ हाथ से खींच देते थे। इनके तत्त्व-निदर्शन में हमें कला का परिपाक मिलता है और मानवता की तह तक पहुँचने में भावुक दार्शनिकता। लेखनी की इसी विभूति के बल पर आपने औपन्यासिक जगत् में जो स्थान प्राप्त किया है वह स्थायी और अक्षुण्ण बोध होता है।

प्रेमचंद आपका साहित्यिक नाम था। आप अँगरेजी के अतिरिक्त फारसी के भी पंडित थे। पहले आप उर्दू के एक लब्धप्रतिष्ठ लेखक थे। प्रारंभ की लिखी आपकी हिंदी में अनेक दोष देखे गए हैं। भाषा में व्याकरण-संबंधी व्यतिक्रम प्रायः लोग निहारा करते थे। किंतु इन सबके होते हुए आपकी शैली में जो प्रवाह रहता था उसके वेग में इन कंकड़ों पर बहुत कम दृष्टि ठहरती थी। उर्दू की रवानी इनके कथनोपकथन को सजीव बनाए रहती थी। कथानक में प्रसंगबद्धता और विषय को मोड़ने

में स्वाभाविकता और चातुरी रहती थी। पाठकों को एक उलझन में डालकर भी उनका कौतूहल आपकी मुट्ठी में बंद रहता था। प्रायः उनके वाक्य आशय की ओर संकेत करके ही शांत हो जाते थे ; जिससे कि प्रसंग में एक विचित्र सुंदरता आ जाती थी। चार, छः वाक्यों के बाद एक मर्मभेदिनी उक्ति गूँथ देना आपकी विशेषता थी। यही नहीं, व्यंग में आपकी फब्तियाँ गजब ढाती थीं। मुस्लिम संस्कृति से आप विशेष आकृष्ट दिखाई देते हैं। संभवतः यही कारण है कि इस्लाम के धार्मिक कृत्य, सैद्धांतिक कर्म्मों आदि पर आपके विचार सहानुभूतिसूचक और सुंदर थे। आपका लिखा "कर्बला" नाटक इसका प्रमाण है।

आपकी लेखनी का रुझान बहुधा यथार्थवाद की ही ओर रहता था। आपके इतिवृत्तात्मक कथानकों में विचित्रता अथवा चमत्कार भले ही न हो, किंतु उनमें विश्व की गंभीर दार्शनिक अनुभूति रहती थी। इस दृष्टि से उनकी दृष्टि में भी मर्म था। आपके लिखे उपन्यासों की संख्या शायद मैथिलीशरण जी की काव्यकृतियों से भी अधिक होगी। दर्जनों उपन्यासों के साथ साथ जिनके नाम किसी भी इतिहास-ग्रंथ में ढूँढ़े जा सकते हैं, आपने सैकड़ों कहानियाँ लिखी थीं। एक सफल कहानीकार के लिये जो संसार का विस्तृत ज्ञान अपेक्षित है वह आप में प्रचुर मात्रा में विद्यमान था। एक ओर यदि आप दीन समाज में जीर्ण वस्त्रों से शरीर ढकनेवाली मानवता का चित्र अंकित करते थे, जिससे हृदय में करुणा का उद्रेक होता था तो अन्यत्र सत्ताधारी धनिकों का निर्दय व्यापार हमें क्षुब्ध कर देता था। जिस सरलता से आप ग्राम्य जीवन खींचते थे उसी खूबी से सभ्य नागरिकों का राग और द्वेष वर्णन करते थे।

मौलिक ग्रंथों के अतिरिक्त आपने गाल्सवर्दी के कई अँगरेजी नाटकों का तथा अन्य फ्रेंच उपन्यासों का हिंदी-अनुवाद किया था। किंतु आपकी साहित्यिक प्रतिष्ठा में इन अनुवादित पुस्तकों का विशेष योग नहीं समझा जाता।]

(१)

मुसलमानों को स्पेन-देश पर राज्य करते कई शताब्दियाँ बीत चुकी थीं। कलीसाओं की जगह मसजिदें बनती जाती थीं, घन्टों की जगह आज़ान की आवाज़ें सुनाई देती थीं। ग़र्नाता और अलहमरा में, समय की नश्वर गति पर हँसनेवाले वे प्रासाद बन चुके थे, जिनके खंडहर अब तक देखने वालों को अपने पूर्व-ऐश्वर्य की झलक दिखाते हैं। ईसाइयों के गण्यमान्य स्त्री और पुरुष मसीह की शरण छोड़कर इसलामी भ्रातृत्व में सम्मिलित होते जाते थे और आज तक इतिहासकारों को यह आश्चर्य है कि ईसाइयों का निशान वहाँ क्योंकर बाकी रहा।

जो ईसाई-नेता अब तक मुसलमानों के सामने सिर न झुकाते थे और अपने देश में स्वराज्य स्थापित करने का स्वप्न देख रहे थे, उनमें एक सौदागर दाऊद भी था। दाऊद विद्वान और साहसी था। वह अपने इलाक़े में इसलाम को कदम न रखने देता था। दीन और निर्धन ईसाई विद्रोही देश के अन्य प्रांतों से आकर उसके शरणागत होते थे और वह बड़ी उदारता से उनका पालन-पोषण करता था। मुसलमान दाऊद से सशंक रहते थे। वे धर्म-बल से उस पर विजय न पाकर उसे शस्त्र-बल से परास्त करना चाहते थे; पर दाऊद कभी उनका सामना न करता। हाँ, जहाँ कहीं ईसाइयों के मुसलमान होने की ख़बर पाता, वहाँ हवा की तरह पहुँच जाता और तर्क या विनय से उन्हें अपने धर्म पर अचल रहने की प्रेरणा करता। अंत में मुसलमानों ने चारों तरफ़ से घेरकर उसे गिरफ्तार करने की तैयारी की।

सेनाओं ने उसके इलाक़े को घेर लिया। दाऊद को प्राण-रक्षा के लिये अपने संबंधियों के साथ भागना पड़ा। वह घर से भाग कर ग़रनाता में आया, जहाँ उन दिनों इसलामी राजधानी थी। वहाँ सब से अलग रह कर वह अच्छे दिनों की प्रतीक्षा में जीवन व्यतीत करने लगा। मुसलमानों के गुप्तचर उसका पता लगाने के लिये बहुत सिर मारते थे, उसे पकड़ लाने के लिये बड़े-बड़े इनामों की विज्ञप्ति निकाली जाती थी; पर दाऊद की टोह न मिलती थी।

(२)

एक दिन एकांत-वास से उकताकर दाऊद ग़रनाता के एक बाग़ में सैर करने चला गया। संध्या हो गई थी। मुसलमान नीची अबाएँ पहने बड़े-बड़े अमामे सिर पर बाँधे, कमर से तलवार लटकाये रविशों में टहल रहे थे। स्त्रियाँ सफ़ेद बुरके ओढ़े, ज़री की जूतियाँ पहने बेंचों और कुरसियों पर बैठी हुई थीं। दाऊद सब से अलग हरी-हरी घास पर लेटा हुआ सोच रहा था कि वह दिन कब आवेगा, जब हमारी जन्म-भूमि इन अत्याचारियों के पंजे से छूटेगी! वह उस भविष्य की कल्पना कर रहा था, जब ईसाई स्त्री और पुरुष इन रविशों में टहलते होंगे, जब यह स्थान ईसाइयों के परस्पर वाग्विलास से गुलज़ार होगा।

सहसा एक मुसलमान युवक आकर दाऊद के पास बैठ गया। वह इसे सिर से पाँव तक अपमान-सूचक दृष्टि से देखकर बोला—क्या अभी तक तुम्हारा हृदय इसलाम की ज्योति से प्रकाशित नहीं हुआ?

दाऊद ने गंभीर भाव से कहा—इसलाम की ज्योति पर्वत-

शृंगों को प्रकाशित कर सकती है। अंधेरी घाटियों में उसका प्रवेश नहीं हो सकता।

उस मुसलमान अरब का नाम जमाल था। वह यह आक्षेप सुनकर तीखे स्वर में बोला—इससे तुम्हारा क्या मतलब है ?

दाऊद—इससे मेरा मतलब यही है कि ईसाइयों में जो लोग उच्च श्रेणी के हैं, वे जागीरों और राज्याधिकारों के लोभ तथा राज-दंड के भय से इसलाम की शरण आ सकते हैं; परन्तु दुर्बल और दीन ईसाइयों के लिए इसलाम में वह आसमान की बादशाहत कहाँ है, जो हज़रत मसीह के दामन में उन्हें नसीब होगी ! इसलाम का प्रचार तलवार के बल से हुआ है, सेवा के बल से नहीं।

जमाल अपने धर्म का अपमान सुनकर तिलमिला उठा। गरम होकर बोला—यह सर्वथा मिथ्या है। इसलाम की शक्ति उसका आंतरिक भ्रातृत्व और साम्य है, तलवार नहीं।

दाऊद—इसलाम ने धर्म के नाम पर जितना रक्त बहाया है, उसमें उसकी सारी मसजिदें डूब जायँगी।

जमाल—तलवार ने सदा सत्य की रक्षा की है।

दाऊद ने अविचलित भाव से कहा—जिसको तलवार का आश्रय लेना पड़े, वह सत्य ही नहीं।

जमाल जातीय गर्व से उन्मत्त होकर बोला—जब तक मिथ्या के भक्त रहेंगे, तब तक तलवार की ज़रूरत भी रहेगी।

दाऊद—तलवार का मुँह ताकनेवाला सत्य ही मिथ्या है।

अरब ने तलवार के क़ब्ज़े पर हाथ रखकर कहा—खुदा

की क़सम, अगर तुम निहत्थे न होते, तो तुम्हें इसलाम को तौहीन करने का मज़ा चखा देता।

दाऊद ने अपनी छाती में छिपाई हुई कटार निकाल कर कहा—नहीं, मैं निहत्था नहीं हूँ। मुसलमानों पर जिस दिन इतना विश्वास करूँगा, उस दिन ईसाई न रहूँगा। तुम अपने दिल के अरमान निकाल लो।

दोनों ने तलवारें खींच लीं। एक दूसरे पर टूट पड़ा। अरब की भारी तलवार ईसाई की हलकी कटार के सामने शिथिल हो गई। एक सर्प की भाँति फन से चोट करती थी, दूसरी नागिन की भाँति उड़ती थी। एक लहरों की भाँति लपकती थी, दूसरी जल की मछलियों की भाँति चमकती थी। दोनों योद्धाओं में कुछ देर तक चोटें होती रहीं। सहसा एक बार नागिन उछलकर अरब के अंतस्तल में जा पहुँची। वह भूमि पर गिर पड़ा।

(३)

जमाल के गिरते ही चारों तरफ से लोग दौड़ पड़े। वे दाऊद को घेरने की चेष्टा करने लगे। दाऊद ने देखा, लोग तलवारें लिये दौड़े चले आ रहे हैं। वह प्राण लेकर भागा; पर जिधर जाता था, सामने बाग़ की दीवार रास्ता रोक लेती थी। दीवार ऊँची थी; उसे फाँदना मुश्किल था। यह जीवन और मृत्यु का संग्राम था। कहीं शरण की आशा नहीं, कहीं छिपने का स्थान नहीं। उधर अरबों की रक्त-पिपासा प्रतिक्षण तीव्र होती जाती थी। यह केवल एक अपराधी के दंड देने की चेष्टा न थी, जातीय अपमान का बदला था। विजित ईसाई की यह हिम्मत कि अरब पर हाथ उठावे! ऐसा अनर्थ!

जिस तरह पीछा करनेवाले कुत्तों के सामने गिलहरी इधर-उधर दौड़ती है, किसी वृक्ष पर चढ़ने की बार-बार चेष्टा करती है; पर हाथ-पाँव फूल जाने के कारण बार-बार गिर पड़ती है, वही दशा दाऊद की थी। दौड़ते-दौड़ते उसका दम फूल गया; पैर मन-मन भर के हो गये। कई बार जी में आया, इन सब पर टूट पड़े, और जितने महँगे प्राण बिक सकें, उतने महँगे बेचे। पर शत्रुओं की संख्या देखकर हतोत्साह हो जाता था।

लेना, दौड़ना, पकड़ना का शोर मचा हुआ था। कभी-कभी पीछा करने वाले इतने निकट आ जाते थे कि मालूम होता था, अब संग्राम का अंत हुआ, वह तलवार पड़ी; पर पैरों की एक ही गति, एक कावा, एक कन्नी उसे खून को प्यासी तलवारों से बाल-बाल बचा लेती थी।

दाऊद को अब इस संग्राम में खिलाड़ियों का-सा आनंद आने लगा। यह निश्चय था कि उसके प्राण नहीं बच सकते, मुसलमान दया करना नहीं जानते; इसलिये उसे अपने दाँव-पेंच में मज़ा आ रहा था। किसी वार से बच कर उसे अब इसकी खुशी न होती थी कि उसके प्राण बच गये; बल्कि इसका आनंद होता था कि उसने क़ातिल को कैसा जिच किया।

सहसा उसे अपनी दाहिनी ओर, बाग की दीवार कुछ नीची नजर आई। अहा! यह देखते ही उसके पैरों में एक नई शक्ति का संचार हो गया, धमनियों में नया रक्त दौड़ने लगा। वह हिरन की तरह उस तरफ दौड़ा, और एक छलाँग में बाग के

उस पार पहुँच गया। जिंदगी और मौत में सिर्फ एक कदम का फासला था। पीछे मृत्यु थी, आगे जीवन का विस्तृत क्षेत्र। जहाँ तक दृष्टि जाती थी, झाड़ियाँ ही नजर आती थीं। जमीन पथरीली थी, कहीं ऊँची, कहीं नीची। जगह-जगह पत्थर की शिलाएँ पड़ी हुई थीं। दाऊद एक शिला के नीचे छिपकर बैठ गया।

दम भर में पीछा करने वाले भी वहाँ आ पहुँचे और इधर-उधर झाड़ियों में, वृक्षों पर, गड्ढों में, शिलाओं के नीचे तलाश करने लगे। एक अरब उस चट्टान पर आकर खड़ा हो गया, जिसके नीचे दाऊद छिपा हुआ था। दाऊद का कलेजा धक-धक कर रहा था। अब जान गई! अरब ने जरा नीचे को झाँका और प्राणों का अंत हुआ! संयोग, केवल संयोग पर अब उसका जीवन निर्भर था। दाऊद ने साँस रोक ली, सन्नाटा खींच लिया। एक निगाह पर ही उसकी जिंदगी का फैसला था। जिंदगी और मौत में कितना सामीप्य है!

मगर अरबों को इतना अवकाश कहाँ था कि वे सावधान होकर शिला के नीचे देखते। वहाँ तो हत्यारे को पकड़ने की जल्दी थी। दाऊद के सिर से बला टल गई। वह इधर-उधर ताक-झाँककर आगे बढ़ गया।

(४)

अँधेरा हो गया। आकाश में तारे निकल आये और तारों के साथ दाऊद भी शिला के नीचे से निकला। लेकिन देखा, तो उस समय भी चारों तरफ हलचल मची हुई है, शत्रुओं का दल मशालें लिये झाड़ियों में घूम रहा है। नाकों

पर भी पहरा है। कहीं निकल भागने का रास्ता नहीं है। दाऊद एक वृक्ष के नीचे खड़ा होकर सोचने लगा कि अब क्योंकर जान बचे। अपनी जान की वैसी परवा न थी। वह जीवन के सुख-दुख सब भोग चुका था। अगर उसे जीवन की लालसा थी तो केवल यही देखने के लिए कि इस संग्राम का अंत क्या होगा। मेरे देश-वासी हतोत्साह हो जायँगे, या अदम्य धैर्य के साथ संग्राम-क्षेत्र में अटल रहेंगे।

जब रात अधिक बीत गई और शत्रुओं की घातक चेष्टा कुछ भी कम न होती देख पड़ी, तो दाऊद खुदा का नाम लेकर झाड़ियों से निकला, और दबे-पाँव वृक्षों की आड़ में, आदमियों की नजरें बचाता हुआ, एक तरफ को चला। वह इन झाड़ियों से निकल कर बस्ती में पहुँच जाना चाहता था। निर्जनता किसी की आड़ नहीं कर सकती; बस्ती का जन-बाहुल्य स्वयं आड़ है।

कुछ दूर तक तो दाऊद के मार्ग में कोई बाधा उपस्थित न हुई। वन के वृक्षों ने उसकी रक्षा की; किंतु जब वह असमतल भूमि से निकल कर समतल भूमि पर आया, तो एक अरब की निगाह उस पर पड़ गई। उसने ललकारा। दाऊद भागा। कातिल भागा जाता है!—यह आवाज हवा में एक ही बार गूँजी, और क्षण भर में चारों तरफ से अरबों ने उसका पीछा किया। सामने बहुत दूर तक आबादी का नामोनिशान न था। बहुत दूर पर एक धुँधला-सा दीपक टिमटिमा रहा था। किसी तरह वहाँ तक पहुँच जाऊँ! वह उस दीपक की ओर इतनी तेजी से दौड़ रहा था, मानों वहाँ पहुँचते ही अभय पा जायगा।

आशा उसे उड़ाये लिये जाती थी। अरबों का समूह पीछे छूट गया, मशालों की ज्योति निष्प्रभ हो गई। केवल तारागण उसके साथ दौड़े चले आते थे। अंत को वह आशामय दीपक के सामने आ पहुँचा। एक छोटा-सा फूस का मकान था। एक बूढ़ा अरब जमीन पर बैठा हुआ, रेहल पर कुरान रक्खे, उसी दीपक के मंद प्रकाश में पढ़ रहा था। दाऊद आगे न जा सका। उसकी हिम्मत ने जवाब दे दिया। वह वहीं शिथिल होकर गिर पड़ा। रास्ते की थकान घर पहुँचने पर मालूम होती है।

अरब ने उठाकर पूछा—तू कौन है ?

दाऊद—एक गरीब ईसाई। मुसीबत में फँस गया हूँ। अब आप ही शरण दें, तो मेरे प्राण बच सकते हैं।

अरब—खुदा-पाक तेरी मदद करेगा। तुझ पर क्या मुसीबत पड़ी हुई है ?

दाऊद—डरता हूँ, कहीं कह दूँ, तो आप भी खून के प्यासे न हो जायँ।

अरब—जब तू मेरी शरण में आ गया, तुझे मुझ से कोई शंका न होनी चाहिए। हम मुसलमान हैं, जिसे एक बार अपनी शरण में लेते हैं, उसकी जिंदगी भर रक्षा करते हैं।

दाऊद—मैंने एक मुसलमान युवक की हत्या कर डाली है।

वृद्ध अरब का मुख क्रोध से विकृत हो गया, बोला—उसका नाम ?

दाऊद—उसका नाम जमाल था।

अरब सिर पकड़कर वहीं बैठ गया। उसकी आँखें सुर्ख हो

गईं, गरदन की नसें तन गईं, मुख पर अलौकिक तेजस्विता की आभा दिखाई दी, नथने फड़कने लगे। ऐसा मालूम होता था कि उसके मन में भीषण द्वन्द्व हो रहा है और वह समस्त विचारशक्ति से अपने मनोभावों को दबा रहा है। दो-तीन मिनट वह इसी उग्र अवस्था में बैठा धरती की ओर ताकता रहा। अंत को अवरुद्ध कंठ से बोला—नहीं, नहीं, शरणागत की रक्षा करनी ही पड़ेगी। आह! जालिम! तू जानता है, मैं कौन हूँ? मैं उसी युवक का अभागा पिता हूँ, जिसकी आज तूने इतनी निर्दयता से हत्या की है। तू जानता है, तूने मुझ पर कितना बड़ा अत्याचार किया है? तूने मेरे खानदान का निशान मिटा दिया है! मेरा चिराग गुल कर दिया! आह, जमाल मेरा एकलौता बेटा था! मेरी सारी अभिलाषाएँ उसी पर निर्भर थीं। वही मेरी आँखों का उजाला, मुझ अंधे का सहारा, मेरे जीवन का आधार, मेरे जर्जर शरीर का प्राण था। अभी-अभी उसे कब्र की गोद में लिटा कर आया हूँ। आह, मेरा शेर आज खाक के नीचे सो रहा है। ऐसा दिलेर, ऐसा दीनदार, ऐसा सजीला जवान मेरी कौम में दूसरा न था।

जालिम, तुझे उस पर तलवार चलाते जरा भी दया न आई! तेरा पत्थर का कलेजा जरा भी न पसीजा! तू जानता है, मुझे इस वक्त तुझ पर कितना गुस्सा आ रहा है? मेरा जी चाहता है कि अपने दोनों हाथों से तेरी गर्दन पकड़ कर इस तरह दबाऊँ कि तेरी जबान बाहर निकल आवे, तेरी आँखें कौड़ियों की तरह निकल पड़ें; पर नहीं, तूने मेरी शरण ली है, कर्तव्य मेरे हाथों को बाँधे हुए है; क्योंकि हमारे रसूल-पाक

ने हिदायत की है कि जो अपनी पनाह में आवे, उस पर हाथ न उठाओ।

मैं नहीं चाहता कि नबी के हुक्म को तोड़कर दुनिया के साथ अपनी आकबत भी बिगाड़ लूँ। दुनिया तूने बिगाड़ी, दीन अपने हाथों बिगाड़ूँ ? नहीं। सब्र करना मुश्किल है ; पर सब्र करूँगा, ताकि नबी के सामने आँखें नीची न करनी पड़ें। आ, घर में आ। तेरा पीछा करने वाले वह दौड़े आ रहे हैं। तुझे देख लेंगे तो फिर मेरी सारी मिन्नत-समाजत तेरी जान न बचा सकेगी। तू नहीं जानता कि अरब लोग खून कभी नहीं माफ करते।

यह कहकर अरब ने दाऊद का हाथ पकड़ लिया और उसे घर में जाकर एक कोठरी में छिपा दिया। वह घर से बाहर निकला ही था कि अरबों का एक दल उसके द्वार पर आ पहुँचा।

एक आदमी ने पूछा—"क्यों शेख हसन, तुमने इधर से किसी को भागते देखा है ?"

"हाँ, देखा है।"

"उसे पकड़ क्यों न लिया ? वही तो जमाल का कातिल था।"

"यह जान कर भी मैंने उसे छोड़ दिया।"

"ऐं ! गजब खुदा का, यह तुमने क्या किया ? जमाल हिसाब के दिन हमारा दामन पकड़ेगा, तो हम क्या जवाब देंगे ?"

"तुम कह देना कि तेरे बाप ने तेरे कातिल को माफ कर दिया।"

"अरब ने कभी कातिल का खून नहीं माफ किया।"

"यह तुम्हारी जिम्मेदारी है, मैं उसे अपने सिर क्यों लूँ ?"

अरबों ने शेख हसन से ज्यादा हुज्जत न की, कातिल की तलाश में दौड़े। शेख हसन फिर चटाई पर बैठ कर कुरान पढ़ने लगा ; लेकिन उसका मन पढ़ने में न लगता था। शत्रु से बदला लेने की प्रवृत्ति अरबों की प्रकृति में बद्धमूल होती थी। खून का बदला खून था। इसके लिए खून की नदियाँ बह जाती थीं, कबीले के कबीले मर मिटते थे, शहर के शहर वीरान हो जाते थे। उस प्रवृत्ति पर विजय पाना, शेख हसन को असाध्य-सा प्रतीत हो रहा था। बार-बार प्यारे पुत्र की सूरत उसकी आँखों के आगे फिरने लगती थी, बार-बार उसके मन में प्रबल उत्तेजना होती थी कि चलकर दाऊद के खून से अपने क्रोध की आग बुझाऊँ।

अरब वीर होते थे। काटना-मारना उनके लिए कोई असाधारण बात न थी। मरने वालों के लिए वे आँसुओं की कुछ बूँदें बहाकर फिर अपने काम में प्रवृत्त हो जाते थे। वे मृत व्यक्ति की स्मृति को केवल उसी दशा में जीवित रखते थे, जब उसके खून का बदला लेना होता था। अंत को शेख हसन अधीर हो उठा। उसको भय हुआ कि अब मैं अपने ऊपर काबू नहीं रख सकता। उसने तलवार म्यान से निकाल ली और दबे पाँव उस कोठरी के द्वार पर आकर खड़ा हो गया, जिसमें दाऊद छिपा हुआ था। तलवार को दामन में छिपाकर उसने धीरे से द्वार खोला। दाऊद टहल रहा था। बूढ़े अरब का रौद्ररूप देखकर दाऊद उसके मनोवेग को ताड़ गया। उसे

बूढ़े से सहानुभूति हो गई। उसने सोचा, यह धर्म का दोष नहीं। मेरे पुत्र की किसी ने हत्या की होती, तो कदाचित् मैं भी उसके खून का प्यासा हो जाता। यही मानव-प्रकृति है।

अरब ने कहा—दाऊद, तुम्हें मालूम है, बेटे की मौत का कितना गम होता है ?

दाऊद—इसका अनुभव तो नहीं है ; पर अनुमान कर सकता हूँ। अगर मेरी जान से आपके उस गम का एक हिस्सा भी मिट सके, तो लीजिए, यह सिर हाजिर है। मैं इसे शौक से आपकी नजर करता हूँ। आपने दाऊद का नाम सुना होगा।

अरब—क्या पीटर का बेटा ?

दाऊद—जी हाँ ! मैं वही बदनसीब दाऊद हूँ। मैं केवल आपके बेटे का घातक ही नहीं, इसलाम का भी दुश्मन हूँ। मेरी जान लेकर आप जमाल के खून का बदला ही न लेंगे, बल्कि अपनी जाति और धर्म की सच्ची सेवा भी करेंगे।

शेख हसन ने गंभीर भाव से कहा—दाऊद ! मैंने तुम्हें माफ किया। मैं जानता हूँ, मुसलमानों के हाथों ईसाइयों को बहुत तकलीफें पहुँची हैं ; मुसलमानों ने उन पर बड़े-बड़े अत्याचार किये हैं, उनकी स्वाधीनता हर ली है। लेकिन यह इसलाम का नहीं, मुसलमानों का कसूर है। विजय-गर्व ने मुसलमानों की मति हर ली है। हमारे पाक-नबी ने यह शिक्षा नहीं दी थी, जिस पर आज हम चल रहे हैं। वह स्वयं क्षमा और दया के सर्वोच्च आदर्श हैं। मैं इसलाम के नाम को बट्टा न लगाऊँगा। मेरी ऊँटनी ले लो और रातोरात जहाँ तक भागा जाय भागो। कहीं एक क्षण के लिए भी न ठहरना।

अरबों को तुम्हारी बू भी मिल गई, तो तुम्हारी जान की खैरियत नहीं ! जाओ, तुम्हें खुदाए-पाक घर पहुँचावे। बूढ़े शेख हसन और उसके बेटे जमाल के लिए खुदा से दुआ किया करना।

× × × ×

दाऊद खैरियत से घर पहुँच गया ; किंतु अब वह दाऊद न था, जो इसलाम को जड़ से खोदकर फेंक देना चाहता था। उसके विचारों में गहरा परिवर्तन हो गया। अब वह मुसलमानों का आदर करता और इसलाम का नाम इज्जत से लेता था।

ललित कलाएँ और काव्य

(लेखक—स्वर्गीय श्री डाक्टर श्यामसुंदर दास)

[जीवन में पचास वर्ष से अधिक समय हिंदी भाषा और उसके साहित्य की उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहनेवाले डाक्टर श्यामसुन्दर दास जी का हिंदी पर बड़ा ऋण है। इनका जन्म सन् १८७५ में बनारस में हुआ था। इंटरमीडिएट पास करने के बाद ही अपने कुछ मित्रों की सहायता से आपने सन् १८९३ में काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा की स्थापना की थी। सन् १८९७ में आपने बी० ए० पास किया और कुछ समय तक सेंट्रल हिंदू कॉलेज, बनारस में अँगरेजी के अध्यापक रहे। इसके पश्चात् कुछ वर्ष तक इरिगेशन डिपार्टमेंट, शिमला, और महाराजा काश्मीर के प्राइवेट दफ्तर में काम किया। तत्पश्चात् कालीचरण हाई स्कूल, लखनऊ में हेडमास्टर होकर आये और कई वर्ष तक काम करते रहे। अन्त में काशी-हिंदू-विश्वविद्यालय में हिंदी-विभाग के अध्यक्ष हुए और संवत् १९९४ में वहाँ से अवकाशग्रहण कर लिया। संवत २००२ में आपका शरीरान्त काशी में हो गया।

सन् १८९३ में काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा की स्थापना, 'हिंदी-शब्द-सागर' और 'हिंदी-वैज्ञानिक कोष' का संपादन और 'भाषा-विज्ञान तथा साहित्यालोचन' आदि ग्रंथों का निर्माण, इनके महत्वपूर्ण कार्य हैं। 'हिंदी-भाषा और साहित्य', 'रूपक-रहस्य', 'गोस्वामी तुलसीदास', 'भारतेंदु हरिश्चंद्र' इनके अन्य ग्रंथ भी सुंदर हैं। हिंदी को साहित्यिक रूप देने, और हिंदी-साहित्य के प्रचार-प्रसार तथा पुनरुत्थान-कार्य करने का भी बहुत कुछ श्रेय इन्हीं को है। आपकी सेवाओं का सम्मान और आपका ऋण स्वीकार करने के लिए, 'हिंदी-शब्द-सागर' के निर्माण

के उपलक्ष्य में काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा ने आपको "कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह" समर्पित किया।

मौलिक ग्रंथों के शीर्षक देखने से ही हमें आपकी साहित्यिक प्रवृत्ति का पता लग जाता है। आपने 'भाषा-विज्ञान' और 'साहित्यालोचन' जैसे गूढ, गंभीर और मननशील विषयों पर ही अधिकतर लिखा है। अपने लिए ये विषय—या क्षेत्र बाबूजी ने बहुत पहले ही चुन लिये थे और नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका में, आरंभ में ही, इन पर कई लेख लिखे थे। दूसरी बात, इस संबंध में, यह भी ध्यान रखने योग्य है कि साहित्य के साधारण विद्यार्थियों को यह विषय समझाना ही बाबूजी का उद्देश्य रहा है।

बाबूजी की शैली मुख्यतः दो प्रकार की है। इन दोनों में गंभीरता समान रूप से वर्तमान हैं; हाँ, यथावसर उसमें परिवर्तन हो गया है। उसमें यद्यपि किसी प्रकार का चुलबुलाहट, व्यंग्य या कटाक्ष का गहरा पुट, जो शैली को विशेष रोचक बना देता है, नहीं है तथापि उनकी भाषा में जो साहित्यिकता, उनकी शैली में जो गंभीर गुरुत्व है वह उनके आचार्यपद के सर्वथा उपयुक्त है। आपकी यह शैली विचारात्मक निबंधों के ही अधिक योग्य जान पड़ती है।

भाषा विज्ञान, साहित्यालोचन, कविकोविदमाला तथा रूपक रहस्य की सृष्टि करके आपने जिस प्रकार की हिंदी शैली का जन्म दिया था उससे इनकी, गोस्वामी तुलसीदास तथा भाषा रहस्य की शैली भिन्न है। यह परिवर्तन इनके गौरव के लिए आवश्यक था। पहिले इनकी शैली के संबंध में लोगों का विचार था कि इन्हें सौकर्य प्राप्त ही नहीं हो सका है। 'साहित्यालोचन' अधिकतर एक अनुवाद ग्रन्थ है। उसकी शैली में जो दोष दिखाई पड़ते हैं वे बाबू श्यामसुन्दर दास की शैली के दोष न होकर उनके अनुवाद के दोष हैं। किसी बात को बारबार समझाना लेखक अपना कर्तव्य समझता है। इसी भाव से प्रेरित होकर इस ग्रंथ में पुनरुक्ति दोष आया है।

राय बहादुर श्यामसुंदर दास की सबसे बड़ी खूबी यह है कि शुद्ध हिंदी-तत्सम शब्दों से गुँथे हुए वाक्य साधारण रूप से उनकी लेखनी से बहते निकलते हैं और एक ओर जहाँ वे उर्दू फारसी के मेल से नितान्त बचते हैं उसी प्रकार दूसरी ओर गोविंदनारायण मिश्र के बड़े बड़े समासांत संस्कृत-गर्भित वाक्यों से भी वे बाल-बाल बचते हैं। आपकी शैली में गंभीरता और रक्षता है। विषय की दुरूहता ने शैली को और भी गम्भीर बना दिया है। साधारण लोगों की शैली में जो चुहलपन रहता है उसका यहाँ नितांत अभाव है। इनकी शैली बोझीली है। उसमें व्यंग्यात्मक आघात क्षमता कम है। जब वे किसी पर आक्षेप करते हैं तो बड़ी धीमी और संकेतात्मक भाषा में अपनी बात कहते हैं।

हिंदी-साहित्य के पुनरुत्थान और प्रचार में इन्होंने जितना काम अकेले किया है उतना बहुत से साहित्य महारथियों ने मिलकर भी नहीं किया।]

प्राकृतिक सृष्टि में जो कुछ देखा जाता है, किसी न-किसी रूप में वह सभी उपयोग में आता है। ऐसी एक भी वस्तु नहीं है जिसमें उपादेयता का गुण वर्तमान न हो। यह सम्भव है कि बहुत-सी वस्तुओं के गुणों को हम अभी तक न जान सके हों, पर ज्यों-ज्यों हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है, हम उनके गुणों को अधिकाधिक जानते जाते हैं। प्राकृतिक पदार्थों में उपयोगिता के अतिरिक्त एक और भी गुण पाया जाता है। वह उनका सौन्दर्य्य है। फल-फूलों, पशु-पक्षियों, कीट-पतंगों, नदी-नालों, नक्षत्र-तारों आदि सभी में हम किसी न किसी प्रकार का सौन्दर्य्य पाते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि संसार में अनुपयोगिता और कुरूपता का अस्तित्व ही नहीं। उपयोगिता और अनुपयोगिता, सुरूपता और कुरूपता सापेक्षिक गुण हैं।

एक के अस्तित्व से ही दूसरे का अस्तित्व प्रकट होता है। एक के बिना दूसरे गुण का भाव ही मन में उत्पन्न नहीं हो सकता। पर साधारणतः जहाँ तक मनुष्य की सामान्य बुद्धि जाती है, प्रकृति में उपयोगिता और सुन्दरता चारों ओर दृष्टिगोचर होती है।

इसी प्रकार मनुष्य द्वारा निर्मित पदार्थों में भी हम उपयोगिता और सुन्दरता पाते हैं। एक झोंपड़ी को लीजिए। वह शीत से, आतप से, वृष्टि से, वायु से हमारी रक्षा करती है। यही उसकी उपयोगिता है। यदि उस झोपड़ी के बनाने में हम बुद्धि-बल से अपने हाथ का अधिक कौशल दिखाने में समर्थ होते हैं तो वही झोपड़ी सुन्दरता का गुण भी धारण कर लेती है। इससे उपयोगिता के साथ-ही-साथ उसमें सुन्दरता भी आ जाती है।

जिस गुण या कौशल के कारण किसी वस्तु में उपयोगिता और सुन्दरता आती है उसकी 'कला' संज्ञा है। कला के दो प्रकार हैं—एक उपयोगी कला, दूसरी ललित कला। उपयोगी में बढ़ई, लुहार, कुम्हार, राज, जुलाहे आदि के व्यवसाय सम्मिलित हैं। ललित कला के अन्तर्गत वास्तु-कला, मूर्ति-कला, चित्र-कला, संगीत-कला और काव्य-कला—ये पाँच कला-भेद हैं। पहली अर्थात् उपयोगी कलाओं के द्वारा मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है और दूसरी अर्थात् ललित कलाओं के द्वारा उसके अलौकिक आनन्द की सिद्धि होती है। दोनों ही उसकी उन्नति और विकास के द्योतक हैं। भेद इतना ही है कि एक का सम्बन्ध मनुष्य की शारीरिक और आर्थिक उन्नति से है और दूसरी का उसके मानसिक विकास से।

यह आवश्यक नहीं कि जो वस्तु उपयोगी हो वह सुन्दर भी हो, परन्तु मनुष्य सौन्दर्योपासक प्राणी है। वह सभी उपयोगी वस्तुओं को यथाशक्ति सुन्दर बनाने का उद्योग करता है। अतएव बहुत-से पदार्थ ऐसे हैं जो उपयोगी भी हैं और सुन्दर भी हैं; अर्थात् वे दोनों श्रेणियों के अन्तर्गत आ सकते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं जो शुद्ध उपयोगी तो नहीं कहे जा सकते, पर उनके सुन्दर होने में सन्देह नहीं।

खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने, रहने, बैठने, आने, जाने आदि के सुभीते के लिए मनुष्य को अनेक वस्तुओं की आवश्यकता होती है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए उपयोगी कलाएँ अस्तित्व में आती हैं। मनुष्य ज्यों-ज्यों सभ्यता की सीढ़ी पर ऊपर चढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसकी अवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं। इस उन्नति के साथ-ही-साथ मनुष्य का सौन्दर्य-ज्ञान भी बढ़ता है और उसे अपनी मानसिक तृप्ति के लिए सुन्दरता का आविर्भाव करना पड़ता है। बिना ऐसा किए उसकी मनस्तृप्ति नहीं हो सकती। जिस पदार्थ के दर्शन से मन प्रसन्न नहीं होता वह सुन्दर नहीं कहा जा सकता। यही कारण है भिन्न-भिन्न देशों के लोग अपनी-अपनी सभ्यता की कसौटी के अनुसार ही सुन्दरता का आदर्श स्थिर करते हैं, क्योंकि सबका मन एक-सा संस्कृत नहीं होता।

ललित-कलाएँ दो मुख्य भागों में विभक्त की जा सकती हैं—एक तो वे जो नेत्रेन्द्रिय के सन्निकर्ष से मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं, और दूसरी वे जो श्रवणेन्द्रिय के सन्निकर्ष से उस तृप्ति का साधन बनती हैं। इस विचार से वास्तु (मन्दिर-निर्माण), मूर्त्ति (अर्थात्

तक्षण-कला) और चित्र-कलाएँ तो नेत्र द्वारा तृप्ति का विधान करनेवाली हैं और संगीत तथा श्रव्य काव्य कानों के द्वारा। पहली कला में किसी मूर्त्त आधार की आवश्यकता होती है, पर दूसरी में उसकी उतनी आवश्यकता नहीं होती। इस मूर्त आधार की मात्रा के अनुसार ही ललित-कलाओं की श्रेणियाँ, उत्तम और मध्यम, स्थिर की गई हैं। जिस कला में मूर्त आधार जितना ही कम रहेगा, उतनी ही उच्च-कोटि की वह समझी जायगी। इसी भाव के अनुसार हम काव्य-कला को सबसे ऊँचा स्थान देते हैं, क्योंकि उसमें मूर्त आधार का एक प्रकार से पूर्ण अभाव रहता है, और इसी के अनुसार हम वास्तु-कला को सबसे नीचा स्थान देते हैं; क्योंकि मूर्त आधार की विशेषता के बिना उसका अस्तित्व ही सम्भव नहीं। सच पूछिए तो इस आधार को सुचारु रूप से सजाने में ही वास्तु-कला को कला की पदवी प्राप्त होती है। इसके अनन्तर दूसरा स्थान मूर्ति-कला का है। उसका भी आधार मूर्त ही होता है; परन्तु मूर्त्तिकार किसी प्रस्तर-खण्ड या धातु-खण्ड को ऐसा रूप दे देता है जो उस आधार से सर्वथा भिन्न होता है। वह उस प्रस्तर-खण्ड या धातु-खण्ड में सजीवता की अनुरूपता उत्पन्न कर देता है। मूर्त्ति-कला के अनन्तर तीसरा स्थान चित्र-कला का है। उसका भी आधार मूर्त ही होता है। प्रत्येक मूर्त अर्थात् साकार पदार्थ में लम्बाई, चौड़ाई और मुटाई होती है। वास्तुकार अर्थात् भवन-निर्माण-कर्त्ता और मूर्त्ति-कार को अपना कौशल दिखाने के लिए मूर्त आधार के पुर्वोक्त तीनों गुणों का आश्रय लेना पड़ता है; परन्तु चित्रकार को अपने चित्रपट के लिए लम्बाई और चौड़ाई का ही आधार लेना पड़ता

है, मुटाई तो चित्र में नाम-मात्र ही को होती है। तात्पर्य यह कि ज्यों-ज्यों हम ललित-कलाओं में उत्तरोत्तर उत्तमता की ओर बढ़ते हैं, त्यों-त्यों मूर्त आधार का परित्याग होता जाता है। चित्रकार अपने चित्रपट पर किसी मूर्त पदार्थ का प्रतिबिम्ब अंकित कर देता है जो असली वस्तु के रूप, रंग आदि के समान ही देख पड़ता है।

अब संगीत के विषय में विचार कीजिए। संगीत में नाद परिमाण अर्थात् स्वरों का आरोह या अवरोह ही उसका मूर्त आधार होता है। उसे सुचारु रूप से व्यवस्थित करने से भिन्न-भिन्न रसों और भावों का आविर्भाव होता है। अन्तिम अर्थात् सर्वोच्च स्थान काव्य-कला का है। उसमें मूर्त आधार की आवश्यकता ही नहीं होती। उसका प्रादुर्भाव शब्द-समूहों या वाक्यों से होता है, जो मनुष्य के मानसिक भावों के द्योतक होते हैं। काव्य में जब केवल अर्थ की रमणीयता रहती है, तब तो मूर्त आधार का अस्तित्व नहीं रहता ; पर शब्द की रमणीयता आने से संगीत के सदृश ही नाद-सौन्दर्य-रूप मूर्त आधार की उत्पत्ति हो जाती है। भारतीय काव्य-कला में पाश्चात्य काव्य-कला की अपेक्षा नाद-रूप मूर्त आधार की योजना अधिक रहती है। पर यह अर्थ की रमणीयता के समान काव्य का अनिवार्य अंग नहीं है। अर्थ की रमणीयता काव्य-कला का प्रधान गुण है और नाद की रमणीयता उसका गौण गुण है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे ललित-कलाओं के सम्बन्ध में नीचे लिखी बातें ज्ञात होती हैं—(१) सब कलाओं में किसी-न-किसी प्रकार के आधार की आवश्यकता होती है।

ये आधार ईंट-पत्थर के टुकड़ों से लेकर शब्द-संकेतों तक हो सकते हैं। इस लक्षण में अपवाद इतना ही है कि अर्थ-रमणीय काव्य-कला में इस आधार का अस्तित्व नहीं रहता। (२) जिन उपकरणों द्वारा इन कलाओं का सन्निकर्ष मन से होता है, वे चक्षुरिन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय हैं। (३) ये आधार और उपकरण केवल एक प्रकार के मध्यस्थ का काम देते हैं जिनके द्वारा कला के उत्पादक का मन देखने या सुनने वाले के मन से सम्बन्ध स्थापित करता है और अपने भावों को उस तक पहुँचाकर उसे प्रभावित करता है; अर्थात् सुनने या देखने वाले का मन अपने मन के सदृश कर देता है। अतएव यह सिद्धान्त निकला कि ललित कला वह वस्तु या वह कारीगरी है जिसका अनुभव इन्द्रियों की मध्यस्थता द्वारा मन को होता है और जो उन बाह्यार्थों से भिन्न है जिनका प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियाँ प्राप्त करती हैं। इसलिए हम कह सकते हैं कि ललित कलाएँ मानसिक दृष्टि में सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण हैं।

इस लक्षण को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम प्रत्येक ललित कला के सम्बन्ध में नीचे लिखी तीन बातों पर विचार करें—(१) उनका मूर्त आधार; (२) वह साधन जिसके द्वारा यह आधार गोचर होता है; और (३) मानसिक दृष्टि में नित्य पदार्थ का जो प्रत्यक्षीकरण होता है वह कैसा और कितना है।

वास्तु-कला में मूर्त आधार निकृष्ट होता है अर्थात् ईंट, पत्थर, लोहा, लकड़ी आदि जिनसे इमारतें बनाई जाती हैं। ये सब पदार्थ मूर्त हैं, अतएव इनका प्रभाव आँखों पर वैसा ही

पड़ता है जैसा कि किसी दूसरे मूर्त पदार्थ का पड़ सकता है। प्रकाश, छाया, रङ्ग, प्राकृतिक स्थिति आदि साधन कला के सभी उत्पादकों को उपलब्ध रहते हैं। वे उनका उपयोग सुगमता से करके आँखों के द्वारा दर्शक के मन पर अपनी कृति की छाप डाल सकते हैं। इसके दो कारण हैं—एक तो उन्हें जीवित पदार्थों की गति आदि प्रदर्शित करने की आवश्यकता नहीं होती; दूसरे उनकी कृति में रूप, रङ्ग, आकार आदि के वे ही गुण वर्तमान रहते हैं जो अन्य निर्जीव पदार्थों में रहते हैं। यह सब होने पर भी जो कुछ वे प्रदर्शित करते हैं, उनमें स्वाभाविक अनुरूपता होने पर भी मानसिक भावों की प्रतिच्छाया प्रस्तुत रहती है। किसी इमारत को देखकर सज्ञान जन सुगमता से कह सकते हैं कि यह मन्दिर, मसजिद या गिर्जा है अथवा यह महल या मक़बरा है। विशेषज्ञ यह भी बता सकते हैं कि इसमें हिन्दू, मुसलमान अथवा यूनानी वास्तु-कला की प्रधानता है। धर्म-स्थानों में भिन्न-भिन्न जातियों के धार्मिक विचारों के अनुकूल उनके धार्मिक विश्वासों के निदर्शक कलश, गुम्बज, मिहराबें, जालियाँ, झरोखे आदि बनाकर वास्तुकार अपने मानसिक भावों को स्पष्ट कर दिखाता है। यही उसके मानसिक भावों का प्रत्यक्षीकरण है। परन्तु इस कला में मूर्त पदार्थों का इतना बाहुल्य रहता है कि दर्शक उन्हीं को प्रत्यक्ष देखकर प्रभावित और आनन्दित होता है, चाहे वे पदार्थ वास्तुकार के मानसिक भावों के यथार्थ निदर्शक हों, चाहे न हों; अथवा दर्शक उनके समझने में समर्थ हो या न हो।

मूर्ति-कला में मूल आधार पत्थर, धातु, मिट्टी या लकड़ी

आदि के टुकड़े होते हैं जिन्हें मूर्तिकार काट-छाँटकर या ढालकर अपने अभीष्ट आकार में परिणत करता है। मूर्तिकार की छेनी में असली सजीव या निर्जीव पदार्थ के सब गुण अन्तर्हित रहते हैं। वह सब कुछ अर्थात् रङ्ग, रूप, आकार आदि प्रदर्शित कर सकता है; केवल गति देना उसके सामर्थ्य के बाहर रहता है, जब तक वह किसी कल या पुर्जे का आवश्यक उपयोग न करे। परन्तु ऐसा करना उसकी कला की सीमा के बाहर है। इसलिए वास्तुकार से मूर्तिकार की स्थिति अधिक महत्त्व की है। उसमें मानसिक भावों का प्रदर्शन वास्तुकार की कृति की अपेक्षा अधिकता से हो सकता है। मूर्तिकार अपने प्रस्तर-खण्ड या धातु-खण्ड में जीवधारियों की प्रतिच्छाया बड़ी सुगमता से संघटित कर सकता है। यही कारण है कि मूर्ति-कला का मुख्य उद्देश्य शारीरिक या प्राकृतिक सुन्दरता को प्रकाशित करना है।

चित्र-कला का आधार कपड़े, कागज, लकड़ी आदि का चित्र-पट है, जिस पर चित्रकार अपने ब्रुश या कलम की सहायता से भिन्न-भिन्न पदार्थों या जीवधारियों के प्राकृतिक रूप, रंग और आकार आदि का अनुभव कराता है। परन्तु मूर्तिकार की अपेक्षा उसे मूर्त आधार का आश्रय कम रहता है। इसी से उसे अपनी कला की खूबी दिखाने के लिए अधिक कौशल से काम करना पड़ता है। वह अपने ब्रुश या कलम से समतल या सपाट सतह पर स्थूलता, लघुता, दूरी और नैकट्य आदि दिखाता है। वास्तविक पदार्थ को दर्शक जिस परिस्थिति में देखता है उसी के अनुसार अङ्कन द्वारा वह अपने चित्रपट पर एक ऐसा चित्र प्रस्तुत करता है जिसे देखकर दर्शक को चित्रगत

वस्तु असली वस्तु-सी जान पड़ने लगती है। इस प्रकार वास्तु-कार और मूर्तिकार की अपेक्षा चित्रकार को अपनी कला के ही द्वारा मानसिक सृष्टि उत्पन्न करने का अधिक अवसर मिलता है। उसकी कृति में मूर्त्तता कम और मानसिकता अधिक रहती है। किसी ऐतिहासिक घटना या प्राकृतिक दृश्य को अंकित करने में चित्रकार को केवल उस घटना या दृश्य को सजीवता देने और मनुष्य या प्रकृति की भावभंगी का प्रतिरूप आँखों के सामने खड़ा करने के लिए, अपना ब्रुश चलाना और परोक्ष रूप से अपने मानसिक भावों का सजीव चित्र सा प्रस्तुत करना पड़ता है। अतएव यह स्पष्ट है कि इस कला में मूर्त्तता का अंश थोड़ा और मानसिकता का बहुत अधिक होता है।

यहाँ तक तो उन कलाओं के सम्बन्ध में विचार किया गया, जो आँखों द्वारा मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं। अब अवशिष्ट दो ललित कलाओं, अर्थात् संगीत और काव्य पर विचार किया जायगा, जो कर्ण द्वारा मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं। इन दोनों में मूर्ति आधार की न्यूनता और मानसिक भावना की अधिकता रहती है।

संगीत का आधार नाद है जिसे या तो मनुष्य अपने कंठ से या कई प्रकार के यन्त्रों द्वारा उत्पन्न करता है। इस नाद का नियमन कुछ निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार किया गया है। इन सिद्धान्तों के स्थिरीकरण में मनुष्य-समाज को अनन्त समय लगा है। सङ्गीत के सप्त स्वर इन सिद्धान्तों के आधार हैं। वे ही संगीत-कला के प्राणरूप या मूल कारण हैं। इससे स्पष्ट है कि संगीत-कला का आधार या संवाहक नाद है। इसी नाद से

हम अपने मानसिक भावों को प्रकट करते हैं। संगीत की विशेषता इस बात में है कि उसका प्रभाव बड़ा विस्तृत है और वह प्रभाव अनादि काल से मनुष्य मात्र की आत्मा पर पड़ता चला आ रहा है। जंगली से जंगली मनुष्य से लेकर सभ्याति-सभ्य मनुष्य तक उसके प्रभाव के वशीभूत हो सकते हैं। मनुष्यों को जाने दीजिए, पशु-पक्षी तक उसका अनुशासन मानते हैं। संगीत हमें रुला सकता है, हमें हँसा सकता है, हमारे हृदय में आनन्द की हिलोरें उत्पन्न कर सकता है, हमें शोकसागर में डुबा सकता है, हमें क्रोध या उद्वेग के वशीभूत कर के उन्मत्त बना सकता है, शान्त रस का प्रवाह बहाकर हमारे हृदय में शान्ति की धारा बहा सकता है। परन्तु जैसे अन्य कलाओं के प्रभाव की सीमा है, वैसे ही सङ्गीत की सीमा है। सङ्गीत द्वारा भिन्न-भिन्न भावों या दृश्यों का अनुभव कानों की मध्यस्थता से मन को कराया जा सकता है, उसके द्वारा तलवारों की झनकार, पत्तियों की खड़-खड़ाहट, पक्षियों का कलरव, हमारे कर्णकुहरों में पहुँचाया जा सकता है। परन्तु यदि कोई चाहे कि वायु का प्रचण्ड वेग, बिजली की चमक, मेघों की घड़घड़ाहट तथा समुद्र की लहरों के आघात भी हम स्पष्ट देख या सुनकर उन्हें पचान लें तो यह बात सङ्गीत-कला के बाहर है। सङ्गीत का उद्देश्य हमारी आत्मा को प्रभावित करना है और इसमें यह कला इतनी सफल हुई है जितनी काव्य-कला को छोड़कर और कोई कला नहीं हो पाई। सङ्गीत हमारे मन को अपनी इच्छानुसार चञ्चल कर सकता है, और उसमें विशेष भावों का उत्पादन कर सकता है। इस

विचार से यह कला वास्तु, मूर्ति और चित्र-कला से बढ़कर है। एक बात यहाँ और जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। वह यह कि सङ्गीत-कला और काव्य-कला में परस्पर बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। उनमें अन्योन्याश्रय भाव है; एकाकी होने से दोनों का प्रभाव बहुत कुछ कम हो जाता है।

ललित कलाओं में सबसे ऊँचा स्थान काव्य-कला का है। इसका आधार कोई मूर्त पदार्थ नहीं होता। यह शाब्दिक संकेतों के आधार पर अपना अस्तित्व प्रदर्शित करती है। मन को इसका ज्ञान चक्षुरिन्द्रिय या कर्णेन्द्रिय द्वारा होता है। मस्तिष्क तक अपना प्रभाव पहुँचाने में इस कला के लिए किसी दूसरे साधन के अवलम्बन की आवश्यकता नहीं होती। कानों या आँखों को शब्दों का ज्ञान सहज ही हो जाता है। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि जीवन की घटनाओं और प्रकृति के बाहरी दृश्यों के जो काल्पनिक रूप इन्द्रियों द्वारा मस्तिष्क या मन पर अंकित होते हैं, वे केवल भावमय होते हैं; और उन भावों के द्योतक कुछ सांकेतिक शब्द हैं। अतएव वे भाव या मानसिक चित्र ही वह सामग्री है, जिसके द्वारा काव्य-कला-विशारद दूसरे के मन से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है। इस सम्बन्ध-स्थापना की वाहक या सहायक भाषा है जिसका कवि उपयोग करता है।

अपने को छोड़कर अथवा अपने से भिन्न संसार में जितने वास्तविक पदार्थ आदि हैं, उनका विचार हम दो प्रकार से करते हैं, अर्थात् हम अपनी जाग्रत अवस्था में समस्त सांसारिक पदार्थों का अनुभव दो प्रकार से प्राप्त करते हैं—एक तो

ज्ञानेन्द्रियों द्वारा उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति से, और दूसरे उन भावचित्रों द्वारा जो हमारे मस्तिष्क या मन तक सदा पहुँचते रहते हैं। मैं अपने बगीचे के बरामदे में बैठा हूँ। उस समय जहाँ तक मेरी दृष्टि जाती है, उस स्थान का, पेड़ों का, फूलों का, फलों का अर्थात् मेरे दृष्टि-पथ में जो कुछ आता है उन सब का, मुझे साक्षात् अनुभव या ज्ञान होता है। कल्पना कीजिए कि इसी बीच में मेरा ध्यान किसी और सुन्दर बगीचे की ओर चला गया जिसे मैंने कुछ दिन पहले कहीं देखा था, अथवा जिसकी कल्पना मैंने अपने मन में ही कर ली। उस दशा में इन बगीचों में मेरे पूर्व अनुभवों या उनसे जनित भावों का सम्मिश्रण रहेगा। अतएव पहले प्रकार के ज्ञान को हम बाह्य ज्ञान कहेंगे, क्योंकि उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध उन सब पदार्थों या जीवों से है जो मेरे अतिरिक्त वर्तमान हैं और जिनका प्रत्यक्ष अनुभव मुझे अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होता है। दूसरे प्रकार के ज्ञान को हम आन्तरिक ज्ञान कहेंगे, क्योंकि उसका सम्बन्ध मेरे पूर्व संक्षिप्त अनुभवों या मेरी कल्पना-शक्ति से है। ज्ञान का पहला विस्तार मेरी गोचर-शक्ति की सीमा से परिमित है, पर दूसरा विस्तार उससे अत्यन्त अधिक है। उसकी सीमा निर्धारित करना कठिन है। यह मेरे पूर्व अनुभव ही पर अवलम्बित नहीं, इसमें दूसरे लोगों का अनुभव भी सम्मिलित है; इसमें मेरी ही कल्पना-शक्ति सहायक नहीं होती, दूसरों की कल्पना-शक्ति भी सहायक होती है। जिन पूर्ववर्ती लोगों ने अपने-अपने अनुभवों को अंकित करके उन्हें रक्षित या नियन्त्रित कर दिया है, चाहे वे इमारत के रूप में हों, चाहे मूर्ति के, चाहे चित्र के

और चाहे पुस्तकों के, सबसे सहायता प्राप्त करके मैं अपने ज्ञान की वृद्धि कर सकता हूँ। पुस्तकों द्वारा दूसरों का जो संचित ज्ञान मुझे प्राप्त होता है और जो अधिक काल तक मानव-हृदय पर अपना प्रभाव जमाए रहता है, उसी की गणना हम काव्य या साहित्य में करते हैं।

हम पहले ही इस बात पर विचार कर चुके हैं कि किस ललित कला में कितना मूर्त आधार है और कौन किस मात्रा में मानसिक आधार पर स्थित है। ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि काव्य-कला को छोड़कर शेष चारों ललित कलाएँ बाह्य ज्ञान का आश्रय लेकर मानसिक भावनाएँ उत्पन्न करती हैं, केवल काव्य-कला आन्तरिक ज्ञान पर पूर्णतया अवलम्बित रहती है। अतएव काव्य का सम्बन्ध या आधार केवल मन है। एक उदाहरण देकर इस भाव को स्पष्ट कर देना अच्छा होगा। मेरे सामने एक ऐतिहासिक घटना का चित्र उपस्थित है जिसे एक प्रसिद्ध चित्रकार ने अङ्कित किया है। मान लीजिए कि यह चित्र किसी बड़े युद्ध की किसी मुख्य घटना का है। यदि मैं उस घटना के समय स्वयं वहाँ उपस्थित होता तो जो कुछ मेरी आँखें देख सकतीं, वही सब उस चित्र में मुझे देखने को मिलता है। मैं उस चित्र में सिपाहियों की श्रेणीबद्ध पंक्तियाँ, रिसालों का जमघट, सैनिकों की तलवारों की चम-चमाहट, उनके अफसरों की भड़कीली वर्दियाँ, तोपों की अग्नि-वर्षा, सिपाहियों का आहत होकर गिरना—यह सब देखता हूँ और मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मैं उस घटना के समय उपस्थित होकर जो कुछ देख सकता था, वह सब

उस चित्रपट पर मेरी आँखों के सामने उपस्थित है। पर यदि मैं उसी घटना का वर्णन इतिहास की किसी प्रसिद्ध पुस्तक में पढ़ता हूँ तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि इतिहास-लेखक की दृष्टि किसी एक स्थान या समय की सीमा से घिरी हुई नहीं है। वह सब बातों का पूरा विवरण मेरे सम्मुख उपस्थित करता है। वह मुझे बतलाता है कि कहाँ पर लड़ाई हुई, लड़ने-वाले दोनों दल किस देश और किस जाति के थे, उनकी संख्या कितनी थी, उनमें लड़ाई क्यों और कैसे हुई, उनके सेनानायकों ने अपने पक्ष की विजय-कामना से कैसी रणनीति का अवलम्बन किया, कहाँ तक वह नीति सफल हुई, युद्ध का तात्कालिक प्रभाव क्या पड़ा, उसका परिणाम क्या हुआ, और अन्त में उस युद्ध ने लड़नेवाली दोनों जातियों, तथा अन्य देशों और उनके भविष्य जीवन पर क्या प्रभाव डाला। परन्तु वह इतिहास-लेखक उस लड़ाई का वैसा हृदय-ग्राही और मनोमुग्धकारी स्पष्ट चित्र मेरे सम्मुख उपस्थित करने में उतना सफल नहीं हुआ जितना कि चित्रकार हुआ है। पर यह भाव, यह चित्रण तभी तक मुझे पूरा-पूरा प्रभावित करता है जब तक मैं उस चित्र के सामने खड़ा या बैठा उसे देख रहा हूँ। वह मेरी आँखों से ओझल हुआ कि उसकी स्पष्टता का प्रभाव मेरे मन से हटने लगा। इतिहासकार की कृति का अनुभव करने में मुझे समय तो अधिक लगाना पड़ा परन्तु मैं जब चाहूँ तब अपनी कल्पना या स्मरणशक्ति से उसे अपने अन्तःकरण के सम्मुख उपस्थित कर सकता हूँ। अतएव साहित्य या काव्य का प्रभाव चित्र की अपेक्षा अधिक स्थायी और पूर्ण होता है। इसका कारण

यही है कि चित्र में मूर्त आधार वर्तमान है और बाह्य ज्ञान पर अवलम्बित है, परन्तु साहित्य में मूर्त आधार का अभाव है और वह अन्तर्ज्ञान पर अवलम्बित है। संक्षेप में, हम चित्र को देखकर यह कहते हैं कि 'मैंने लड़ाई देखी' पर उसका वर्णन पढ़कर हम कहते हैं कि 'मैंने उस लड़ाई का वर्णन पढ़ लिया' या 'उस लड़ाई का ज्ञान प्राप्त कर लिया।'

हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी

(लेखक—स्वर्गीय श्री पंडित पद्मसिंह शर्मा)

पण्डित पद्मसिंह शर्मा का जन्म भूमिहार-ब्राह्मण-परिवार में फागुन सुदी १२, १९३३ को नायक नगला (बिजनौर) में हुआ। आपके पिता पण्डित उमराव सिंह अपने गाँव में प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। शर्माजी ने हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत, फारसी और उर्दू का विशेष रूप से अध्ययन किया था। उनकी रचानाओं और शैली पर इसका प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। आपने पहले पहले गुरुकुल काँगड़ी से महात्मा मुंशीराम (आगे चलकर स्वामी श्रद्धानन्द) के पत्र 'सत्यवादी' का सम्पादन किया था। फिर अजमेर के 'परोपकारी' और 'अनाथरक्षक' का। वे कुछ दिन महाविद्यालय, ज्वालापुर में अध्यापक रहे थे और साथ ही 'भारतोदय' का सम्पादन भी करते थे। आपकी आलोचनात्मक प्रसिद्ध पुस्तक 'बिहारी सतसई की भूमिका' पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से १२००) का प्रथम मङ्गलाप्रसाद पुरस्कार मिला था। आप संवत् १९८५ में मुजफ्फरपुर में हिन्ही-साहित्य-सम्मेलन के सभापति भी हुए थे। आपकी अन्य रचनाएँ हैं—'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी', 'पद्म पराग' और 'प्रबन्ध मञ्जरी'।

शर्माजी सरल, निष्कपट, मिलनसार, निर्भीक और भावुक साहित्यिक थे। आप को उर्दू, हिन्दी, फारसी और संस्कृत के अगणित चुने हुए, सुन्दर पद्य कण्ठस्थ थे। विनोद-प्रियता और मनोरञ्जन आपके स्वभाव के विशेष आकर्षक गुण थे। ७ अप्रैल १९३१ को प्लेग हो जाने से आपका देहान्त हो गया।

शर्माजी की रचनाओं में उनके विस्तृत साहित्य-ज्ञान का दर्शन होता है। वे कविता के रसिक और पारखी थे। आप आलोचना करने में जैसे एक ओर अपनी पसन्द के कवि की प्रशंसा करने में नहीं थकते थे, वैसे

ही जिस पर आपका कोप होता था उसको आप इतना बनाते थे, कभी-कभी उस पर इतनी कटूक्तियाँ लिखते थे कि लोग घबरा जाते थे। हिन्दी में चुभते हुए व्यङ्ग्य और कटाक्ष-पूर्ण आलोचना के जिसमें रचना को छोड़कर रचनाकार की खबर ली जाती है—प्रवर्तक शर्माजी ही थे। परन्तु जब वे गम्भीर होकर आलोचना लिखते थे तब उनका पाण्डित्य देखते ही बनता था। 'बिहारी सतसई की भूमिका' में ये दोनों प्रकार की शैलियाँ मिलती हैं। 'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी' में दूसरी। आपकी आलोचना में गम्भीर विवेचन का अभाव भी रहता था। उसमें शब्दों की वाह-वाह और तड़कभड़क ही रहती थी। शर्माजी उर्दू के शब्दों का प्रयोग भी कभी कभी अधिक कर दिया करते थे। समष्टि रूप से, आपकी शैली में जीवन, प्रवाह, आवेग और ओज पाया जाता है।

पद्मसिंह शर्मा अपनी तुलनात्मक आलोचनाओं से प्रसिद्ध हो गए हैं। उनमें काव्य की अनुभूति थी। आपकी भाषा में एक अजीब तड़क-भड़क रहती थी और हिंदी के साथ उर्दू का अभिन्न मिश्रण मिलता था। यह सच है कि कला के वे गहरे अनुशीलक न थे। इसका प्रमाण इनकी आलोचनापद्धति और उसकी भाषा में दृग्गोचर है। "आह आह" और "वाह वाह" की बाढ़ आ जाने से इनकी विवेचना-प्रणाली सफल नहीं कही जा सकती और न वह विशेष प्रभावात्मक ही है। इन कारणों से आपका तथ्यातथ्य निरूपण अंतर्भेदी न होकर उच्छृंखल कहा जायगा। वास्तव में आपका प्रवेश और क्षेत्र आलोच्य रचना के शाब्दिक धरातल तक ही व्याप्त है, शब्दों की भव्यरूपकता अथच कलाकार की आत्मानुभूति तक पहुँचते पहुँचते उनका भाव-प्रकाशन निर्बल पड़ जाता है। कवि की प्रशंसा में वे बहुत कुछ इतिवृत्तात्मक (Matter of fact) ही रहते थे। इसमें संदेह नहीं कि तुलनात्मक आलोचना की परिपाटी हिंदी में वस्तुतः पद्मसिंह शर्मा ही से आरंभ होती है, किंतु उनकी आलोचना मनन साध्य कहीं पर भी न हो पाई है।

उनमें हमें "बिना ज़रूरत के जगह जगह चुहलबाजी और शाबाशी का महफ़िली तर्ज़" मिलता है। काशी के दीनजी ने भी आलोचना-पद्धति में बहुत हद तक आपका अनुकरण किया है। किंतु उनके सहज भावमय निबंधों की भाषा अपेक्षाकृत अधिक संयत और ओजमयी है। आपने अपने अवसान के कुछ पूर्व ही एक व्याख्यान दिया था जो पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुआ है। इस पुस्तक का नाम है "हिंदी-उर्दू-हिंदुस्तानी" और यह हिंदुस्तानी एकेडमी से प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक में भाषा के संबंध में यथेष्ट चर्चा हुई है; किंतु इसमें वास्तव में उनका स्वतंत्र अंश बहुत कम है, अधिकांशतः उर्दू के मौलवी मुल्लाओं तथा अन्य विद्वानों के कथन व विचार उल्लिखित हैं।]

हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी का झगड़ा कोई सौ बरस से चल रहा है, आज तक इसका फैसला नहीं हुआ कि इनमें से भाषा का कौन-सा रूप राष्ट्रभाषा समझा जाय और कौन-सी लिपि राष्ट्रलिपि ठहरा ली जाय!

हिंदीवाले चाहते हैं कि ऐसी विशुद्ध भाषा का प्रचार हो जिसमें संस्कृत तत्सम शब्दों का प्राचुर्य रहे, और यदि सरलता अपेक्षित हो तो विशुद्ध तद्भवों से ही काम लिया जाय; विदेशी भाषा के शब्दों का भरसक बहिष्कार हो, प्रत्युत जहाँ आवश्यकता विवश करे वहाँ संस्कृत से ही पारिभाषिक शब्द भी गढ़ लिए जायँ। कुछ विशुद्धतावादियों के मत में तो 'लालटेन' का प्रयोग करना अशुद्धि के अंधकार में पड़ना है, उसके स्थान में वह 'दीपमन्दिर' या 'हस्तकाचदीपिका' का प्रकाश अधिक उपयुक्त समझेंगे।

उर्दूवाले नये-नये मुअर्रब और मुफर्रस अलफाज तक से

गुरेज़ करते हैं और उनके बजाय अरबी और फ़ारसी की मुस्तनद लुग़ात से इस्तलाहात नौ-ब-नौ से अपने तर्जेतहरीर में ऐसा तसन्नौ पैदा करते हैं कि उनका एक एक फ़िकरा 'गालिब' के बाज मुश्किल मिसरे की पेचीदगी पर भी गालिब आ जाता है, और बसा औकात अलफाज की नशिस्त ऐसी होती है कि जुमले के जुमले महज इतनी बात के मोहताज होते हैं कि खालिस फारसी (अजमी) शक्ल अख्तियार करने में सिर्फ हिन्दी अफआल में तबदील कर दिया जाय और बस।

विशुद्ध हिंदी और फसीह उर्दू-ए-मुअल्ला की एक दरम्यानी सूरत का नाम "हिंदुस्तानी" कहा जाता है, जिसमें सकील और गैर-मानूस अरबी फारसी अलफाज और दुरूह तथा दुर्बोध संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों से जहाँ तक हो सके बचने की कोशिश की जाती है और इस पर ध्यान रक्खा जाता है कि नित्य के कारबार में जो शब्द और मुहावरे बोलचाल में काम आते हैं वही पोथियों में और अखबारों में भी बरते जाएँ।

इन तीनों रूपों में एक एक कठिनाई है। विशुद्ध हिंदी और खालिस उर्दू पुस्तकों और समाचार-पत्रों के बाहर, बहुत ही कम काम में आती है। पंडितों के व्याख्यान और मोलवियों के खुतबे मुश्किल से सुननेवालों की समझ में आते हैं, और इनका दायरा बहुत ही महदूद है—क्षेत्र अत्यंत संकुचित है। हिंदुस्तानी में यह कठिनाई है कि शास्त्रों के गूढ़ और गहन विषयों पर जब कभी कोई ग्रंथ या लेख लिखना पड़ता है तो लेखक अपने शब्द-भंडार को काफी नहीं पाता और अपने 'हिंदु-

स्तानी' के दायरे को छोड़कर कभी उसे खालिस उर्दू की तरफ़ और कभी विशुद्ध हिंदी की ओर झुकना पड़ता है और उनसे परिभाषाएँ या इस्तलाहें उधार लेनी पड़ती हैं।

खालिस और विशुद्ध फिरके और संप्रदायवाले जनता या अवाम को इतना ऊँचा उठाना चाहते हैं कि उनकी मामूली बोलचाल ऐसी फसीह और परिमार्जित हो जाय कि बोली जानेवाली और लिखी जानेवाली भाषा में भेद न रहे। हिंदुस्तानी के पैरो यह दावा करते हैं कि बोलचाल की भाषा स्वाभाविक रास्ते पर चलेगी, बनावट से वह जबरदस्ती ऊँचे नहीं उठाई जा सकती। विशुद्ध पक्षवाले हिंदुस्तानी की यह निर्बलता बतलाते हैं कि उसका भंडार इतना रीता है कि वैज्ञानिक ग्रंथों की रचना तो क्या उसमें उच्च कोटि की कविता भी नहीं हो सकती,—वह विशेष प्रकार की अनुभूतियों और अभिव्यक्तियों के प्रकाशन का साधन नहीं बन सकती—खयाल अपने जोर में मनचाही ऊँची उड़ान नहीं ले सकते; हिंदुस्तानी में कुछ स्वाभाविक कविता हो सकती है पर वह अनंत की ओर दौड़ नहीं लगा सकती,—अपने संकीर्ण क्षेत्र में ही उछल कूद कर रह जाती है। ऐसी दशा में "हिंदुस्तानी" भाषा प्रमाण या आदर्श मान ली जाय, तो साहित्य और ज्ञान-विज्ञान का सर्वसाधारण से कोई संबंध नहीं रह जाएगा। संक्षेप में वर्तमान झगड़े का यही स्वरूप है।

हमारे देश में विदेशियों से व्यवहार, व्यापार और संघर्ष हजारों बरस से चला आ रहा है, और उनमें भी मुसलमानों से विशेष रूप से, लगभग एक हजार साल से, संबंध हो गया है।

मेरी समझ में जो लोग केवल राजनीतिक संबंध या सियासी ताल्लुकात पर ही जोर देते हैं, वे भूलते हैं। मुसलमानों से, सामाजिक और व्यापारिक संबंध, राजनीतिक की अपेक्षा अधिक रहा है। लड़ाइयाँ निरंतर नहीं होती रहतीं और राज-काज भी हर शहर और हर बस्ती में इतना सार्वजनिक प्रभाव डालनेवाला और व्यापक नहीं हुआ करता परंतु बाहर से बस जानेवाले विदेशी, बस्तियों के भीतर कभी बिलकुल अलग अलग—चुपचाप मौन साध कर—नहीं रह सकते। अपने पड़ोसियों से मेल-जोल, लेन-देन, बनिज-व्यापार, कारबार और व्यवहार किए बिना उनका काम नहीं चल सकता, और यह सब कुछ मूक या नीरव भाषा में होना असंभव है। इस प्रकार के संबंध अधिक व्यापक, अधिक प्रभावशाली और निरंतर बने रहनेवाले—चिरस्थायी या देरपा—होते हैं, इनका प्रभाव भाषा पर स्थायी और अमिट होता है। इसीलिये हमारी यह सहेतुक धारणा है कि राजनीतिक की अपेक्षा सामाजिक संबंध का भाषा के ऊपर बहुत गहरा असर पड़ता है। यह बात मैं मानता हूँ कि साधारण श्रेणी के विदेशियों से सबसे अधिक संपर्क, सेनावाली बस्तियों और बाजारों में होता है। परंतु साथ ही यह बात भी याद रखनी चाहिये कि जब विदेशियों की एक बड़ी संख्या कहीं आकर बस जाती है, तो इसका काम सिर्फ सेना-विभाग में नौकरी करने से नहीं चल सकता; फिर ऐसी बस्तियों में सिपाहियों के सिवाय पेशेवर, रोजगारी, मजदूर, किसान और दफ्तरों में काम करनेवाले अमले भी रहते हैं, उन सबका भी भाषा पर सम्मिलित प्रभाव पड़ता है।

फारसी, अरबी, तुर्की, पुर्तगाली और फिरंगी शब्द, बँगला, मराठी, गुजराती आदि और भाषाओं में भी मिले-जुले पाए जाते हैं। जहाँ इनकी संख्या बहुत बढ़ी हुई है, वहाँ इनके अधिक की शैली भी पृथक् हो गई है। जैसे गुजराती में हिंदू-गुजराती के साथ साथ, पारसी-गुजराती की भी एक पृथक् शैली चलती है, जिसमें फारसी शब्दों की बहुतायत है। सौभाग्य से वहाँ लिपि-भेद का प्रश्न कभी पैदा ही नहीं हुआ, नहीं तो शायद हिंदी उर्दू के-सा झगड़ा वहाँ भी खड़ा हो जाता। बंगला में, नित्य की बोलचाल में, 'दरकार', 'पोशाक', 'आईना', 'बालिश' इत्यादि फारसी के सैकड़ों शब्द काम में आते हैं। 'आलमारी', 'बासन' (बरतन), 'बजरा' (डोंगी), 'बिस्कुट', 'काजू' (फल), 'फीता', 'गोदाम', 'गिरजा', 'इंगला (रा) ज' (अंगरेज), 'जुलाब', 'जानाला' (जँगला), 'नीलाम', 'लेबू' (नीबू), 'मार-तौल' (हथौड़ा), 'मास्तूल' (मस्तूल), 'पादरी', 'पिस्तौल', 'तामाक' (तमाकू), 'बियाला' (बाजा), 'अचार' (अचार चटनी), 'चाबी' (कुंजी), 'तौलिया', 'कुर्त्ता', आदि अनेक पुर्तगाली शब्द, जो बँगला में प्रचलित हैं थोड़े से हेर-फेर के साथ हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि अन्य भारतीय भाषाओं में भी व्यवहृत होते हैं। बात यह है कि विदेशियों का संपर्क, जिस प्रांत में जितनी कमी बेशी के साथ रहा है, उसी हिसाब से उन-उन प्रांतों की बोलियों में विदेशी शब्द भी घुलमिल गए हैं। भारत की कोई प्रांतीय भाषा ऐसी नहीं है जिसमें विदेशी शब्दों की एक अच्छी संख्या शामिल न हो। यह सब कुछ होते हुए भी किसी विदेशी भाषा ने ऐसी प्रबल चढ़ाई हमारे देश पर

नहीं को है कि किसी देशी बोली को एक-दम निकाल कर बाहर कर दे और खुद उसकी जगह ले ले। जिस तरह विदेशी आकर बस जाता है और अपनाए हुए देश की भाषा, संस्कृति, चाल-ढाल, रीति-रिवाज, वेष-भूषा ग्रहण कर लेता है, उसी तरह उसके साथ आए हुए बाहरी शब्द भी अंगीकृत देश के शब्दों का रंगरूप ग्रहण करके उसके व्याकरण की अधीनता स्वीकार कर लेते हैं। इस तरह, चाहे वह विजयी जातियों के साथ ही क्यों न आए हों, पर विजित देश की शब्द-राशि में मिलकर अपनी पृथक् सत्ता को गवाँ ही बैठते हैं या यों कहना चाहिये कि देशी भाषा के निरंतर आक्रमण, संघर्ष और घेरघार से विजित होकर—हार मान कर—आत्म-समर्पण कर देते हैं और यथा-नियम अपनी 'शुद्धि' करा कर देशी चोला धारण कर लेते हैं।

ख़ालिस उर्दू के सैकड़ों शब्द ऐसे हैं जो अपने पूर्व रूप को एक-दम खो बैठे हैं—अपने पहले वाच्यार्थ से अब कोई सरोकार नहीं रखते—बल्कि कइयों का तो रूप ऐसा बिगड़ गया है कि वे पहचाने तक नहीं जाते कि किस देश से आए हुए हैं, और किस जाति या वंश के भूषण हैं। कई की सूरत शक्ल तो बदस्तूर वही है पर मतलब-मानी में कहीं के कहीं जा पहुँचे हैं। इसके कुछ उदाहरण—

"फ़ैलसूफ़" यूनानी शब्द है, अरबी में हकीम का और अँग-रेज़ी में फ़िलासफ़र या डाक्टर का जो अर्थ है वही यूनानी में इसका है; पर उर्दू में आकर ग़रीब 'मक्कार' और दग़ाबाज़ बन गया! फ़ैलसूफ़ी = मक्कारी !!

"ख़सम"—अरबी में प्रतिद्वन्द्वी या शत्रु को कहते हैं। उर्दू

में इसने प्रियतम पति का स्थान ग्रहण कर लिया, शत्रु से परम मित्र हो गया! रूप वही है पर अर्थ में कितना अंतर!

"सैर" "तमाशा"—अरबी में फ़कत रफ्तार (गतिसामान्य) को कहते हैं। उर्दू में कहते हैं, "चलो बाग़ की सैर देख आयें।" अजब तमाशा है!

"तकरार"—अरबी में दुबारा कहने (पुनरुक्ति) या काम करने को कहते हैं, उर्दू में 'तकरार' तड़ाई-झगड़ा है।

"ख़ातिर"—अरबी फ़ारसी में दिल या ख़याल के मौके पर बोलते हैं। उर्दू में कहते हैं, इतना हमारी ख़ातिर से मान जाओ; या उनकी बड़ी ख़ातिर की।

"रोज़गार"—फारसी में ज़माने (समय या काल) को कहते हैं; हिंदी में 'रोज़गार' नौकरी-धन्धा है।

"मुफ़लिस"—फ़ारसी में कंगाल को कहते हैं पर कलकत्ते में उसे कहते हैं जिसके स्त्री न हो। जब कोई किसी मकान में भाड़े के लिए कमरा या कोठरी तलाश करता है, तो घरवाला पूछता है—"आप गृहस्थ हैं या मुफलिस?' इस मुफ़लिसी के मारे कितने ही बेचारों को घर भाड़े नहीं मिलता।

'पावरोटी'—डबल रोटी को कहते हैं। कारण यह है कि पुर्तगाली भाषा में 'पाओं' रोटी का नाम है। परंतु हमारी भाषा में 'पाओं' शब्द 'पाव' के रूप में एक खास किस्म की रोटी का नाम पड़ गया। 'पाव' के साथ 'रोटी' का प्रयोग पुनरुक्ति है, पर इसका प्रचार हो गया है। सिर्फ पाव कहने से रोटी कोई न समझेगा। इत्तफाक से डबल रोटी, जिसके असली मानी मोटी और फूली हुई रोटी के हैं, शायद यह अर्थ रखता है

कि 'पाव रोटी' में 'रोटी' शब्द डबल यानी दो बार आया हुआ है !!

पुर्तगाली 'फाल्टो' के मानी हमारे 'फालतू' में ज्यों के त्यों हैं, पर उच्चारण बदल गया है।

इसी प्रकार अरबी फारसी के वे शब्द, जो हिंदी या हिंदुस्तानी में आ गए हैं, उनका वही रूप शुद्ध है जिसमें वे बोले जाते हैं। उनके असल रूप में सही उच्चारण करना सर्वसाधारण के लिये संभव भी नहीं है; जैसे—'स्वाद' और 'से' या 'ज़े' 'ज़ाल' 'ज़ो' और 'ज़्वाद' वाले शब्दों का सही तलफ्फुज़ मामूली हिंदुस्तानी मोलवियों के लिये भी मुश्किल है, सर्वसाधारण पढ़े-लिखों की तो बात ही क्या है। इस लिये, यदि, हिंदुस्तानीपन का ध्यान रक्खा जाय तो उच्चारण-भेद के कारण जो झगड़ा भाषा में पैदा हो गया है, वह आसानी से बहुत कुछ मिट सकता है। लेकिन दिक्कत यह है कि असूल के तौर पर—सिद्धांत रूप में—इस बात को ठीक मान लेने पर भी इस पर अमल या व्यवहार नहीं हो रहा, 'पंचों का कहना सिर-माथे पर', पर 'परनाला वहीं बहेगा' वाली बात हो रही है ! केवल विदेशी भाषाओं के शब्दों का उच्चारण-भेद ही झगड़े का कारण नहीं है, अपनी भाषा के ठेठ हिंदुस्तानी शब्दों के बारे में भी यही बात है। प्रांतीय भेद के कारण एक ही शब्द भिन्न-भिन्न रूप में बोला जाता है यद्यपि लिखने में उसका एक ही रूप रहता है पर बोलने में लहजा या टोन जुदा-जुदा होती है। यह बात कुछ हमारी हिंदी ही के संबंध में नहीं है, संस्कृत और अँगरेजी के उच्चारण में भी है। बंगालियों का संस्कृत उच्चारण बंगला ढंग का होता है,

दक्षिणियों का दक्षिणी ढंग का और मदरासियों का इन दोनों से जुदा अपने ढंग का है। राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में संस्कृत और प्राकृत के उच्चारण-भेद पर बहुत कुछ लिखा है। किस प्रांत के लोग प्राकृत का उच्चारण अच्छा करते हैं और किस जगह के संस्कृत का इस पर खूब बहस करके संस्कृत और प्राकृत के लिये पांचाल प्रांत तथा संयुक्त प्रदेश (मध्य प्रदेश) वालों का उच्चारण आदर्श माना है।

एक सज्जन के दाहने पाँव के अँगूठे में पत्थर से टकरा कर चोट लग गई थी, उस पर पनकपड़ा बाँध रक्खा था, लँगड़ा कर चलते थे। आप कुछ संस्कृत भी जानते हैं और विशुद्ध हिंदी के परम पक्षपाती हैं। मैंने पूछा, "आपके पाँव में क्या हुआ ?" बोले—"दक्षिणपाद के अंगुष्ठ में प्रस्तर के आघात से व्रण हो गया है, उस पर आर्द्र वस्त्र वेष्टन कर रक्खा है, इससे लाभ की पूर्णतया संभावना है ; अन्य प्रकार की अप्राकृत चिकित्सा-प्रणाली का मैं विरोधी हूँ।"

हिंदी-उर्दू के झगड़े में नाम-भेद भी एक मुख्य कारण बना हुआ है। हमारी भाषा के विभिन्न नामों की उत्पत्ति और उनके प्रचार के इतिहास पर विचार करना यहाँ उचित प्रतीत होता है।

उर्दू के बहुत-से हिमायती, इस रोशनी के जमाने में भी, यह कहते सुने जाते हैं कि हिंदी एक नया और कल्पित नाम है, जो हिंदुओं ने उर्दू का बायकाट करने की गरज से गढ़ लिया है। दर असल हिंदी कोई भाषा नहीं, उर्दू ही इस देश की असली जबान है।

काव्यपद्धति और हिंदी का श्रेष्ठ कवि

(लेखक—स्वर्गीय श्री पंडित रामचंद्र शुक्ल)

[आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का जन्म अगोना (जिला बस्ती) के एक कुलीन सरयूपारीण गर्ग-गोत्रज ब्राह्मण-परिवार में आश्विन की पूर्णिमा संवत् १९४१ को हुआ था। छः वर्ष की अवस्था में उन्होंने विद्याध्ययन आरंभ किया और सन् १९०१ में मिर्जापुर से एंट्रेन्स परीक्षा में सफलता प्राप्त की। गृहस्थी की झंझटों के कारण वे आगे न पढ़ सके। उन्होंने एक बार वकालत में परीक्षा पास करने की चेष्टा की थी; किंतु ईश्वर ने तो उनको साहित्य संसार में महत्वपूर्ण काम करने के लिये निर्माण किया था, फलतः परीक्षा में असफलता के कारण शुक्लजी वकील न बन सके। बाल्यावस्था से ही मिर्जापुर के बाहिरी मुहल्ले, रमई पट्टी, में रहने के कारण शुक्लजी विन्ध्यगिरि के प्राकृतिक सौंदर्य की ओर आकृष्ट हो गये थे। उनके मुहल्ले में पंडित विन्ध्येश्वरीप्रसाद नामक एक अच्छे संस्कृतज्ञ पण्डित रहते थे। वे कुछ नवयुवकों को अपने साथ नित्य जंगल की ओर ले जाते और चतुर्दिक् फैली हुई हरियाली के मध्य निखरी चट्टानों पर बैठकर उन्हें अपने असाधारण सुरीले स्वर में वाल्मीकि, भवभूति, कालिदास आदि कृत प्रकृति के वर्णनात्मक श्लोक सुनाया करते। शुक्लजी प्रकृति के पुजारियों की इस मंडली में सदैव रहते। उनके हृदय में तभी से प्रकृति के स्वभाविक, अकृत्रिम रूप के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया, जो उत्तरोत्तर दृढ़तर होता गया। इसी साहित्यक मण्डली के संसर्ग से उन्हें संस्कृत और हिन्दी के काव्यों से भी स्नेह हुआ। कुछ समय तक मिर्जापुर के मिशन स्कूल में अध्यापक रहने के बाद जब वे नागरी प्रचारिणी सभा के द्वारा प्रकाशित होनेवाले 'हिंदी शब्द-सागर' के सम्पादन के लिए

काशी गये तब उनकी प्रतिभा और ज्ञान को सम्यक् विकास और विस्तार के लिए उपयुक्त क्षेत्र मिला। 'शब्दसागर' के वर्तमान रूप का अधिकांश श्रेय शुक्लजी को ही है—यह उसके प्रधान सम्पादक श्री श्यामसुन्दर दासजी ने उसकी भूमिका में स्वीकार किया है। शुक्लजी ने कई वर्ष तक 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का भी सम्पादन किया था। जब काशी के हिंदू-विश्वविद्यालय में उपाधि परीक्षाओं के लिए हिंदी-साहित्य की शिक्षा की भी व्यवस्था हुई, तब उसमें शुक्लजी की नियुक्ति से उसके हिंदी-विभाग का महत्व बढ़ा। कुछ समय के पश्चात् जुलाई सन् १९३७ से उक्त विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए थे। उसी पद की प्रतिष्ठा की वृद्धि करते हुए उन्होंने, खेद है २ फरवरी १९४१ (माघ शुक्ला ६, १९९७) को रात में ८ बजे के लगभग दमा के आक्रमण से इह लोक की लीला समाप्त की।

शुक्लजी सादगी, सरलता और निष्कपटता की मूर्ति थे। वे गम्भीर और मनन-शील होते हुए भी बड़े सहृदय थे। उनके ग्रन्थों के पढ़ने पर उनके प्रति जो श्रद्धा उत्पन्न होती है वह उनसे मिलने पर पुष्ट हो जाती थी। शुक्लजीकृत साहित्यसमीक्षा में यत्रतत्र जैसी चुभती हुई सटीक, किंतु गम्भीर, व्यंग्योक्तियाँ मिलती हैं, और उन्हें पढ़कर जो आनंद मिलता है वह उनकी कृतियों से पूर्णतया परिचित ही जान सकता है। वैसी ही उक्तियाँ उनसे मिलने पर सुनने को मिला करती थीं। उनसे वार्त्तालाप होने पर अनिर्वचनीय मनोरंजन होता था। शुक्लजी के सदृश व्यक्ति कई दृष्टियों से दुर्लभ होते हैं। इस दलबन्दी के युग में गुट्ट बनाये बिना ही केवल अपनी प्रतिभा और विद्वत्ता के बल पर कोई व्यक्ति विद्वन्मण्डली में कैसा आदर प्राप्त कर सकता है शुक्लजी इसके ज्वलन्त उदाहरण थे।

सर एडविन आर्नल्ड के 'लाइट ऑफ एशिया' नामक सुप्रसिद्ध अँगरेजी काव्य के आधार पर 'बुद्ध-चरित' लिखकर उन्होंने अपनी कवित्व शक्ति का

सुन्दर परिचय दिया था। कई स्थलों पर यह कोरा भावानुवाद ही न था, किन्तु इसमें शुक्लजी ने स्वतन्त्र वर्णन और कल्पना भी प्रदर्शित की थी। प्रसाद तथा माधुर्य गुण-मिश्रित व्रजभाषा में विविध छंदों का यह करुण-रस-प्रधान काव्य हमारी भाषा की एक स्थायी निधि है। व्रज और खड़ी दोनों बोलियों की सफाई आपकी कविता में देखने को मिलती है।

शुक्लजी गंभीर और उद्भट विद्वान् थे। उनके साहित्यिक निबन्धों में जिनमें से कुछेक का संग्रह 'विचार वीथी' के नाम से छपा था और इधर 'चिन्तामणि' नाम से प्रकाशित हुआ था। 'चिन्तामणि' पर शुक्लजी को मंगलाप्रसाद पुरस्कार भी मिला था। इससे उनके ठोस पांडित्य का पता चलता है। विचारपूर्ण होने के कारण यद्यपि उनके अधिकांश निबन्ध साधारण कोटि के पाठकों के काम के नहीं होते तथापि उन्नत मस्तिष्कवाले लोग उनमें उनकी विद्वत्ता देखकर मुग्ध हुआ करते हैं। मस्तिष्क के विकास की तीसरी दशा में, जिसमें भावों की गहनता के कारण लेखक के शब्दों की अभिव्यंजना शक्ति चरमावस्था को पहुँच जाया करती है, लिखे जाने के कारण उनके निबन्ध बहुत गूढ़ होते हैं। उनमें उनके मौलिक विचार और विशद विवेचन देखने को मिलते हैं। ऐसे निबन्धों में 'कविता क्या है ?', 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य', 'उपन्यास', 'भाषा का विस्तार' आदि बहुत गवेषणापूर्ण और सारगर्भित हैं। क्रोध, घृणा, श्रद्धा आदि मनोविकारों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके इनपर भी शुक्लजी ने निबन्ध लिखे थे। उन्होंने विश्व प्रपंच, कल्पना का आनन्द, मेगस्थनीज का भारतवर्षीय विवरण, राज्य-प्रबन्ध-शिक्षा आदि का अँगरेजी से और 'शशांक' का बंगाली से गद्य में अनुवाद करके इस काम में भी अपनी पटुता का प्रमाण दिया था। 'शशांक' में तो उन्होंने कुछ नये पात्रों की सृष्टि तथा कथानक को प्रसादान्त करके अपनी स्वतन्त्र सूझ का परिचय दिया था।

किंतु शुक्लजी के महत्त्व का वास्तविक दर्शन उनकी काव्य-समालोच-

नाओं में होता है। कविता की बाह्यात्मा—उसके रस, अलंकार, ध्वनि आदि—का विवेचन ही पुराने समय में समालोचकों का काम समझा जाता था। इसके विपरीत शुक्लजी मनोविज्ञान की दृष्टि से कविता की अंतरात्मा दिखाने के नवीन मार्ग में अग्रणी हुए। दूसरे शब्दों में, हिंदी में मनोवैज्ञानिक काव्य-समीक्षा का सूत्रपात उन्हीं की आलोचनाओं से हुआ।

हिन्दी के सेवकों में आज रामचन्द्र शुक्ल का पद निर्भ्रांत रूप से श्रेष्ठ है। भारतीय काव्य-लक्षणों के आधार पर और पश्चिमीय नवीन से नवीन काव्य-विषयक सिद्धांतों को समक्ष रख कर आपने एक नितांत अर्वाचीन समीक्षा-प्रणाली की सृष्टि की है। इसी की कसौटी पर गोस्वामी तुलसीदास, कविसम्राट् सूरदास और मलिक मुहम्मद जायसी की जो विशद आलोचनायें आपने लिखी हैं वे अपनी श्रेणी की हिन्दी-साहित्य में दूसरी पुस्तकें नहीं रखतीं। रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी-साहित्य का ज्ञान बहुत ही विशद और स्पष्ट है।

शुक्लजी के आविर्भाव के पूर्व के अधिक प्रबन्ध-साहित्य में बहुत कम ऐसा भाग होगा जो विद्वानों के मनन और चिन्तन करने के योग्य हो अथवा जो विचारमौलिकता, विषय की महत्ता और सफल अभिव्यंजन के बल पर विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं में पढ़ाया जा सकता हो। रामचन्द्र शुक्ल की कृतियों ने इस अभाव को एकदम पूर्ण कर दिया है। आपकी शैली अत्यन्त गंभीर, मार्मिक और चुटीली है। बड़े बड़े वाक्यों में भी बड़ा भारी सुखद आकर्षण है। उनकी लड़ी का एक एक वाक्य नाचते हुये मयूर के पंख की भाँति एक के बाद एक सजता हुआ चला आता है और उनका सामूहिक प्रभाव बड़ा ही गहरा और चिरंतन पड़ता है। उनकी अभिव्यंजना में नितांत प्रचलित शब्दों का प्रयोग त्याज्य नहीं है। उनके छोटे बड़े वाक्यों में गुंफित शैली समार्जित गति से भी चलती है और मस्ती से इठलाती भी। आपकी लेखन-शैली में बड़ी संजीवन-शक्ति है। उसमें कठिन से कठिन और अधिकाधिक दुरूह विषयों को सरल कर

देने के लिये अनुपम सौकर्य है। आपके बहुत से अनुयायी हैं। आपके वाक्यों में व्यंगात्मक आक्रमण करने की अनुपम शक्ति रहती है और जितने वेग तथा स्फूर्ति के साथ वे अपनी बातों को पाठकों के हृत्तल तक उतार देते हैं उतनी ही सरलता से वे दूसरों के मिथ्या सिद्धान्तों को भी धराशायी कर देते हैं। वे जितने महान निर्माणक हैं उतने ही भीषण प्रहारक।

'काव्य में रहस्यवाद' नामक ग्रंथ में उन्होंने रहस्यवाद का गम्भीर और मार्मिक विवेचन किया है। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखकर पण्डित रामचंद्रजी शुक्ल ने वैज्ञानिक ढंग से साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास लिखनेवालों का मार्ग भी प्रशस्त किया था। उनका यह इतिहास प्रामाणिक माना जाता है। इस ग्रन्थ के बाद के जो कई अन्य ग्रन्थ इस विषय में निकले थे, उन सबमें इसकी छाप स्पष्ट विद्यमान है। बहुतों में तो इसकी नकल मात्र है, अपनी कोई मौलिकता नहीं। यह बात तुलनात्मक अध्ययन करने वाले पाठकों से छिपी नहीं है। शुक्लजी की गणना भाषा के उन थोड़े से प्रतिभा-सम्पन्न आचार्यों में होगी जो शैली विशेष के उत्पादक और संस्थापक हुआ करते हैं और जिनका इतना प्रभाव पड़ता है कि सैकड़ों सम-सामयिक और परवर्ती लेखक उनका अनुकरण करने में अपना महत्त्व समझा करते हैं। शुक्लजी की गद्य-लेखन-शैली का अनुकरण उनके जीवन-काल में ही कुछ ख्यातनामा और पुराने लेखक तक कर रहे थे, फिर नवीन लेखकों का तो कहना ही क्या? इससे उनकी महत्ता का अनुमान किया जा सकता है।

निस्सन्देह शुक्लजी व्रज-भाषा और खड़ी बोली के एक विशिष्ट वर्ग के उच्चकोटि के सहृदय कवि, भाषा के मर्मज्ञ आचार्य, निबन्धकारों में अग्रगण्य और समालोचकों में शिरोमणि थे।]

काव्य के दो स्वरूप हमें देखने में आते हैं—अनुकृत या प्रकृत तथा अतिरंजित या प्रगीत। कवि की भावुकता की सच्ची

झलक वास्तव में प्रथम स्वरूप में ही मिलती है। जीवन के अनेक मर्म पक्षों की वास्तविक अनुभूति जिसके हृदय में समय समय पर जगती रहती है उसी से ऐसे रूप व्यापार हमारे सामने लाते बनेंगे जो हमें किसी भाव में मग्न कर सकते हैं और उसी से उस भाव की ऐसे स्वाभाविक रूप में व्यंजना भी हो सकती है जिसको सामान्यतः सबका हृदय अपना सकता है। अपनी व्यक्तिगत सत्ता की अलग भावना से हटाकर, निज के योगक्षेम के संबंध से मुक्त करके, जगत् के वास्तविक दृश्यों और जीवन की वास्तविक दशाओं में जो हृदय समय समय पर रमता रहता है वही सच्चा कवि-हृदय है। सच्चे कवि वस्तु-व्यापार का चित्रण बहुत बढ़ा-चढ़ा और चटकीला कर सकते हैं, भावों की व्यंजना अत्यंत उत्कर्ष पर पहुँचा सकते हैं, पर वास्तविकता का आधार नहीं छोड़ते। उनके द्वारा अंकित वस्तु-व्यापार-योजना इसी जगत् की होती है, उनके द्वारा भाव उसी रूप में व्यंजित होते हैं, जिस रूप में उनकी अनुभूति जीवन में होती है या हो सकती है। भारतीय कवियों की मूल प्रवृत्ति वास्तविकता की ओर ही रही है। यहाँ काव्य जीवन-क्षेत्र से अलग खड़ा किया हुआ केवल तमाशा ही नहीं रहा है।

काव्य का दूसरा स्वरूप—अतिरंजित या प्रगीत—वस्तु वर्णन तथा भावव्यंजना दोनों में पाया जाता है। कुछ कवियों की प्रवृत्ति रूपों और व्यापारों की ऐसी योजना की ओर होती है जैसी सृष्टि के भीतर नहीं दिखाई पड़ा करती। उनकी कल्पना कभी स्वर्णकमलों से कलित सुधा-सरोवर के कूलों पर मलयानिल-स्पंदित पाटलों के बीच विचरती है। कभी मरकत-

भूमि पर खड़े मुक्ता-खचित प्रवाल-भवनों में पुष्पराग और नील मणि से स्तंभों के बीच हीरे के सिंहासनों पर जा टिकती है, कभी सायंप्रभात के कनक-मेखला-पंडित विविध वर्णमय घन-पटलों के पर्दे डालकर विकीर्ण तारक-सिकता-कणों के बीच बहती आकाश-गंगा में अवगाहन करती है। इसी प्रकार की कुछ रूपयोजनायें प्राचीन आख्यानों में रूढ़ होकर पौराणिक हो गई हैं और मनुष्य की नाना जातियों के विश्वास से संबंध रखती हैं! जैसे सुमेरु पर्वत, सूर्य्य-चंद्र के पहियोंवाला रथ, समुद्र-मंथन, समुद्र-लंघन, सिर पर पहाड़ लादकर आकाश-मार्ग से उड़ना इत्यादि। इन्हें काव्यगत अत्युक्ति या कल्पना की उड़ान के अंतर्गत हम नहीं लेंगे।

काव्य में उपर्युक्त ढंग की रूप-व्यापार-योजना प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों पक्षों में पाई जाती है। कुछ कवियों का झुकाव दोनों पक्षों में अलौकिक या अतिरंजित की ओर रहता है और कुछ का केवल अप्रस्तुत पक्ष में। जैसे—

'मखतूल के मूल झुलावत केशव
भानु मनो शनि अंक लिये।'

भावव्यंजना के क्षेत्र में काव्य का अतिरंजित या प्रगीत स्वरूप अधिकतर मुक्तक पद्यों में—विशेषतः शृंगार या प्रेम संबंधी—पाया जाता है। कहीं विरहताप से सुलगते हुए शरीर से उठे हुए धुएँ के कारण ही आकाश नीला दिखाई पड़ता है, कौवे काले हो जाते हैं। कहीं रक्त के आँसुओं की बूँदें टेसू के फूलों, नई कोपलों और गुंजा के दानों के रूप में बिखरी दिखाई पड़ती हैं। कहीं जगत् को डुबानेवाले अश्रुप्रवाह के

खारेपन से समुद्र खारे हो जाते हैं। कहीं भस्मीभूत शरीर की राख का एक एक कण हवा के साथ उड़ता हुआ प्रिय के चरणों में लिपटना चाहता है। इसी प्रकार कहीं प्रिय का श्वास मलयानिल होकर लगता है; कहीं उसके अंग का स्पर्श कपूर के कर्दम या कमल-दलों की खाड़ी में ढकेल देता है।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि हिंदी के श्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदास की रुचि काव्य के अतिरंजित या प्रगीत-स्वरूप की ओर नहीं थी। गीतावली गीतकाव्य है पर उसमें भी भावों की व्यंजना उसी रूप में हुई है जिस रूप में मनुष्यों को उनकी अनुभूति हुआ करती है या हो सकती है। यह बात आगे के प्रसंगों में उद्धृत उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगी। केवल दो-एक जगह उन्होंने कवियों की अतिरंजित उक्तियों का अनुकरण किया है। जैसे, सीताजी के विरहताप के इस वर्णन में जो हनुमान् राम से कहते हैं—

"जेहि वाटिका बसत तहँ खग मृग तजि तजि भजे पुरातन भौन।"
"स्वास समीर भेंट भई भोरेहु तेहि मग पग न धस्यो तिहु पौन॥"

पर ये दोनों पंक्तियाँ ऐसी हैं कि यदि तुलसी के सामान्य पाठकों को सुनाई जायँ तो वे उन्हें तुलसी की न समझेंगे। तात्पर्य यह है कि गोस्वामीजी की दृष्टि वास्तविक जीवन दशाओं के मार्मिक पक्षों के उद्घाटन की ओर थी। काल्पनिक वैचित्र्य-विधान की ओर नहीं। ऊपर जो बात कही गई उसका अर्थ कलावादी लोगों के निकट यह होगा कि तुलसीदास नूतन सृष्टि-निर्माण करनेवाले कवि नहीं थे। ऐसे लोगों के गुरुओं का

कहना है कि ज्ञात जगत् परिमित है और मन (या अंतःकरण विशिष्टात्मा) का विस्तार असीम और अपरिमित है; अतः पूर्ण कविता वही है जो वास्तविक जगत् या जीवन में बद्ध न रहकर, वस्तु और अनुभूति दोनों के लोकातीत स्वरूप दिखाया करे। कल्पना के इन 'विश्वमित्रों' से योरप भी कुछ दिन परेशान रहा। 'कलावादी' जिसे 'नूतन सृष्टि' कहते हैं वह स्वच्छ और स्थिर दृष्टिवालों के निकट वास्तविक का विकृत रूप-मात्र है। ऐसा विकृत रूप जो प्रायः कुतूहल-मात्र उत्पन्न करके रह जाता है, हृदय के मर्मस्थल को स्पर्श नहीं करता, कोई सच्ची और गंभीर अनुभूति नहीं जगाता। तुलसी की गंभीर वाणी, शब्दों की कलाबाजी, उपयुक्तियों की झूठी तड़क-भड़क आदि खेलवाड़ों में भी नहीं उलझी है! वह श्रोताओं या पाठकों को ऐसी भूमियों पर ले जाकर खड़ा करने में ही अग्रसर है और रहती आई है, जहाँ से जीते-जागते जगत् की रूपात्मक और क्रियात्मक सत्ता के बीच भगवान् की भावमयी मूर्ति की झाँकी मिल सकती है! गोस्वामीजी का उद्देश लोक के बीच प्रतिष्ठित रामत्व में लीन करना है; कुतूहल या मनोरंजन की सामग्री एकत्र करना नहीं! 'श्लेष', 'यमक', 'परिसंख्या' इत्यादि कोरे चमत्कारविधायक अलंकार रखने के लिये ही उन्होंने कहीं रचना नहीं की थी। इन अलंकारों का प्रयोग ही उन्होंने दो ही चार जगह किया है। वे चमत्कारवादी नहीं थे। 'दोहावली' में कुछ दोहों की दुरूहता का कारण उनकी चमत्कार-प्रियता नहीं, समासपद्धति का अवलंबन है, जिसमें अर्थ का कुछ आरोप ऊपर से करना पड़ता है। जैसे यह दोहा लीजिए—

"उत्तम मध्यम नीच गति, पाहन सिकता पानि।
प्रीति परीच्छा तिहुँन की, वैर वितिक्रम जानि॥"

जो इस संस्कृतश्लोक का अनुवाद है।

"उत्कृष्टमध्यमनिकृष्टजनेषु मैत्री,
यद्वच्छिलासु सिकतासु जलेषु रेखा।
वैरं निकृष्टमपि मध्यम उत्तमे च,
यद्वच्छिलासु सिकतासु जलेषु रेखा॥"

श्लोक के भाव को थोड़े में व्यक्त करने के लिये उत्तम, मध्यम, निकृष्ट को फिर उलटे क्रम से न रखकर 'वितिक्रम' शब्द से काम चलाया गया है। 'रेखा' शब्द न लाने से अर्थ बिलकुल लापता हो गया है। अनुवाद की यह असफलता समास या चुस्ती के प्रयास के कारण हुई है। नहीं तो गोस्वामीजी के समान संस्कृत उक्तियों का अनुवाद करनेवाला हिंदी का दूसरा कवि नहीं। दोहावली में जितने क्लिष्ट दोहे हैं उनकी क्लिष्टता का कारण यही समासशैली है। अनुकरण मनुष्य के स्वभाव के अंतर्गत है। गोस्वामीजी ने जैसे सब प्रकार की प्रचलित पद्यशैलियों या छंदों में रचना की है वैसे ही कहीं दो-एक जगह कूट और आलंकारिक चमत्कार आदि का भी कौशल दिखा दिया है जिसके उदाहरण 'दोहावली' में मिलेंगे। बात यह है कि 'दोहावली' में गोस्वामीजी कवि और सूत्रकार, इन दोनों रूपों में विराजमान हैं। भक्ति और प्रेम का स्वरूप व्यक्त करनेवाले दोहे तो 'काव्य' के अंतर्गत लिए जायँगे, पर नीति के दोहे 'सूक्ति' की श्रेणी में स्थान पायेंगे।

'दोहावली' के समान 'रामचरितमानस' में भी गोस्वामी-

जी कवि के रूप में ही नहीं धर्मोपदेष्टा और नीतिकार के रूप में भी हमारे सामने आते हैं। 'मानस' के काव्यपक्ष का तो कहना ही क्या है। उसके भीतर मनुष्य-जीवन में साधारणतः आनेवाली प्रत्येक दशा, परिस्थिति का सन्निवेश तथा उस दशा और परिस्थिति का अत्यंत स्वाभाविक, मर्मस्पर्शी और सर्वग्राह्य चित्रण है, जैसा लोकाभिराम राम का चरित था, वैसी ही प्रसादमयी गंभीर गिरा, संस्कृत और हिंदी दोनों में, उसके प्रकाश के लिये मिली। इस काल में तो 'रामचरित-मानस' हिंदू-जीवन और हिंदू-संस्कृति का सहारा हो गया है! भारतवर्ष के जिस कोने में लोग इस ग्रंथ को पूरा पूरा नहीं भी समझ सकते, वहाँ भी वे थोड़ा बहुत जितना समझ पाते हैं उतने के ही लिये इसे पढ़ते हैं। कथाएँ तो और भी कही जाती हैं, पर जहाँ सब से अधिक श्रोता देखिए और उन्हें रोते और हँसते पाइये, वहाँ समझिए कि तुलसीकृत रामायण हो रही है। साधारण जनता के मानस पर तुलसी के मानस का अधिकार इतने ही में समझा जा सकता है!

इसी एक ग्रंथ से जनसाधारण की नीति का उपदेश, संत्कर्म की उत्तेजना, दुःख में धैर्य, आनंदोत्सव में उत्साह, कठिन स्थिति को पार करने का बल—सब कुछ प्राप्त होता है। यह उनके जीवन का साथी हो गया है।

जिस धूम-धाम से इस ग्रंथ की प्रस्तावना उठती है उसे देखते ही इसके महत्त्व का आभास मिलने लगता है। ऐसे दृष्टिविस्तार के साथ, जगत् की ऐसी गंभीर समीक्षा के साथ और किसी ग्रंथ की प्रस्तावना नहीं लिखी गई है। रामायणियों

में प्रसिद्ध है कि 'बाल' के आदि, 'अयोध्या' के मध्य और 'उत्तर' के अंत की गंभीरता की थाह डूबने से मिलती है। बात भी कुछ ऐसी ही है। मनुष्य-दशा की गणना से देखें तो बालकांड में आनंदोत्सव अपनी हद को पहुँचता है; 'अयोध्या' में गार्हस्थ्य की विषम स्थिति सामने आती है; 'आरण्य', 'किष्किधा' और 'सुंदर' कर्म और उद्योग का पक्ष प्रतिबिंबित करते हैं तथा 'लंका' और 'उत्तर' में कर्म की चरम सीमा, विजय और विभूति का चित्र दिखाई देता है। जैसा कि कहा जा चुका है, 'मानस' में तुलसीदासजी धर्म्मोपदेष्टा और नीति-कार के रूप में माने जाते हैं! इससे शुद्ध काव्य की दृष्टि से देखने पर उसके बहुत-से प्रसंग और वर्णन खटकते हैं, जैसे पातिव्रत और मित्रधर्म के उपदेश, उत्तरकांड में गरुड़पुराण के ढंग का कर्मों का ऐसा फलाफल कथन—

"हरि गुरु निंदक दादुर होई। जन्म सहस्र पाव तन सोई॥
सुर-श्रुति निंदक जे अभिमानी। रौरव नरक परहिं ते प्रानी॥
सबकै निंदा जे जड़ करहीं। ते चमगादुर होइ अवतरहीं॥"

अब विचारना यह चाहिये कि साहित्य की दृष्टि से ऐसे कोरे उपदेशों का मानस में स्थान क्या होगा? मानस एक प्रबंधकाव्य है। प्रबंध-काव्य में कवि लोग पात्रों की प्रकृति और शील का चित्रण भी किया करते हैं। 'मानस' में उक्त प्रकार के उपदेशात्मक वचन किसी न किसी पात्र के मुँह से कहलाए गए हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि ऐसे वचन पात्रों के शील व्यंजक-मात्र हैं और काव्यप्रबंध के अंतर्गत हैं। पर विचार करने पर यह साफ झलक जाता है कि उन उप-

देशात्मक वचनों द्वारा कवि का लक्ष्य वक्ता, पात्रों का चरित्र-चित्रण करना नहीं, उपदेश ही देना है। चरित्रचित्रण-मात्र के लिये जो वचन कहलाए जाते हैं उनके यथार्थ-अयथार्थ या संगत-असंगत होने का विचार नहीं किया जाता। पर 'मानस' में आए उपदेश इसी दृष्टि से रखे जान पड़ते हैं कि लोग उन्हें ठीक मानकर उन पर चलें। अतः यही मानना ठीक होगा कि ऐसे स्थलों पर गोस्वामीजी का कविरूप नहीं, उपदेशक का ही रूप है। हम अब इन कोरे और नीरस उपदेशों को काव्यक्षेत्र के भीतर समझें या बाहर? भीतर समझने के लिये यही एक शास्त्रीय युक्ति है कि जैसे समूचे प्रबंध के रस से बीच बीच में आए हुए "आगे चले बहुरि रघुराई" ऐसे नीरस पद्य भी रस-वान् हो जाते हैं वैसे ही इस प्रकार के कोरे उपदेश भी!

अब रहा यह कि गोस्वामीजी ने "रामचरितमानस" की रचना में वाल्मीकि से भिन्न पथ का जो बहुत जगह अवलंबन किया है वह किस विचार से। पहिली बात तो यह है कि वाल्मीकि ने राम के नरत्व और नारायणत्व, इन दोनों पक्षों में से नरत्व की पूर्णता प्रदर्शित करने के लिये उनके चरित्र का गान किया है। पर गोस्वामीजी ने राम का नारायणत्व लिया है और अपने 'मानस' को भगवद्भक्ति के प्रचार का साधन बनाया है, इससे कहीं कहीं उन्होंने उनके नरत्वसूचक लक्षणों को दृष्टि के सामने से हटा दिया है। जैसे वनवास का दुःसंवाद सुनाने जब राम कौशल्या के पास जाने लगे हैं तब वाल्मीकि ने उनके दीर्घ निःश्वास और कंपित स्वर का उल्लेख किया है। सीता को अयोध्या में रहने के लिये समझाते समय उन्होंने कहा है कि

भरत के सामने मेरी प्रशंसा न करना। इसी प्रकार मृग को मारकर लौटते समय आश्रम पर सीता के न रहने की आशंका उन्हें होने लगी है तब उनके मुँह से निकल पड़ा है कि केकयी अब सुखी होगी। ऐसे स्थलों पर राम में इस प्रकार का क्षोभ गोस्वामीजी ने नहीं दिखाया है पर साथ ही काव्यत्व की उन्होंने पूरी रक्षा की है, अस्वाभाविकता नहीं आने दी है। अवसर के अनुसार दुःख, शोक आदि की उनके द्वारा पूरी व्यंजना कराई है। अध्यात्म-रामायण भक्ति-ग्रंथ है। इससे अनेक स्थलों पर उन्होंने उसी का अनुसरण किया है।

पर बहुत कुछ परिवर्तन गोस्वामीजी ने अपने समय की लोकरुचि और साहित्य की रूढ़ि के अनुसार किया है। वाल्मीकि ने प्रेम का स्फुरण केवल लोककर्तव्यों के बीच में ही दिखाया है उससे अलग नहीं। उनकी रामायण में सीता-राम के प्रेम का परिचय हम विवाह के उपरांत ही पाते हैं, पर गोस्वामी-जी के बहुत पहले से काव्यों में विवाह के पूर्व नायक नायिका में प्रेम का प्रादुर्भाव दिखाने की प्रथा प्रतिष्ठित चली आती थी, इसी से उन्होंने भी प्रेमाख्यानी रंग देने के लिए जयदेव के प्रसन्नराघव नाटक का अनुसरण करके धनुषभंग के प्रसंग में 'फुलवारी' के दृश्य का संनिवेश किया है। उन्होंने जनक की वाटिका में राम-सीता का साक्षात् कराके दोनों के हृदय में प्रेम का उदय दिखाया है। पर इस प्रेम प्रसंग में भी रामकथा के पुनीत स्वरूप में कुछ भी अंतर न आने पाया। लोकमर्यादा का लेश-मात्र भी अतिक्रमण न हुआ। राम-सीता एक दूसरे का अलौकिक सौंदर्य देखकर मुग्ध होते हैं। सीता मन ही मन राम

को अपना वर बनाने की लालसा करती हैं, उनके ध्यान में मग्न होती हैं; पर "पितु-पन सुमिरि बहुरि मन क्षोभा"। वे इसका कभी आभास नहीं देतीं कि 'पिता चाहे लाख करे मैं राम को छोड़ कर किसी के साथ विवाह न करूँगी।' इसी प्रकार राम भी यह कहीं व्यंजित नहीं करते कि 'धनुष चाहे जो तोड़े, मेरे देखते सीता के साथ कोई विवाह नहीं कर सकता।'

वाल्मीकि ने विवाह हो जाने के उपरांत मार्ग में परशुराम का मिलना लिखा है। पर गोस्वामीजी ने उनका झमेला विवाह होने के पूर्व धनुर्भंग होते ही रखा है। इसे भी रसात्मकता की मात्रा बढ़ाने की काव्ययुक्ति ही समझना चाहिये। वीरगाथा-काल के पहले ही से वीरकाव्यों की यह परिपाटी चली आती थी कि नायिका को प्राप्त करने के पहले नायक के मार्ग में अनेक प्रकार की विघ्न-बाधायें खड़ी होती थीं जिन्हें नायक अपना अद्भुत कर्म दिखाता हुआ दूर करता था। इससे नायक के व्यक्तित्व का प्रभाव नायिका पर और भी अधिक हो जाता; उस पर वह और भी अधिक मुग्ध हो जाती थी। 'रासो' नाम के वीरप्रचलित काव्यों में वीर नायक अपने विरोधियों को परास्त करने के उपरांत नायिका को ले जाता था। रामचंद्रजी का तेज और पराक्रम धनुष तोड़ने पर व्यक्त हुआ ही था और सीता पर उनका अनुरागवर्द्धक प्रभाव पड़ा ही था कि परशुराम के कूद पड़ने से प्रभाववृद्धि का दूसरा अवसर निकल आया। परशुराम, ऐसे जगद्विजयी और तेजस्वी का भी तेज राम के सामने फीका पड़ गया। उस समय राम की ओर सीता का मन कितने और अधिक वेग से आकर्षित हुआ होगा; राम

के स्वरूप ने किस शक्ति के साथ उनके हृदय में घर किया होगा।

गोस्वामीजी ने यद्यपि अपनी रचना "स्वांतःसुखाय" बताई है, पर वे कला की कृति के अर्थ और प्रभाव की प्रेषणीयता (Communicability) को बहुत ही आवश्यक मानते थे। किसी रचना का वही भाव जो कवि के हृदय में था यदि पाठक या श्रोता के हृदय तक न पहुँच सका तो ऐसी रचना कोई शोभा नहीं प्राप्त कर सकती; उसे एक प्रकार से व्यर्थ समझना चाहिए।

"मनि मानिक मुक्ता छबि जैसी।
अहि, गिरि, गज सिर सोह न तैसी॥
नृप किरीट तरुनी तन पाई।
लहिहि सकल शोभा अधिकाई॥
तैसई सुकवि-कवित बुध कहहीं।
उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं॥"

आज-कल सब बातें विलायती दृष्टि से देखी जाती हैं। अतः यह पूछा जा सकता है कि तुलसीदास की रचना अधिकतर स्वानुभूति-निरूपणी है अथवा बाह्यार्थ-निरूपणी। 'रामचरितमानस' के संबंध में तो यह प्रश्न हो ही नहीं सकता क्योंकि वह एक प्रबंधकाव्य या महाकाव्य है। प्रबंधकाव्य सदा बाह्यार्थ-निरूपक होता है। शेष ग्रन्थों में से गीतावली यद्यपि गीत-काव्य है, फिर भी वह आदि से अंत तक कथा ही को लेकर चली है। उसमें या तो वस्तुव्यापार-वर्णन है या पात्रों के मुँह से भाव-व्यंजना। अतः वह भी बाह्यार्थ-निरूपक ही कही जाएगी।

कवितावली में भी कथाप्रसंगों को लेकर फुटकर पद्यों की रचना की गई है। हाँ, उसके उत्तरकांड में कवि राम की दयालुता, भक्तवत्सलता आदि के साथ-साथ अपनी दीनता, निरवलंबता, कातरता इत्यादि का भी वर्णन करता है। 'विनय-पत्रिका' में अलबत्ता तुलसीदासजी अपनी दशा का निवेदन करने बैठते हैं। उस ग्रंथ में जगह-जगह अपनी प्रतीति, अपनी भावना और अपनी अनुभूति स्पष्ट 'अपनी' कहकर प्रकट करते हैं; जैसे—

(क) संकर साखि जो राखि कहौं कछु तो जर जीह गरो।
अपनो भलो राम नाम ही ते तुलसिहि समुझि परो॥

(ख) बहुमत सुन बहुपंथ पुरातनि जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहिं लगत राज डगरो सो॥

(ग) को जाने को जैयेह जमपुर, को सुरपुर, पुरधाम को।
तुलसिहिं बहु भलो लागत जग जीवन राम गुलाम को॥

इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि तुलसी की अनुभूति ऐसी नहीं जो एकदम सबसे न्यारी हो। 'विनय' में केवल कलि की करालता से उत्पन्न जिस व्याकुलता या करालता का उन्होंने वर्णन किया है यह उन्हीं की नहीं है, समस्त लोक की है। इस प्रकार जिस दीनता, निर्बलता, दोषपूर्णता या पापमग्नता की भावना की उन्होंने व्यंजना की है वह भी भक्त-मात्र के हृदय की सामान्य वृत्ति है। वह और सब भक्तों की अनुभूति से अविच्छिन्न नहीं, उसमें कोई व्यक्तिगत वैलक्षण्य नहीं। यहाँ पर यह सूचित कर देना आवश्यक है कि 'स्वानुभूति-निरूपक' और 'बाह्यार्थ-निरूपक' यह भेद स्थूल दृष्टि से ही किया हुआ है। कवि अपने

से बाहर की जिन वस्तुओं का वर्णन करता है उन्हें भी वह आप जिस रूप में अनुभव करता है, उसी रूप में रखता है। अतः वह भी उसको स्वानुभूति ही हुई। दूसरी ओर जिसे वह स्वानुभूति कहकर प्रगट करता है वह यदि संसार में किसी की अनुभूति से मेल नहीं खायगी तो एक कौतुक-मात्र होगी, काव्य नहीं। ऐसा काव्य और उसका कवि दोनों तमाशा देखने की चीज ठहरेंगे। जिस अनुभूति की व्यंजना को श्रोता या पाठक का हृदय भी अपनाकर अनुरंजित होगा वह केवल कवि की ही नहीं रह जायगी, श्रोता या पाठक की भी हो जायगी। अपने हृदय को और लोगों के हृदयों से सर्वथा विलक्षण प्रकट करने-वाला एक संप्रदाय योरप में रहा है। वहाँ कुछ दिन नकली हृदयों के कारखाने जारी रहे। पर पीछे उन खिलौनों से लोग ऊब गए।

यह तो स्थिर बात है कि तुलसीदासजी ने वाल्मीकि-रामायण, अध्यात्मरामायण, महारामायण, श्रीमद्भागवत, हनु-मन्नाटक, प्रसन्नराघव नाटक इत्यादि अनेक ग्रंथों से रचना की सामग्री ली है। इन ग्रंथों की बहुत-सी उक्तियाँ ज्यों की त्यों अनूदित करके रखी हैं जैसे वर्षा और शरद् ऋतु के वर्णन बहुत कुछ भागवत से लिए गए हैं! धनुषयज्ञ के प्रसंग में उन्होंने हनुमन्नाटक और प्रसन्नराघव नाटक से बहुत सहायता ली है। पर उन्होंने जो संस्कृत-उक्तियाँ ली हैं उन्हें भाषा पर अपने अद्वितीय अधिकार के बल से एकदम मूल हिंदी रचना के रूप में कर डाला। कहीं से संस्कृतपन या वाक्य-विन्यास की दुरूहता नहीं आने दी है। बहुत जगह तो उन्होंने उक्ति को

अधिक व्यंजक बनाकर और चमका दिया है। उदाहरण के लिये हनुमन्नाटक का यह श्लोक लीजिए—

"या विभूतिर्दशग्रीवे शिरश्छेदेऽपि शंकरात्।
दर्शनाद्रामदेवस्य सा विभूतिर्विभीषणे॥"

इसे गोस्वामीजी ने इस रूप में लिया है—

"जो संपति सिव रावनहिं दीन्हि दिए दस माथ।
सोइ संपदा विभीषनहि सकुचि दीन रघुनाथ॥"

इस अनुवाद में "दस माथ दिए" के जोड़ में "दरसन हीं तें" न रखने से याचक के बिना प्रयास प्राप्त करने का जोर तो निकल गया पर 'सकुचि' पद लाने से दाता के असीम औदार्य्य की भावना से उक्ति परिपूर्ण हो गई है। 'सकुचि' शब्द की व्यंजना यह है कि इतनी बड़ी संपत्ति भी देते समय राम को बहुत थोड़ी जान पड़ी।

अपने राम की चिट्ठी ?

(लेखक—स्वर्गीय श्री पंडित विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक)

[कौशिकजी का जन्म अम्बाला छावनी में एक गौड़ ब्राह्मण कुल में संवत् १८९१ में हुआ था। आपके एक बाबा ने जो कानपुर में वकालत करते थे आपको दत्तकपुत्र बना लिया। आपने स्कूल में मैट्रिक तक शिक्षा पाई। पहिले आप 'राग़िब' उपनाम से उर्दू में कविता लिखते थे। इसके बाद आचार्य द्विवेदीजी के प्रोत्साहन से सन् १९११ से हिन्दी में कहानी लिखने लगे। आपके पाँच कहानी संग्रह तथा दो उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। गम्भीर हास्यरस के कुछ मनोरम और चुभते हुए पत्र 'विजयानन्द दुबे' के कल्पित नाम से आपने लिखे हैं। आपने बँगला से एक नाटक और एक उपन्यास का अनुवाद भी किया है।

आपका हास्य अत्यंत शिष्ट तथा गम्भीर होता है तथा उससे मनो-रञ्जन के अतिरिक्त कुछ और भी प्राप्त होता है।

'कौशिकजी इस युग के प्रतिष्ठित गल्पकार हैं। मुझे उनके सम्पर्क का अवकाश प्राप्त था। आपने उपन्यास-रचना भी की है। आपकी विख्याति का कारण वास्तव में आपकी छोटी-छोटी कहानियाँ ही हैं। आपकी गणना इस युग के अच्छे कहानी-लेखकों में की जाती है। इनकी कहानियों का क्षेत्र भी सर्वदेशीय है। समाज-सुधार पर लिखते समय आप उपदेशक न होकर एक भुक्त-भोगी का मर्मोद्घाटन करते हैं। ग्राम्य-जीवन का यथार्थ स्वरूप प्रकट करते हुए आप किसानों का हर्ष, शोक, उनकी रुचि, आकांक्षायें, उनकी चेष्टायें और उनकी निर्बलता पात्रानुरूप भाषा में देहाती (तकिया कलाम) और कथनविधि स्थान-स्थान पर गुंफित कर सजीवता और मार्मिकता उत्पन्न कर देते हैं। इसके अतिरिक्त आप गार्हस्थ्य-जीवन

का चित्र खींचने में भी असाधारण कुशल हैं। आपका राग-द्वेष का मनोवैज्ञानिक चित्रण एक अस्पष्ट प्रलाप न होकर, सरल, सुस्पष्ट भावानुरूप भाषा में हृदय-स्पर्शी होता है। कहा जाता है कि आपकी कहानियों की सफलता का आधार पात्रों के कथोपकथन हैं। इनकी कहानी का पात्र यदि मुसलमान है तो उसके सम्भाषण में मुस्लिम संस्कृति की शिष्टता मिलेगी; यदि वह एक वेश्या है तो उसकी कलुषित-वृत्ति का यथार्थ निदर्शन मिलेगा, और यदि पात्र एक मद्यप है तो उसके विकृत मस्तिष्क की सुस्पष्ट रूपरेखा और विक्षेप-जनित स्वभावतः असंगत वाक्यावली के दर्शन होते हैं। कौशिकजी बहुज्ञ हैं, और वे मनुष्य की अन्तर्वृत्तियों का अध्ययन और अनुभव रखते हैं। इसमें संदेह नहीं कि आपके कथोपकथन अत्यन्त उत्कृष्ट, नितांत मौलिक, स्वाभाविक और सजीव होते हैं।

आप अँगरेजी तथा बंगला-साहित्य के अच्छे जानकार और फारसी के विद्वान् हैं। प्रेमचन्द की भाँति आपने भी आरंभ में उर्दू में ही अपनी प्रतिभा चमत्कृत की। उर्दू में लिखी गई आपकी अनेक कहानियाँ आज हिन्दी में रूपांतरित हो चुकी हैं। आपका कहना है कि हिन्दी-लेखक को भाषा में प्रवाह और प्रभावात्मक मार्दव उत्पन्न करने के लिए उर्दू की रवानी से अभिज्ञ और अभ्यस्त होना आपेक्षित है। इन्होंने आलोचनात्मक निबन्ध और वर्णन-विषयक पुस्तकें भी लिखी हैं।

आपने "दुबेजी की चिट्ठी" के नाम से व्यंग्य-मिश्रित हास्यरस के बहुत से लेख लिखे हैं। ये लेख पुस्तकाकार दो भागों में प्रकाशित हो चुके हैं। हिंदी में आजकल हास्यरस के निबन्ध और कहानी-लेखकों की संख्या उँगली पर है। गोंडा के जी० पी० श्रीवास्तव ने यद्यपि हिंदी में हास्यरस के निबन्धों और प्रहसनों का एक ढेर लगा दिया है, किन्तु उनमें प्रत्युत्पन्नमति होते हुये भी उनका हास्य अधिकांश में अश्लिष्ट होता है। उनके पाठकों का केवल एक वर्ग है—धनी-मनचले जवान, और उनकी भी संख्या न्यून है। इनकी "लम्बी दाढ़ी" यद्यपि इस बात की

परिचायक है कि लेखक में हास्य-सृजन की शक्ति और प्रतिभा है किन्तु खेद है कि इनकी गति ऊर्ध्वगामिनी नहीं हो सकी। इस दिशा के दूसरे लेखक मिर्जा अजीम बेग चगताई यद्यपि हास्यपूर्ण अच्छी कहानियाँ लिखते हैं, किन्तु उनकी लेखन-शैली में उर्दू का प्राधान्य रहता है। जगन्नाथ प्रसाद और अन्नपूर्णानन्द हास्यरस के सिद्धहस्त लेखक हैं। साहित्य के इसी विभाग को इन्होंने विशेषरूप से अपनाया है। इसके विपरीत कौशिकजी की लेखनी अनुशासित गति से फूलों के साथ व्यंग के भी ढेले फेंकती हुई शालीनता की मेड़ के भीतर रहकर निर्दिष्ट पथ पर बढ़ती है। इनकी हास्य की शैली में हमें प्रतापनारायण मिश्र की जिंदादिली की झलक मिलती है। आपने उपन्यास और कहानियों के अतिरिक्त कई रंगमंच के योग्य सुन्दर नाटक और कुछ प्रहसन भी लिखे हैं।]

अजी संपादकजी महाराज,
जयरामजी की!

क्या कहूँ भाई, हिंदुओं का पाखंड देखकर चित्त को बड़ा ही क्लेश होता है। हिंदुओं ने धर्म तथा आस्तिकता को अपने मनोरंजन का साधन बना रक्खा है। इनकी समझ में ईश्वर को मानने तथा उसकी उपासना करने में दो लाभ हैं। एक तो ईश्वर की खोपड़ी पर एहसान का गट्ठा लादना और दूसरे अपना मनोरंजन करना। आम के आम और गुठलियों के दाम! धर्म्म का इतना सदुपयोग और कौन कर सकता है? देवताओं की अधिकता कुछ हिंदुओं के लिये उतनी मनोरंजक है, जितनी किसी बालक के लिये खिलौनों की अधिकता होती है। जैसे कोई बालक दिन भर में अनेक तथा नए-नए खिलौनों से खेलना पसंद करता है, वैसे ही कुछ भाई भी दिन भर में अनेक देवताओं की

आकांक्षा रखते हैं; सबेरे मुकटेश्वर के मंदिर में विराजमान हैं तो शाम को महेश्वरी देवी के मंदिर में डटे हैं। दो घंटे पश्चात् देखिए तो किसी अन्य ईश्वरी अथवा ईश्वर के दरबार में उपस्थित हैं। क्या ऐसा भक्ति-वश करते हैं? अजी नारायण का नाम लीजिए! भक्ति किस चिड़िया का नाम है, इसका भी पता इनको नहीं है। करते हैं केवल 'मजे' के लिये। मज़ा ढूँढ़ते फिरते है—मजे के दीवाने हैं। मैंने अनेक 'भक्तों' को यह कहते सुना—"आज अमुकीश्वरी के दरबार में गए थे—कुछ मजा नहीं आया। आज अमुकेश्वर के दरबार में कुछ आनंद नहीं आया।" इन कमबख्तों से कोई पूछे—मजा नहीं आया तो इसके लिये ईश्वर अथवा ईश्वरी क्या करें? उन्होंने आपको मजा पहुँचाने का ठेका ले रक्खा है? और आप उनकी सेवा करने और दर्शन करने जाते हैं या मजे लूटने? जैसे लोग कबूतरबाजी, पतंगबाजी तथा अनेक प्रकार की अन्य बाजियों में मजा ढूँढ़ा करते हैं ऐसे ही कुछ भक्त लोग "देवताबाजी" करते हैं और उसमें मजा ढूँढ़ते रहते हैं। जिस देवता में उन्हें कुछ मजा अथवा आनंद मिलता है, वह देवता सिद्ध देवता समझा जाता है। जिसमें आनंद नहीं आता, वह देवता नापास और देवताओं की बिरादरी से खारिज! ऐसे देवता के मंदिर में शाम को कोई चिराग भी नहीं जलाता। जो देवता 'मजा' देता रहता है, उसकी शान देखिए—क्या ठाट रहते हैं। आप पूछेंगे कि "देवताबाजी" में क्या मजा आता है? मैं बहुधा यह सोचा करता हूँ कि लोगों को बटेरबाजी, कबूतरबाजी, पतंगबाजी में क्या मजा आता है? मुझे तो वह सोलहों आने हिमाकतबाजी दिखाई

पड़ती है। परंतु उन्हें कुछ तो मजा आता ही होगा, तभी तो वे उसमें समय तथा धन नष्ट करते हैं। उस मजे को हम आप नहीं समझ सकते। इसी प्रकार "देवताबाजी" के मजे का अनुमान हम आप नहीं लगा सकते। हाँ, देवताबाजों को किस बात में आनंद मिलता है, इसको मैंने समझने का प्रयत्न किया है।

श्रावण तथा भादों का महीना "देवताबाजों" के लिये बड़े आनंद का महीना है। श्रावण के प्रत्येक सोमवार को ये लोग व्रत रखते हैं और उस दिन किसी विशेष ईश्वर के दरबार में जमा होते हैं। अतएव इन लोगों का आनंद इतवार से ही आरंभ हो जाता है। मेरे जान-पहचान के एक कायस्थ सज्जन, जो मांस के बड़े ही प्रेमी हैं, कहा करते हैं कि एक दिन मांस खाने का आनंद तीन दिन तक रहता है। जिस दिन उनके यहाँ मांस पकता है, उसके एक दिन पहले इस आशा में आनंद आता है कि कल मांस खाने को मिलेगा। जिस दिन खाने को मिलता है उस दिन का तो कहना ही क्या है। खाने के दूसरे दिन इस बात को याद करके मजा आता है कि कल मांस खाया था। यही दशा इन अधिकांश व्रत रखनेवालों की होती है। इतवार ही से स्कीमें बनने लगती हैं कि कल खाने को क्या-क्या बनना चाहिये। व्रत का उद्देश तथा उसके कर्तव्य गए चूल्हे में सबसे पहले खाने की फिक्र होती है। रखते हैं व्रत और खाने की चिंता एक दिन पहले से पड़ जाती है। इस विरोधाभास का भी कुछ ठिकाना है? इसके पश्चात् यह तय होता है कि कल किस ईश्वर के दरबार में चलना चाहिये। इसके लिये अधिक सोच-विचार करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। हमारे शहर

में चार ईश्वर हैं। प्रत्येक सोमवार को एक-एक ईश्वर के दरबार में मेला लगता है, अतएव अधिकांश वहीं जमा होते हैं। जो लोग धनी हैं, उनका सब सामान इतवार की शाम को ही ईश्वरजी के कंपाउंड में पहुँच जाता है। सोमवार के दिन शाम को इस कंपाउंड में जिधर देखिए सिल-बट्टा खटक रहा है। खूब गहरी छनती है। शिवजी की भक्ति में एक यही तो सुविधा है कि छानने को खूब मिलता है। सोमवार के दिन दोनों समय छनती है। सबेरे से ही नशे जम जाते हैं। भाँग-वाँग पीकर वहीं शौच से निवृत्त हुए। इसके पश्चात् स्नान किया, तत्पश्चात् ईश्वरजी की खोपड़ी पर एहसान का टोकरा लादा गया। अर्थात् थोड़ी देर पूजन किया। इसके पश्चात् आनंद के साथ तर माल पर हाथ साफ किया।

यों चाहे कभी महीनों अजीर्ण न होता हो, परंतु व्रत के दिन निश्चय अजीर्ण हो जायगा। व्रत और उपवास के अर्थ यही है कि अजीर्ण हो जाय। इसके पश्चात् हा-हा, हू-हू आरंभ हुई और रात के नौ-दस बजे तक आनंद लूटकर घर आए। जो अधिक तबीयतदार हुए वे रात में भी वहीं डट गए और नौटंकी का स्वाँग देखा। जी हाँ, ईश्वर के दरबार में नौटंकी भी होती है। इसमें भक्त लोगों का क्या दोष ? प्रत्येक ईश्वर को नौटंकी की लत पड़ गई है। भक्त लोग उन्हें प्रसन्न करने के लिये यह भी करते हैं। पूजन करेंगे दस पंद्रह मिनट और भाँग छानने में, आँखें मीच-मीचकर भोजन का स्वाद लेने में, नौटंकी देखने में सारा दिन और रात खर्च कर देंगे। मूर्ख और अशिक्षित उन्हें देखकर कहते हैं—भाई यह शिवजी के बड़े भक्त हैं

देखो न शाम से लेकर सबेरे तक बाबा के दरबार में पड़े रहे। भाँग छानना, दाल-बाटी का आनंद लूटना, नौटंकी देखना, उछल-कूद करना इन अकल के दुश्मनों को "दरबार में पड़े रहना" दिखाई पड़ता है। भक्तराज घर आकर हमारे जैसे लोगों से जिन्हें उनका सा सौभाग्य कभी स्वप्न में भी प्राप्त नहीं होता कहते हैं—"आज बाबा के दरबार में बड़ा आनंद आया। खूब जी भर कर पूजन हुआ। बाबा का शृंगार भी दिव्य हुआ था। बड़ी विशाल मूर्ति है।" हालाँ कि बाबा के पास दस मिनट नहीं फटके, परंतु बातें बाबा ही की करेंगे। और इस ढंग से करेंगे मानों बाबा के प्राइवेट सेक्रेटरी हैं। और आनंद यह है कि विशाल और सिद्ध मूर्ति होते हुए भी दूसरे सोमवार को भक्त-राज उनकी बात भी न पूछेंगे—दूसरे सोमवार को दूसरे बाबा का दरबार अपनी चरण-रज से पवित्र करेंगे। इस प्रकार तीसरे सोमवार को किसी तीसरे बाबा की खोज होगी। इसे आप देवताबाजी नहीं तो और क्या कहेंगे? इसके साथ एक बात और है—तीन बाबा का दरबार तो गंगा-तट पर है और एक बाबा का दरबार रेलवे लाइन-तट पर। अतएव जिन बाबा का दरबार गंगा-तट पर है वहाँ भक्त लोग अधिक जमा होते हैं। क्यों? इसलिये कि उक्त तीन बाबा अधिक पहुँचे हुए हैं, इसलिये कि गंगा-तट होने से वहाँ आनंद अधिक आता है। रेलवे लाइन-तटवाले बाबा के दरबार में उतना आनंद नहीं आता। इसलिए लोग उन्हें जरा कम पतियाते हैं।

श्रावण में झूलों तथा झाँकियों का जोर भी रहता है। इस अवसर पर अनेक मंदिरों में रास, थिएटर तथा नौटंकी का

आयोजन रहता है, अतएव काफी भक्त-गण जमा होते हैं। ठाकुर-जी के सामने नौटंकी के ऐसे-ऐसे अश्लील स्वाँग होते हैं कि भगवान् बचावे। रासलीलाएँ तो लोप हो ही गईं। रास-मंडली-वाले दस-पंद्रह मिनट "द्वै द्वै गोपी बिच बिच माधौ" का नाच तथा 'ताथेई' करके झट राजा-रानी बनकर खड़े हो जाते हैं। और "प्यारी तेरे इश्क में हुआ हाल बेहाल" के साथ नगाड़ों की "कड़-कड़ धम" का समाँ बाँध देते हैं। अड़ोस-पड़ोसवालों की नींद हराम हो जाती है और नगाड़ों की 'कड़-कड़' और 'धम-धम' से सिर में दर्द पैदा हो जाता है। परंतु ठाकुरजी के नाम पर यह सब सहन किया जाता है। एक बार नगाड़ों की धमाधम से एक मकान गिर पड़ा था और बहुत से आदमियों के चोट आ गई थी। जिस मकान में ठाकुरजी विराजमान थे, वह था पुराना तथा जीर्ण-शीर्ण। नगाड़ों की कड़कड़ाहट जो हुई तो एक दीवार अरराकर बैठ गई। लोग समझे कि बर-सात के कारण दीवार बैठ गई। परंतु असली कारण नगाड़ों की कड़कड़ाहट थी। जिन्होंने विज्ञान का अध्ययन किया है, वे भली-भाँति जानते हैं कि वायु के कंपन में कितनी शक्ति होती है। जितने जोर का शब्द होगा, उतना ही अधिक वायु में कंपन उत्पन्न होगा। उसी कंपन के धक्के से दीवार बैठ गई।

संपादकजी, यह सब धर्म के नाम पर और धर्म की ओट में होता है। यदि इसपर कोई भला आदमी कुछ कहता है, तो भक्त लोग उसे झट नास्तिक, आर्यसमाजी, विधर्म्मी इत्यादि की उपाधियों से विभूषित कर देते हैं!

इसके पश्चात् जन्माष्टमी आती है। इस अवसर पर भी

भक्त लोगों का उत्साह देखने योग्य होता है। इस दिन भी अनेक लोग उपवास करते हैं। कुछ लोग तो कृष्णजन्म होने के पश्चात् भोजन करते हैं और कुछ फलाहार के नाम से दिन भर दुनिया भर का अल्लम-गल्लम चट करते रहते हैं। यों रोज दिन भर में दो बार भोजन करेंगे, परंतु व्रत के दिन फलाहार के बहाने दिन भर बकरी की तरह मुँह चलता रहेगा। जन्माष्टमी का व्रत लोग कैसे रखते हैं इस संबंध की एक घटना देकर यह चिट्ठी समाप्त करता हूँ।

एक हमारे पड़ोसी महोदय ब्राह्मण हैं। बड़े धार्मिक तथा भक्त हैं। जन्माष्टमी के दिन रात के बारह बजे तक जागरण करना होता है। सो हमारे पड़ोसी भक्तराज जागने के लिये उस दिन बाइस्कोप देखते हैं। बाइस्कोप देखकर जब लौटते हैं, तब कृष्णजी का जन्म करते हैं। दो-तीन साल पहले की बात है। जन्माष्टमी का दिन था। घटनावश उस दिन भक्तराज बाइस्कोप नहीं गए अतएव घर में पड़ के सो गए। जब जन्म का समय आया तो घरवालों ने आपको जगाने की चेष्टा की। परंतु भक्तराज मुर्दों से बाजी लगाकर सोए थे। उनकी माता ने लाख प्रयत्न किया, पर वे नहीं उठे। इधर उनके न उठने से कृष्णजी का जन्म तमादी में पड़ा जा रहा था। लोग इस प्रतीक्षा में बैठे थे कि पंडितजी उठें तो कृष्ण महाराज तवल्लुद हों, और कृष्णजी तवल्लुद हों तो मीठा-मीठा पंचामृत तथा प्रसाद चखने को मिले। परंतु जब पंडितजी नहीं उठे और कृष्णजी असहयोग करके वैकुंठ जाने पर आमादा हो गए तो लोगों ने उनकी माता से कहा—"तो तुम्हीं जन्म कर दो।"

विवश होकर उनकी माता ने जन्म किया। यह दशा भक्तगणों की है। पंचामृत और प्रसाद बाँटने के समय बे-पैसे-कौड़ी का दंगल देखने को मिलता है। बहुधा प्रसादार्थी भक्तों में लात-जूता तक चल जाता है। एक-एक भक्त कई-कई बार प्रसाद लेने के लिये पहुँचता है। प्रसाद और पंचामृत लेने के लिये भक्त लोग रात के एक बजे तक जागा करते हैं। टइयाँ-से मंदिर के द्वार पर बैठे हैं। किसी ने कहा भी कि "अभी क्या है ? जन्म हो ले तब आना।" तो बोले—"हम बैठे भजन कर रहे हैं, कुछ प्रसाद के लिये थोड़े ही बैठे हैं।" यदि पंचामृत की जगह गंगाजल का चरणामृत बँटा करे तो भजन का हाल खुले, तब एक भी न दिखाई पड़ें। प्रसाद बाँटनेवाले ठाकुरजी के एजेंट भी खूब कतर-ब्योंत करते हैं। जान-पहिचानवालों को खूब दोने भरकर और गिलास भरकर प्रसाद देते हैं और अपरिचितों को वही माशे भर की कुल्हिया और तोले भर का दोना। इसपर भी ठाकुरजी का दिवाला निकल जाता है, तब पंचामृत में गंगाजल की बाढ़ आ जाती है। गंगाजल की बाढ़ आते ही भक्तगणों का रेला भी बन्द ! गङ्गाजल का प्रसाद कौन भकुआ लेता है। उसकी क्या कमी है—गंगा भरी पड़ी हैं। प्रसाद की भक्ति तो पंचामृत की कुल्हिया और दोने के ही साथ रहती है। जहाँ उनमें फर्क पड़ा, बस भक्ति भी बिदा हो गई।

यह दशा है; और ये ही भक्तगण हमारे जैसे लोगों को, जो इससे कोसों दूर रहते हैं; नास्तिक कहते हैं। संपादकजी, अपने राम नास्तिक रत्ती भर नहीं हैं और न ठेठ आर्यसमाजी ही हैं कि कृष्ण और शिव को न मानते हों। बात केवल इतनी है कि जब

तक हृदय में सच्ची श्रद्धा तथा भक्ति नहीं तब तक केवल लोगों को दिखाने के लिये, अथवा ईश्वर के सिर पर एहसान लादने के लिये कोई काम नहीं करते। यदि अपने राम के हृदय में इनकी भाँति श्रद्धा-भक्ति नहीं है, तो इसमें अपने राम का क्या अपराध ? अपने राम तो बहुत प्रयत्न करते हैं कि कभी-कभी इन लोगों जैसी श्रद्धा-भक्ति उत्पन्न हो जाया करे। परंतु जब कभी प्रस्फुटित भी होती है, तो पाखंडी भक्तों की लीला और देवताओं की छीछालेदर देखकर वह अंकुर मुरझाकर रह जाता है। उस समय यह सोचकर संतोष होता है कि इन भक्तों से तो हम अभक्त लाख दर्जे अच्छे हैं।

भवदीय

विजयानंद (दुबेजी)

बिंदु सिंधुत्व का दावेदार

(लेखक—श्री पंडित माखनलालजी चतुर्वेदी
"एक भारतीय आत्मा")

[राष्ट्रीय कवि श्री माखनलाल चतुर्वेदी का जन्म चैत्र शुक्ल एकादशी संवत् १९४४ को मध्यप्रदेश के होशङ्गाबाद जिले के बावई नामक ग्राम में हुआ। अपने पिता पण्डित नन्दलाल चतुर्वेदी से आपने अध्यापकी वृत्ति की पैत्रिक सम्पत्ति पाई। आपने एक ग्रामीण पाठशाला ही में काव्य-साधना प्रारम्भ की। सन् १९०३ में ही आपने सुन्दर कवित्त और सवैयों की सफल रचना में ख्याति प्राप्त कर ली।

परन्तु वास्तव में इनके साहित्यिक जीवन का अर्थ तब से है जब इन्होंने 'मसनगाँव' की प्राइमरी पाठशाला को छोड़कर खँडवा में आकर अध्यापन ग्रहण किया। श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु' तथा सैयद अमीर अली से प्रोत्साहन पाकर चतुर्वेदीजी की कवित्व प्रतिभा चमक उठी।

सन् १९१३ में चतुर्वेदीजी ने अपने पैत्रिक अधिकार को भी भारत और भारती की निस्वार्थ और उन्मुक्त सेवा के लिए त्यागपत्र दे दिया और 'प्रभा' नामक मासिक पत्रिका में सहायक सम्पादक बनकर आपने अपने कर्मठ जीवन का सूत्रपात्र किया। इसी समय स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी के सान्निध्य में आकर इन्हें अपनी रचानायें प्रकाशित करनी ही पड़ीं। सन् १९१५ में जबलपुर के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में इनका श्रीकृष्णार्जुन युद्ध नाटक दो बार खेला गया और उसकी साधारण और साहित्यिक सारे वर्ग के लोगों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की।

सन् १९२० से प्रसिद्ध साप्ताहिक 'कर्मवीर' के सम्पादक बन कर इनकी

राष्ट्रीय विचारधारा अधिक तीव्र होने लगी, इसलिए आठ ही महीनों के सम्पादन का आपको कृष्णमन्दिर में जाने का पुरस्कार मिला। वहाँ से लौट कर स्वर्गीय गणेशङ्कर विद्यार्थी के निधन के पश्चात् 'प्रताप' के सम्पादन पद पर अधिष्ठित हुए। इसी बीच में निज करों द्वारा लालित 'कर्मवीर' की दुर्दशा देख कर उसे सँभालने के लिए पुनः वे 'कर्मवीर' का पुनर्निर्माण करने सन् १९२५ में खँड़वा आये। पाँच वर्ष तक अनवरत सेवा के लिए सन् ३० में इन्हें दुबारा सरकार का प्रीतिभाजन बन कर बन्दीगृह का अतिथि बनना पड़ा। वहाँ से लौट कर 'कर्मवीर' की ममता में अभी तक बँधे हुए हैं। हरिद्वार के हिन्दी साहित्य सम्मेलन में हिन्दी-सेवियों ने इन्हें सभापति बना कर इनका उचित सम्मान किया है।

चतुर्वेदीजी 'एक भारतीय आत्मा' के अन्वर्थनाम से कवितायें करते हैं। इनके स्वभाव में मृदुलता, सरलता और सङ्कोच भरा हुआ है।

इस प्रचार युग में भी अपने को सिमट कर रखने की भारतीय प्रवृत्ति इन्हीं के समान इने-गीने साहित्य-सेवियों में वर्त्तमान है। साथियों और स्नेहियों के बहुत दुराग्रह करने पर इनकी कविताओं का एक संग्रह 'हिमकिरीटिनी' नाम से छप सका है। आन्तरिक स्वभाव में इतना सङ्कोच होते हुए भी इनमें इतनी सजीव भावुकता है जो केवल लेखनी पर ही लास्य करने से सन्तुष्ट नहीं रह पाती वह रसना पर भी सरस रास रचती रहती है। आपकी वक्तृताओं में सहृदय शिक्षित समाज को मोह लेने की अपूर्व क्षमता है। आपने उच्चकोटि के व्यञ्जनात्मक गद्य लिख कर हिन्दी में नई शैली ही चलाई है। 'साहित्यदेवता' इनकी एक अनूठी गद्य रचना है।

आपने मधुर भावना में राष्ट्र की करुणा को मिला कर उसे गहरी यमुना का कमनीय श्यामल रूप प्रदान किया है। कहीं-कहीं इन दो प्रवृत्तियों का पृथक विकास भी इनकी कविताओं में मिलता है।

मध्यप्रांत की विषम प्रकृति का, उसकी वेगवती नदियों का, शोर

करनेवाले झरनों का तथा विन्ध्या की ऊँची-नीची घाटियों का, तथा विरल सघन जंगलों का इनकी कविता के आन्तरिक और बाह्य दोनों रूपों पर व्यापक प्रभाव पड़ा है।

चतुर्वेदीजी के आराध्य की अपनी एक अलग विशेषता है। उनके आराध्य धूलि में उन्हीं के साथ खेलनेवाले उनके सुख दुःख और सु-कु में साझीदार हैं, स्वप्नों में उँगली से छूकर जगानेवाले निठुर और अनजान प्रियतम नहीं।

इनकी भाषा में हिन्दी और फारसी के प्रचलित शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। 'एक भारतीय आत्मा' नाम सार्थक करनेवाले श्री माखन-लाल चतुर्वेदी जाग्रत राष्ट्र के प्रतिनिधि लेखक तथा एक नई काव्य पद्धति के प्रवर्त्तक के रूप में हिन्दी साहित्य में सदैव अपना विशेष स्थान रखेंगे।

युग-प्रवर्तक लेखकों में 'भारतीय आत्मा' का स्थान बहुत ऊँचा है। उन्होंने गद्य भी बहुत लिखा है। वह बहुत प्रकाशित और बहुत अप्रकाशित है। आपका अप्रकाशित गद्य प्रकाशित से कहीं अधिक सुसम्पन्न और कीर्तिमान् है। चतुर्वेदीजी का गद्य क्या है, वह बिना छंद का पद्य है। हिन्दी उर्दू शब्दों का धड़ल्ले से प्रयोग किया गया है। उनके अप्रकाशित गद्य-माधुरी का रस-स्वादन बहुत से साहित्यिकों ने किया होगा। "साहित्य-देवता" विषय और अभिव्यंजना दोनों ही दृष्टि से हिन्दी की अनुपम निधि है। साधारण प्रकार से आपकी भाषा चोट करती हुई चलती है। उसकी मस्ती में सहज परिलक्षण नहीं है। उनके व्यंग कई तह में लपेटे होते हैं और फिर भी उनमें सीधा-सादापन होता है। राष्ट्रीय भावना उनका चिरंतन स्वरूप है परन्तु साहित्य के सर्वतोन्मुखी स्वरूप को वे खूब पहिचानते हैं। उनकी शैली पूर्णरूप से संकेतात्मक है। परन्तु उनकी अभिव्यंजना का स्वरूप चाहे कितनी ही कोठरियों के भीतर क्यों न बन्द रहे उसका आकार और उसकी छाया प्रत्येक साहित्य-रसिक की परख में आ जाती है। इस दृष्टि से वे दुरूह नहीं हैं।

अन्योक्ति-विधान का आश्रय लेना आज-कल के युग की एक चाल है। गद्य और पद्य दोनों ही क्षेत्रों में लोग इसका प्रयोग करते हैं। परन्तु जो कवि अथवा लेखक अन्योक्ति के प्रयोग में इतने लिप्त हो जाते हैं कि पग-पग पर अन्योक्तियों में ही बोलते हैं, वे संकेतात्मक न होकर पहेली बुझाने लगते हैं। उनकी उक्तियों में व्यतिक्रम आ जाता है; उन्हें विफल प्रयास समझना चाहिये। आज-कल के प्रसिद्ध कवियों में भी कहीं-कहीं पर यह तो बेतरह प्रविष्ट हो गया है जिससे उनकी कविता बहुत कुछ नष्ट समझनी चाहिए। परन्तु इस दोष से माखनलाल की कविता और गद्य दोनों ही मुक्त हैं। आप संकेतात्मक होकर भी स्पष्ट हैं। कहीं छोटे, कहीं बड़े, कहीं साधारण और कहीं प्रश्नवाचक उनके वाक्य बड़े मीठे और बड़े चुटीले होते हैं। ऊँचा से ऊँचा दर्शन, और गहरा से गहरा समीक्षा-तत्व वे इसी काव्यात्मक प्रणाली और संकेतात्मक भाषा में कहते चले जाते हैं। उनकी शैली में भारी तन्मयता है। उसका प्रज्ञात्मक गुण रागात्मक पिटारी के भीतर बंद रहता है।]

जल-बिन्दुओं में यदि मिश्रण का स्वभाव न हो तो जल-समूह सिन्धु न कहला सके। द्रवित के देवत्व में प्रकृति ने भी अपने को सीमा-रेखा खींचने में असमर्थ पाया है। इस भूमिका का यदि कोई जल-बिन्दु-प्रतीक ढूँढ़ने चले तो वह किसी सूर, किसी तुकाराम, किसी चेतक के पास आकर ठहर जाय। ऊपर से नीचे की ओर गिरना—कैसी कठोर तपस्या है? नीचे से ऊपर की ओर अप्रत्यक्ष समूल छुप कर गया था, वायु बनकर, और ऊपर से नीचे की ओर व्यक्ति बन कर टपक आया; बिन्दु बन कर। कुछ वे हैं जो ऊपर चढ़ने को इतिहास कहते हैं, कुछ वे हैं जो नीचे उतरने को देवत्व बताते हैं। पहलों का उदाहरण मुक्तिवाद है; दूसरों का अवतारवाद है। परन्तु नीचे का उतार

ही तो ऊपर जाने का प्रजनन है। इसीलिए मजहब नीचे से ऊपर चढ़ने की गुण-गाथा रचता है, और कवि ऊपर से नीचे को अपनी गंगा बहाता है। किन्तु टोटे में तो वे रहते हैं जो कि आँखों की सतह पर उतराने वाले प्रकृति के इस प्रकृत कौशल में सीमारेखा खींचने का बचपन करते हैं। मैं तो अवतार की तरह उतावले, गंगा की तरह बावले, उतार को नमस्कार करके, अपनी बात कहना चाहता हूँ।

आँखों से देखने का उदार सौदा अनेक वर्ष करने के बाद, कहीं आँखें देखने की आदत आती देखी। ये दोनों काम सृष्टि में पड़ने वाले अकालों की तरह दूर रहे। किन्तु एक दिन कोई बाँसुरी बजा उठा। और जिन आँखों को मैं देख रहा था, उनमें पानी भर आया। ज़रूरत का आवेग उस पानी को बाहर ढकेल रहा था; और लोक-लाज की लाचारी पलकें बनकर उसे अन्दर समेटना चाहती थीं। इस तरह स्नेह और शास्त्र में पचास फी सदी की जीत-हार चल रही थी। हाँ, पर मैंने देखा, समूचा दिन बीत गया। किन्तु सूरज के पाँव के कोई निशान जमीन पर बाकी नहीं रहे। जिसे कोई इतिहास कहता, साहित्य कहता, शास्त्र कहता।

मैंने अपनी बाँसुरी, लाचार उठाई। और साँसों के हाजिरी रजिस्टर में सूरज और चाँद के हरी-हरी जमीन पर किए गए पापों और पुण्यों का लेखा-जोखा बाँसुरी की ध्वनि में, ध्वनियों में, गूँध कर उसे ज़मीन के पत्थरों, भोजपत्रों और खंडहरों पर रख दिया। लोग कह उठे; युग बोल उठा। मुझे नहीं मालूम मेरी बाँसुरी के सिवा युग किस चीज़ का नाम है ?

जिस दिन बाँसुरी बोली मुझे ढूंढ़नेवाले निकल पड़े। शस्त्र के मानव के तो मैं हाथ न आता किन्तु शास्त्र का दानव सर्व-व्याप्त था और मेरे प्रयत्नों के सारे रहस्य को वह अपनी जागीर बता कर उसे भक्षण कर गया। मैं उस समय चिल्लाता था। किन्तु कवि का 'मैं' तो उस अभागी वस्तु का नाम है जिसके गीतों की मिठास का भी तमाशा देखा जाता है और जिसमें सर्वनाश के रोदन का भी तमाशा ही देखा जाता है।

मेरी लाचारी और उसासों का नाम जिस दिन कला पड़ा उस दिन मुझे मालूम हुआ कि मेरा चिर संचित 'स्व' मानों बाजार में बैठ गया। मेरी सिसक आज रोजगार हो गई।

बे-मौसम मेरे जी में आनेवाली वेदनाओं का मौसम बतानेवाले ही तो मुझे कलाकार के नाम से बदनाम करनेवाले जीवधारी हैं। किन्तु नदी चाहे जितनी तरल-हृदया हो वह इतनी मन्द बल-शालिनी तो नहीं होती कि किसी जरूरतमन्द प्यासे को देखकर वह अपने में जब चाहे बाढ़ ला सके। और अपने आपको प्यासे के ओठों तक पहुँचा सके।

विधाता के निर्माण में यही तो कमी है कि सीमाबद्धता से अस्तित्व बनता है, सीमा तोड़कर वह ज्यों का त्यों नहीं रह जाता। तब सूझ की देन के मर्यादित उपकरणों को एकत्रित कर मेरे बन्धन और सर्वनाश के साधन एकत्र किए गए। उन्होंने शास्त्र नाम पाया और जो मीठा-सा, कोमल-सा, कल्पना में बेदाग और ऊँचा किन्तु कर्मण्यता में लाचार-सा सूझ का वैभव बाकी रह गया, उसे कला का नाम दे दिया गया।

मानों कोई कहानी लिख रहा था और उसका पहला वाक्य

था—एक था राजा और उसके यहाँ थी एक दासी। यह समझौता मुझे कभी स्वीकार नहीं हुआ। इसी लिए मैंने शास्त्र को घिसे हुए पैसे की तरह रूद कह कर पीछे फेक दिया। और अपने लिये विद्रोह का रास्ता अख्तियार किया। अब मेरे शब्दों में कला, प्रलय के खिलवाड़ को कहते हैं, विद्रोह को कहते हैं।

विद्रोह की यही भावना थी जिसने ख्यालों के परिवर्तन को जगत पर उतारा। पहले मानवों के द्वारा विचार बनते थे, अब विचारों की जमीन पर विधाता अपने मानव ढालने को बाध्य हो गया है। यह केवल मेरी लेखनी का प्रसाद था। शास्त्र बेचारा लाचार था कि उससे सब कुछ बन सकता है, मानव नहीं। विधाता जो प्राणी विचारों पर नहीं ढाल सकता, वे विधाता के बनाए हुए होकर भी जड़ हैं। चतुष्पाद होकर भी जड़ हैं। बलवान होकर भी पराधीन हैं। शक्ति—वृन्दावन की गाय है और मेरी प्रजनन भावना यशोदा ग्वालिन है। एक दुही ही जायगी; दूसरी दुह ली ही जायगी।

बाँसुरी के स्वर पर साँप स्वभाव भूलने लगे; तब मानव तो कहाँ तक बेकाबू रहता? विभूतिधारी मुझको विश्व—विभूति का स्वामी बना कर सिंहासन पर बैठाया गया। सूर्य-किरणों ने भूमि की गलियों और धाराओं से चूस कर मुझे हिमालय के सिर पर हिम खंड बनाकर उच्चत्व प्रदान किया। रिश्वत बहुत बड़ी थी। शताब्दियों मानवता का मुँह बन्द करने के लिए। किन्तु यदि मैं उसे स्वीकार कर लेता तो मेरी पीढ़ी वृन्दावन की गायों की पीढ़ी और काबुल के घोड़ों की पीढ़ी किसी दूबीले स्थान पर साथ साथ चरते रहते।

सिंहासन पर बैठते समय मुझे अकेलापन बोझीला मालूम हुआ। मैं तो वही बिन्दु था न, जिसमें सम्मिश्रण भावना का तारुण्य था और बिन्दुत्व की मर्यादा को मिटाकर सिंधुत्व प्राप्त करने के लिए सदियों तक पतितोत्मुखनिम्नगा बनने की तैयारी थी। मेरा तो स्वभाव ही ढालू जमीन की ओर जाने का है। ऊँचे के वैभव को नीचे आकर बाँट देना ही मेरा तरलाई का वरदान है।

रिश्वत की थरथराहट से मैं नगाधिराज के मस्तक पर हिमशैल बनाकर बैठा दिया गया था, किन्तु सूझ की सूर्य-किरणों से जो मेरी अपनी चीज है मुझे नीचे की ओर बहा लाई। आकाश के देवताओं ने कहा होगा—"यह परम उज्ज्वल, परम निर्मल, उच्चातिउच्च से—और कितने नीचे जायगा" किन्तु मैं तो जमीन के मानवों की वाणी सुन रहा था जो मेरे उतार को भगीरथ प्रयत्न कह कर पूजा कर रहे थे।

और देवताओं के इस सिंहासन से उतर कर मैंने गति पाई, प्रगति पाई। प्रवाह पाया, प्रभाव पाया। रंग पाये, तरंग पाये। और जहाँ तक मैं प्रवाहित रहा अपने दोनों किनारे हरे-भरे पाये। मानो शास्त्र ने उच्चत्व से मुझे देश-निकाला दे दिया। रूढ़ि की दासी सूझ के राजा के साथ और व्यवहार ही कौन सा करती? यदि मन्थरा के दिमाग की विकृति राम को देश-निकाला दिलवा सकती थी तो मैं भी वही पथ क्यों न ग्रहण करता? किन्तु मेरा वह देश-निकाला मानो, मृत्यु रूपी मैके से अमरत्व के दिग्विजय के लिए मेरी विदा थी। बिन्दुओं के धारा, धारा बने जीवन में मेरे जबान न थी किन्तु मेरी गति में भी

स्वर निकलता था। ठोकर मुझमें, विद्युत और संघर्ष मुझमें, संगीत भरता था। मुझे चढ़ते समय किसी ने न देखा था किन्तु आसमान से उतरते समय मेरे टेढ़े-आढ़े पैरों के निशान बनकर इन्द्र धनुष बनते थे। बिगड़ते थे। वायु ऊपर को भले जावे किन्तु तरलाई तो सदा आकर्षण की ओर जाया करती है। चाहे उसे गुरुत्वाकर्षण कहिए। विश्व के समस्त प्रजनन का केन्द्र बिन्दु आकर्षण है। सन्तत्व के प्रजनन का भी; देवत्व के प्रजनन का भी। क्या तुम मेरे इस आकर्षण को कला कहोगे? तब तो तुम मातृत्व को रोजगार कहोगे? शास्त्र और कवि से झगड़ा होने की जड़ यही है, तुम सत्य को न समझकर भी उस पर बहस कर सकते हो और मेरे लाचार मौन में से भी सत्य ही का स्वर झंकृत होता है। बिना उपकरण, बिना सेना, बिना साधन और बिना सामर्थ्य जब मैं वैभव के घर से निकला-सा जमीन पर बार-बार चलकर तरल धारावाली कनारे बनाती पगडण्डी बनाता होता हूँ तब यदि बादल आ जाते हैं तो मैं किसी झाड़ के नीचे खड़ा हो जाता हूँ। मैं होता है, मेरा साहस होता है, मेरी कविता होती है। बस उस दिन तुलसीदास के शब्दों में कौशल्या की तरह मेरे लिए कोई यह कह चिन्ता नहीं करता कि—

"काहू बिरछ तर भीगत हुइहैं, रामलखन दोउ भाई"

पानी मुझे बहा नहीं सकता। गरमी मुझे जला जो न पाई थी। उसने प्रवाहित कर दिया था। तब पानी मुझे कैसे बहाता? उन बरसाती बूँदों के बीच खड़े हुए, थरथराते हुए मेरे शरीर का पृथ्वी के हरियाले वैभव ने, फूलवालों ने फूल लेकर, काँटों-वाले ने काँटे लेकर और पत्तीवाले ने पत्ती ही को हिला-डुला-

कर उस एकान्त में मेरा वन्दन किया था। उस समय मुझे ऐसा लगा कि किसी बबूल के बगल में ऊगा हुआ मैं भी एक बबूल ही का पेड़ हूँ। मानो वायु की सनसनाहट और पत्ती की झड़फल में मैं वृक्ष-लोक की भाषा का कवि हूँ। काँटें कहानियाँ कहते से, फूल पूजा करते से और पत्ते धीरज बँधाते से नजर आते थे। तिस पर उस समय का टिटहरी का बोल पड़ना। मानों जमीन पर गड़ती हुई आँखों को आसमान ने न्योता भेजा था। करंज के झाड़ पर मैंने अपने दोनों हाथ उस वर्षा में लटका दिए थे। किन्तु उस झाड़ की जड़ों से डालियों में चढ़ता हुआ रस, डालियाँ समझ कर मानों मेरी भुजाओं में भी बढ़ा जा रहा हो। पैरों के नीचे जमीन थी। सिर पर आसमान की बूँदाबूँदी थी। काँधे के पास पक्षी दुबककर बैठे थे। जड़ें हाथों में रस दे रही थीं और मैं नदी के तट पर निस्तब्ध खड़ा था। तब मुझे यह विभ्रम कैसे न होता कि मैं वृक्ष हूँ। तब बरसती बरसात में मैं हरा, भरा सुखी हो उठने के बजाय दुख किस बात का मनाता ? आसमान से गिरते हुए त्रिशंकु को चाहे किसी ऋषि ने बचाया हो या न बचाया हो; किन्तु वृक्षों की मस्तानी एकतानता ने मुझे जरूर वृक्षत्व के अमर हरियालेपन में न पानी में नीचे बहने दिया; न मानवत्व के आभास से मुझे नीचे गिरने ही दिया। इस तरह वृक्षों के मौन गुरु ने मुझे एकरसता के हरियालेपन का ऐसा पाठ पढ़ाया कि जब कभी मेरे अमरूद की डाल में मेरी चम्पक-लता गाय अपना काँधा रगड़ने लगती है, तब मैं उस पर नाराज होने दौड़ता हूँ कि कहीं वह अमरूद की डाली में छाले न पैदा कर

दे। गुलाब की अन्तरात्मा में उतरने के लिए किसी जगदीश चन्द्र की ज्ञान सीढ़ी की किसी कवि को जरूरत ही कैसे पड़ सकती ? हृदय तो वह स्टेशन है जिस पर अस्तित्व अपना लगेज लेकर नहीं आ-जा सकता। अस्तित्व का यह स्थान, आकर्षण का यह देवालय, प्रवाह का यह अमरत्व, गति का यह संकेत दर्शन, मेरे गुप्तांगों की तरह मेरे साथ है और जीवन की समस्त परिमितताओं के साथ यह मेरे ही साथ रहता आया है। मेरे ही साथ रहता जायगा।

मैं गतिशील हूँ, मैं तरल हूँ, मैं प्रवाही हूँ, मैं निम्नगामी हूँ, मैं विश्व की समस्त हरीतिमा की भूमि के प्रतिकूल विद्रोह कर ऊँचा सपुष्प, सफल बनानेवाला जीवन-रस हूँ।

कैकेयी

(लेखक—सद्गुरुशरण अवस्थी)

पहला दृश्य

[सम्राज्ञी कैकेयी के महल का एक भाग है । कैकेयी एक रत्नजटित स्वर्णपीठ पर बैठी हैं । पूर्वाह्न का समय है । निकट ही संगमरमर की भूमि पर पड़े हुए गलीचे के ऊपर महारानी की परमप्रिय दासी मंथरा बैठी है । उसके कूबड़ ने उसकी लम्बाई को लपेटकर भीतर कर लिया है । उसके बौने शरीर पर कुरूपता की परिभाषा लिखी हुई है । महारानी के चरणों को गोद में रक्खे वह उन्हें धीरे-धीरे सहला रही है । महारानी विचार-निमग्न तो हैं पर चिन्तना की दौड़ जब-जब विरामों पर आ खड़ी होती है तब-तब वे मंथरा की ओर देखने लगती हैं और मुस्करा देती हैं । दौड़ फिर आरम्भ हो जाती है । मनुहार गम्भीर पड़ जाती है ।]

मंथरा—रानी ! सोच-विचार का बोझ सफेद बालों पर शोभा पाता है । घर के बड़े-बूढ़े का अधिकार छीनना उचित नहीं । महारानी कौशल्या का महल सूना हो जायगा ।

कैकेयी—(प्रकृतिस्थ होकर, मुस्कराती हुई) क्या कहती हो मंथरा ?

मंथरा—यही कि दाँतों का बार-बार कौंध जाना, थिरकते हुए अंगों से इठला कर चलना, कुन्तलों का हवा में सधने का अभिनय करना, बिना किसी क्रम के विनोद के झरनों का वाणी

में बहना, बुद्धि को दूर तक तानने वाले लम्बे सिलसिले से दूर भागना, बच्चों की-सी हल्की उक्तियों में रमना आपका सौन्दर्य रहा है। उसे न छोड़ो रानी।

कैकेयी—(दाहिने पैर से मंथरा को धीमी ठोकर देती हुई) तो क्या तू मुझे सदा नवोढ़ा ही समझेगी ?

मंथरा—परम भट्टारक महाराज दशरथ क्या कहते हैं ?

कैकेयी—बातों को मीठी कर देना तूने किस पाठशाला में पढ़ा है ? कुछ आवश्यक परामर्श भी तू दे सकती है ? तेरे कूबड़ में अब भी कुछ सूझ बाकी है ?

मंथरा—इस कूबड़ को जब आप पैर की इन उँगलियों से सहलाती हैं तो मैं बड़ी दूर की कौड़ी ले आती हूँ ; पर जिस क्षण आपकी भौंहें तन जाती हैं मेरी बुद्धि उस तंग आवास को छोड़कर उड़ जाती है।

कैकेयी—(दाहिने पैर की उँगलियों से कूबड़ सहलाते हुए) अच्छा, अब कहो मंथरा !

मंथरा—कुछ पूछिए भी ; आप कितना लम्बा उत्तर चाहती हैं ? बुद्धि अब मेरी पीठ में रेंग रही है।

कैकेयी—(गम्भीर होकर) तुम्हें मालूम है कि दो दिन में वत्स रामचन्द्र का राज्याभिषेक होने जा रहा है।

मंथरा—क्यों नहीं। कौशल्या के महल में अधिकार की गंगा बड़े वेग से बह रही है। उनकी ठसक का कुछ ठिकाना है।

कैकेयी—तो क्या हुआ ? तेरे इस बोल में बड़ी दुर्गन्ध है। सँकरे विचार किसी अँधेरे सँकरे मन में भले पैठ सकें। कैकेयी का हृदय बड़ा विशाल और उज्वल है क्षुद्र नारी !

मंथरा—मुझे क्या ? दासी राजमाता न बनेगी। केवल आपका अनभल देखा नहीं जाता।

कैकेयी—(पैर समेटते हुए) नीच रमणी ! राम मुझे भरत से कम प्रिय नहीं। वह मुझे कौशल्या से अधिक स्नेह करते हैं। कौशल्या क्या मेरी बड़ी बहन से कम है ? यदि ऐसी छोटी बात फिर मुँह से निकाली तो जीभ खींच ली जायगी।

मंथरा—(सिर झुकाकर सिसकने लगती है।) मोह से यह अपराध हुआ।

कैकेयी—(प्रसन्न होकर कूबड़ पर पैर रखती हुई) अब कभी ऐसी बात सुनने में न आवे, मंथरा।

मंथरा—अपराध हुआ स्वामिनी।

कैकेयी—कोई ऐसी बात बता सकती है, जिससे राम का राज्याभिषेक टल जाय।

मंथरा—राम तो आपको भरत से अधिक प्रिय हैं; उनके उत्कर्ष में विघ्न क्यों सोचती हैं महारानी।

कैकेयी—विघ्न में कल्याण को पहचान लेना सबका व्यवसाय नहीं।

मंथरा—मैं आपका संकेत बिलकुल नहीं समझी।

कैकेयी—(मुस्कराकर) मैं राम के उत्कर्ष को आकाश तक पहुँचा देना चाहती हूँ और फिर उसके स्निग्ध आलोक से सबको मन्त्र-मुग्ध कर देना चाहती हूँ।

मंथरा—कैसे ?

कैकेयी—चक्रवर्ती सम्राट् की दासी में इतनी समझ तो होनी ही चाहिए।

मंथरा—मैं तो हर घड़ी आपकी ही सेवा में रहती हूँ। (मुस्करा देती है।)

कैकेयी—यदि दर्पण मलिन है तो बिम्ब का क्या दोष ? (मुस्कराती है।) मंथरा मुझे राम के हित के लिए यह विघ्न आवश्यक प्रतीत होता है।

मंथरा—किसी के गोरे रंग को नहलाकर निखारने के लिए क्या उसे कीचड़ में ढकेलने की आवश्यकता होती है, महारानी!

कैकेयी—यदि व्यक्ति स्नान के महत्त्व को भूल गया हो तो यह भी करना बुरा नहीं।

मंथरा—कुँअर राम तो बड़े बुद्धिमान् हैं।

कैकेयी—ठीक है। पर वैभव का दबाव, अपनों का दुलार, आसपास का गहरा मीठापन उनके निज को उभड़ने कब देता है ?

मंथरा—कुँअर रामचन्द्र भोगविलास में फँसनेवाले जीव नहीं हैं, यह आपने स्वयं कई बार कहा है।

कैकेयी—सो तो मैं आज भी कहती हूँ। पर मेरे गोद के उस प्यारे रत्न ने न जाने कहाँ की शिष्टता पाई है ! शील इतना संकोची है कि बड़ों की आँखों की ओर वह भर आँख देख नहीं पाता। कहीं गुरुजन, परिजन तथा पुरजन का मन न दुख जाय, इस आशंका से अपने बलवान् मंतव्य को वत्स राम वाणी में उतरने नहीं देता।

मंथरा—यह उनका स्वभाव अवश्य है। पर आप उनके सिंहासन पर बैठने के प्रतिकूल क्यों हैं ?

कैकेयी—भारतवर्ष का बड़ा भारी भाग अनार्य राक्षसों का

क्रीड़ा-क्षेत्र बना हुआ है। उन्होंने महान् अनर्थ मचा रक्खा है। आर्यसंस्कृति के शिरस्थ ऋषि-मुनियों को खा-खाकर और मार-मारकर उन्होंने अस्थियों के ढेर लगा दिये हैं। आर्यत्व डगमगा रहा है और आर्य-साम्राज्य के लिए भय है। मैं अपने राम को इन्हीं के बीच—ईंधन के ढेर में आग की छोटी चिनगारी की भाँति—फेंक देना चाहती हूँ। राज-सिंहासन के गुलगुले गलीचे से आपत्तियों की काँटे की सेज मैं राम के लिए अधिक गौरव-पूर्ण समझती हूँ।

मंथरा—यह तो समझ में आता है। पर यह विघ्न आपके द्वारा न हो तो अच्छा। आपको लोग क्या कहेंगे?

कैकेयी—मेरी प्रशंसा भी तो बहुत होती है?

मंथरा—सो क्यों नहीं। इसी लिए तो अपवाद सुनने से मन डरता है।

कैकेयी—'वाह' 'वाह' सुननेवाले को 'हाय' 'हाय' सुनने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए।

मंथरा—आप इस अपवाद को सुन सकेंगी? और फिर आपके प्रस्ताव को सुनेगा ही कौन?

कैकेयी—मेरा साहस ढीला अवश्य है; पर यह तू क्या कहती है कि मेरे प्रस्ताव को सुनेगा कौन। चक्रवर्ती आर्य-सम्राट् महाराजाधिराज की सबसे प्रिय महारानी कैकेयी से तू बातें कर रही है।

मंथरा—स्वयं महाराज ही कब इतनी बड़ी हलचल के लिए प्रस्तुत होंगे?

कैकेयी—कैकेयी ने प्रेम के बड़े भारी मूल्य पर ही आत्म-

समर्पण किया है। महाराज के भ्रुकुटि-विलास से सब काँप जाते हैं, इन्द्र चिंतित हो जाते हैं; पर मेरे भाल पर रेखा खिंच जाने का समाचार पाते ही तुम्हारे चक्रवर्ती सहम जायँगे। उनके सारे मंसूबे हिलने लगेंगे।

मंथरा—महारानी, लोग कहेंगे कि सुख छीनकर विपत्तियों के मुँह में ढकेलना कौशल्या के पुत्र को ही आता था; अपने पुत्र को सुरक्षित रक्खा।

कैकेयी—(आँसू भरकर) प्यारी मंथरा इसका उत्तर मैं क्या दे सकती हूँ। अपनी सब सन्तानों की योग्यता और अयोग्यता को मैं खूब समझती हूँ। भरत वीर है, पर स्वभाव का बड़ा कच्चा है। राक्षसों का संहार करने के लिए जिस प्रखरता, उग्रता, चातुरी और ओज की आवश्यकता है, भरत में उसकी उतनी मात्रा नहीं है, जितनी राम में है।

मंथरा—क्यों ?

कैकेयी—ज्ञान के लिए "और और" की भूख ग्रन्थों में उलझाकर उसे बुद्धिजीवी और चिन्तनव्यवसायी बनाये है। वह वीर है, पर आक्रमण नहीं कर सकता। युद्धक्षेत्र में शस्त्रों के निर्णय बुद्धि की छानबीन के लिए रुक नहीं सकते। पर भरत के तो समस्त निष्कर्ष तर्क की युक्तियों के झोंके में हमेशा हिला करते हैं। 'कर' और 'अकर' सीधे-सीधे खड़े तक नहीं हो पाते। भरत आज्ञा ले सकता है, पर आज्ञा देने में उसका उत्साह शिथिल रहता है। ऐसा व्यक्ति महान् हो सकता है, पर कुशल योद्धा कभी नहीं हो सकता।

मंथरा—कुँअर रामचन्द्र राक्षस-निधन का कार्य कुशलता से कर सकते हैं ?

कैकेयी—राजर्षि विश्वामित्र के साथ उन्होंने यह प्रमाणित कर दिया है। ज्ञान और कर्म का ऊँचा मेल राम में है। उनके नाम से राक्षस काँपते हैं। शासन के विलास के रस को मैं राम के लिए तभी मीठा समझती हूँ, जब वे राक्षसों का ध्वंस करके लौटें।

मंथरा—यदि इसी भाँति आप महाराज से सब स्पष्ट कह दें तो ?

कैकेयी—राम के प्रति उनका मोह उनके विवेक को सदैव धूमिल किये रहता है।

मंथरा—तो दूसरा मार्ग ही क्या है ?

कैकेयी—मेरी गति तुम्हें ठीक प्रतीत हो रही है ?

मंथरा—पर आपके अपमान को मैं नहीं देख सकती।

कैकेयी—उसे जाने दे। आज जैसे भी होगा, उन्हें समझाऊँगी। मैं पूरी बात उनसे कह न सकूँगी।

मंथरा—विश्वामित्र के साथ भेजने में वे कहाँ सरलता से माने थे ?

कैकेयी—तब राम बालक थे, अब तरुण हैं। अब वह आशंका न होनी चाहिए।

मंथरा—आपका कल्याण हो।

[पटक्षेप]

दूसरा दृश्य

[महारानी कैकेयी के सुसज्जित शयनागार का अगला भाग। हरे रंग के प्रकाश-दीप स्थान-स्थान पर रक्खे हैं। कई स्थलों पर रक्खे हुए मणिदीप जल रहे हैं। एक लम्बा-सा बड़ा सुवर्ण-पर्यंक रक्खा है। उस पर रेशमी गद्दे के ऊपर हल्की चिकनी रेशमी चादर बिछी है। पर्यंक के पाये नीलम के हैं। प्रकाश बड़े महीन व्यवधान के भीतर से जैसे फूटकर ढीला-ढाला होकर पलँग पर सो-सा रहा हो। एक ओर सम्राट् दशरथ और उनके पीछे-पीछे महारानी कैकेयी प्रवेश करती हैं।]

दशरथ—(पलंग के शीर्ष स्थान पर बैठते हैं, कैकेयी बड़े तकिये को सहारे के लिए पीछे लगा देती हैं।) प्रिये! मैं तो समझा था कि एक बड़ा ही आनन्दपूर्ण संवाद तुम्हें दूँगा।

कैकेयी—वत्स राम के उत्कर्ष का कोई भी कथन मेरे प्राणों का अमृत है। स्वामी ने ठीक ही सोचा था।

दशरथ—पर अमृत बड़वा नहीं होता; उससे कोई मुँह नहीं फेरता।

कैकेयी—पर सबका अपना-अपना स्थान और अपना-अपना समय होता है।

दशरथ—सुख तो सुख ही रहेगा।

कैकेयी—सुख का नाम आनन्द नहीं है। श्रेय और प्रेय एक ही रेखा पर सर्वदा नहीं चलते।

दशरथ—पर "मंगल" की बस्ती में दोनों ही रहते हैं।

कैकेयी—पर एक दूसरे से बहुधा बहुत दूर, विलास की गलियों से होकर कल्याण तक कौन पहुँचता है?

दशरथ—राज्य देकर मैं राम को विलासी नहीं बनाना चाहता।

कैकेयी—और विवाह करके भी आप राम को विलासी कब बनाना चाहते थे ?

दशरथ—कदापि नहीं।

कैकेयी—तो बारह वर्ष का लम्बा विस्तार क्या कहता है ?

दशरथ—सो इधर राम को अपने शौर्य-प्रदर्शन का कोई विशेष अवसर नहीं मिला।

कैकेयी—नहीं मिला अथवा नहीं दिया गया।

दशरथ—मेरे साम्राज्य में पूरी शान्ति है।

कैकेयी—अपने खुले से खुले घोंसले को पक्षी भी लम्बे पंखों में ढके रहता है। चरमराते हुए वृक्ष का शब्द वह कब सुनता है।

दशरथ—वह कर ही क्या सकता है ?

कैकेयी—एक हाथ का पक्षी यह कहे, पर ज्ञान का किरीट पहननेवाला पाँच हाथ का मानव यह नहीं कह सकता।

दशरथ—सबकी सीमाएँ होती हैं।

कैकेयी—श्लथ भी कभी-कभी शक्ति-सीमाओं को बिलकुल सिकोड़ दिया करता है।

दशरथ—तो क्या दूसरे के साम्राज्य छीनकर हड़प लिये जायँ ?

कैकेयी—हाथ पर हाथ रक्खे रहने से तो यह भी अच्छा है; पर मैं यह नहीं कहती।

दशरथ—तो तुम क्या कहती हो ?

कैकेयी—क्या कौणप-गण मानवता को त्रस्त नहीं किये हैं ?

दशरथ—उनका भी उचित शमन वत्स रामचन्द्र करेंगे। उन्हें राज्य-भार सँभालने तो दो। अपने बचपन में ही उन्होंने राक्षसों को अपना परिचय दे दिया है।

कैकेयी—उसका श्रेय राजर्षि विश्वामित्र के लाल-लाल नेत्रों को है। दूसरे की विनती आप कब सुन सकते थे।

दशरथ—वह मेरा मोह था। मैं मानता हूँ।

कैकेयी—यही मोह आज उन्हें चिकने सिंहासन पर बिठाना चाहता है। उन्हें आपत्तियों से बचाये रखना चाहता है।

दशरथ—मैं राम से बहुत प्रेम करता हूँ। प्रिये ! उन्हें नेत्रों से दूर नहीं कर सकता।

कैकेयी—सूर्यवंशी परम सम्राट् के लिए यह शोभा नहीं देता। उसकी संतान सभी प्रजा है। वह निज के लिए कोई पक्षपात नहीं कर सकता।

दशरथ—यह भी मैं मानता हूँ।

कैकेयी—राजर्षि विश्वामित्र और ब्रह्मर्षि वशिष्ठ ने आपके पुत्रों की कीर्ति बढ़ाई न ?

दशरथ—इन ऋषियों की कृपा हमारे कुल का चिरन्तर वरदान है।

कैकेयी—यदि मैं भी ऋषि होती। आप मेरी भी सुन लेते ? (उदास हो जाती है।)

दशरथ—मन मत मारो प्राणवल्लभे ! तुम्हारा मुरझाना मैं देख नहीं सकता। आज्ञा देकर देखो कि सम्राट् दशरथ कितना क्रीतदास है।

कैकेयी—मुझे दासी बनाकर मेरी प्रार्थना का मूल्य आप घटाना चाहते हैं।

दशरथ—तुम सम्राट् की अधिनायिका हो। समस्त साम्राज्य तुम्हारी तनी हुई भ्रुकुटि से हिल उठेगा।

कैकेयी—(दशरथ का हाथ अपने हाथों में लेकर) प्राणपति, आप मेरा संकेत क्यों नहीं समझते ?

दशरथ—हृदयेश्वरी, दशरथ दिल के व्यवहारों से राजनीतिक हेर-फेर और पेचीदी ध्वनियाँ न सुनना चाहता है और न समझना। तुम साफ-साफ कहो।

कैकेयी—वत्स रामचन्द्र का राज्याभिषेक तब हो, जब वे राक्षसों की बस्तियों में घूम-घूम कर उनका विध्वंस कर डालें।

दशरथ—(आकृति का रंग बदल जाता है) मैं अपने प्रिय पुत्र को मनुजादों के बीच में विसर्जित कर दूँ। क्या कहती हो, कैकेयी ?

कैकेयी—कातर मोह शंकाओं को कभी न छोड़ेगा। कोई प्रमाण उसे सूझ नहीं दे सकता।

दशरथ—बचपन में राजर्षि का राम पर वरदहस्त था।

कैकेयी—अब आपका और मेरा वात्सल्य होगा और कुलगुरु वशिष्ठ का आशीर्वाद काम करेगा।

दशरथ—गुरुवर ने तो राज्याभिषेक को अनुमति दे दी है।

कैकेयी—पर प्रस्ताव किसका था ?

दशरथ—मैं कह तो रहा हूँ कि मेरा था।

कैकेयी—मेरा मन्तव्य उन तक पहुँचा ही नहीं।

दशरथ—मैं तो स्वयं उसे एक क्षण के लिए भी मानने को प्रस्तुत नहीं।

कैकेयी—(निःस्वास लेकर) मुझे भी यही आशंका थी। आज अवगुण्ठन हट गया और कैकेयी ने आपके प्रेम का मुँह देख लिया।

दशरथ—परंतु·····

कैकेयी—और आपकी राष्ट्र-नीति की महत्ता भी समझ में आ गई।

दशरथ—नहीं प्रिये ! राज्याभिषेक होने पर सम्राट् रामचन्द्र सेना लेकर कौणपों पर टूट पड़ेंगे। सेना-संचालन मैं स्वयं करूँगा।

कैकेयी—चक्रवर्ती को मुकुट स्वयं रखकर बूढ़े बाप को सेनानी बनाकर राक्षसों के विजय के लिए जानेवाले आपके पुत्र की कीर्ति खूब फैलेगी। यही आपका राम-प्रेम है न ?

दशरथ—बच्चे के सिर पर उतरते हुए आक्रमण को हाथ उठाकर रोक तो सकूँगा।

कैकेयी—यह बच्चों की-सी बात है सम्राट् ! कौन किसे बचा सकता है ? आपके विवेक को मोह मूर्छित किये है। आपकी दुर्बलता की राख में राम के तेज की चिनगारी ढकी ही रह जायगी।

दशरथ—राज्याभिषेक की घोषणा इतनी दूर पहुँच कर लौट कैसे सकती है प्रिये ! जनता में अपार आमोद है।

कैकेयी—जनता और जनाधिप में अन्तर होना चाहिए।

आप रामचन्द्र को ही क्यों न सब समस्या समझा दें। उन्हीं पर निर्णय छोड़ दीजिए।

दशरथ—एक बार गद्दी पर बैठने की बात तो मैं उनसे कह चुका हूँ! वनगमन की बात मेरे बाद मेरा शव कह सकता है।

कैकेयी—यदि आप ही ऐसा समझते हैं तो मुझे क्या? साम्राज्य का भला सम्राट् का काम है; पुत्र का उत्कर्ष पिता की लालसा है। मैं चुप हूँ!

दशरथ—और सम्राज्ञी और माता का कोई सरोकार नहीं?

कैकेयी—यदि पति और पुत्र न सुने तो पत्नी और माता बेबस होकर चुप रह जायँगी।

दशरथ—यह न कहो।

कैकेयी—मेरे सत्परामर्श को भी सम्राट् छूते डरते हैं।

दशरथ—प्रिये! (निकट लेकर) यह समस्या अब इतनी बढ़ गई है कि सरलता से सुलझती नहीं दिखती। इतने आगे बढ़कर लौटना असंभव-सा प्रतीत होता है।

कैकेयी—यह तो निरंकुश एकाधिनायक का तर्क है। राक्षसों का विनाश करके यदि राम अयोध्या आते और अपनी बहनों के साथ आगे आकर मैं उनकी आरती उतारती, आप उन्हें सिंहासन अर्पण करते, महर्षि वशिष्ठ उनका राजतिलक करते, तो आज से कहीं अधिक आनन्द होता।

दशरथ—सो तो ठीक है।

कैकेयी—राक्षसों का वध करके अनार्य सम्राटों को अनुशासित करते हुए उनके राज्यों को अपने संरक्षण में लेकर वत्स

रामचन्द्र को गद्दी पर बैठने के लिए कितना बड़ा साम्राज्य हो जाता। पिता का राज्य तो गिरता हुआ जल है, जो नीचे की ओर अवश्य आवेगा ही। पौरुषविस्तार की कला अपना पृथक् महत्त्व रखती है। भाग्य का आकस्मिक खेल कोई भी खेल सकता है।

दशरथ—सम्राट् राम भी वही कर सकते हैं जो कुमार राम को करने को कहती हो।

कैकेयी—क्षमा हो कैकेयी-नायक! कुमार राम और सम्राट् राम में अन्तर हो जायेगा। वह उग्रता, प्रखरता और तीखापन, जो उनमें आज शत्रुओं के लिए है, शासन के बोझ ढोनेवाले सम्राट् में गोठिल पड़ जायगा। आप स्वयं अपने व्यस्त जीवन को देखिए।

दशरथ—राज्य और कुटुम्ब की चिन्ता वीरता को उभरने नहीं देती।

कैकेयी—फिर?

दशरथ—पर प्राण-प्रिये तुम्हीं कहो कि राक्षसों के निधन के लिए प्राणप्रिय राम को देश-निकाला कैसे दिया जाय?

कैकेयी—तीखी चमचमाती खड्गलता को गढ़नेवाला उसे कै बार अग्नि में और कै बार जल में डुबाता है। मोटे हथौड़े के असंख्य प्रहार घन पर रखकर करता है, तब कहीं वह शत्रु-संहारिणी लतिका चमक उठती है।

दशरथ—प्रिये! पिता का हृदय बड़ा तरल होता है।

कैकेयी—और माता का?

दशरथ—सो तो कौशल्या जाने?

कैकेयी—(आहें खींचकर) यह बात है। राम मेरा राम नहीं है। वह कौशल्या का राम है। आप यह भेद करना चाहते हैं ? (सिसकने लगती हैं। नेत्र बन्द हो जाते हैं।)

दशरथ—प्रिये, मुझे अन्यथा न समझो। राम तुम्हें बहुत प्रिय हैं। (आँसू पोछते हैं) मैंने तो एक चलन की बात कही थी।

कैकेयी—(अपने को छुड़ाती हुई) नहीं, नहीं। भ्रम अधिक काल नहीं चल सकता। मैं भी अब चलन की ही बात कहूँगी।

दशरथ—शान्त हो प्रिये।

कैकेयी—(उठ खड़ी होती है।) नहीं, आज से मुझे राम को सपत्नीपुत्र समझना चाहिए।

दशरथ—क्या बकती हो ?

कैकेयी—ईश्वर मुझे बल दें कि मैं सपत्नी का अभिनय कर सकूँ।

(एक ओर से प्रस्थान)

[पटक्षेप]

तीसरा दृश्य

[मंथरा का छोटा-सा आवास है। उसकी साधारण-सी गृहस्थी इधर-उधर बिखरी पड़ी है। घर बिलकुल स्वच्छ और आकर्षक है। कई छोटे-बड़े दारु-पीठ गद्दियों से मढ़े हुए उज्ज्वल वस्त्रों से ढके हुए पड़े हैं। एक बड़े पीठ पर मोटी तकिया रक्खी है। आवास की भूमि पर दरी बिछी हुई है। अत्यन्त प्रातःकाल का समय है। एक ओर से मंथरा और उसके पीछे-पीछे कैकेयी प्रवेश करती है। मंथरा लाल सारी पहने है। उसकी आकृति में भारी कृतज्ञता और आभार के बड़े भारी बोझ का संकोच दिखाई देता है। कैकेयी कुछ चिन्तित, पर फिर भी मुस्कराती हुई दिखाई

देती हैं। हाथ पकड़कर मंथरा कैकेयी को बड़े दारुपीठ पर तकिये के सहारे बैठा देती है और आप चरण को अंक में लेकर भूमि पर बैठ जाती है।]

मंथरा—मैं लज्जा से गड़ी जा रही हूँ स्वामिनी ! इस क्षुद्र दासी का इतना महत्त्व। आपने मुझे बुलवा लिया होता। जूते पैरों की बलाएँ लेने के लिए हैं, उन्हें अपनी ओर घसीटने के लिए नहीं।

कैकेयी—जल्दी से प्रस्थान करनेवाला इस बात की बाट नहीं जोहता कि कोई जूतों को मेरे पास लाकर पहनावे। वह तो स्वयं जाकर पहन लेता है और मैं तो तुझे दासी कभी नहीं समझती मंथरा।

मंथरा— महारानी का दुलार कुरूप, अधम दासी के सिर को कहीं फिरा न दे ?

कैकेयी—सिर देनेवाले का सिर नहीं फिरता। अपने महत्त्व को न बखान।

मंथरा—(कैकेयी के चरणों को सहलाती हुई) मैं तो इनकी ओर झुकना जानती हूँ।

कैकेयी—केश जितने ही चरणों की ओर झुकते हैं, उतना ही उनका सौन्दर्य बढ़ता है।

मंथरा—स्वामिनी अपनी सुन्दरता बखान रही हैं।

कैकेयी—अच्छा, अब समझ की बात सुन। (कूबड़ को पैर से सहलाती हुई) पर्यंक की दो पाटियाँ तो ऊपर और नीचे दोनों ओर सर्वों की भुजाएँ फैलाये हुए एक दूसरे को सहलाया करती

हैं, पर उसके ऊपर का चक्रवाक मिथुन धवल चादर को रातभर जलाशय समझे रहा।

मंथरा—महारानी ने उस प्रसंग को चला दिया था क्या ?

कैकेयी—सो तो होना ही था।

मंथरा—फिर ?

कैकेयी—वही जिसकी आशंका थी।

मंथरा—सम्राज्ञी ने क्या सोचा ?

कैकेयी—चुनौती का उत्तर चुनौती से ही एक क्षत्राणी दे सकती है।

मंथरा—मैं आपके हाथ जोड़ती हूँ। यह प्रसंग अब यहीं समाप्त कर दीजिए।

कैकेयी—(मुस्कराकर) क्यों कातर नारी ?

मंथरा—इसमें कल्याण नहीं है।

कैकेयी—(भ्रुकुटी तानकर) क्या एक व्यक्ति का सुख दो व्यक्तियों का विलास अथवा एक कुल की शान्ति ही विश्व का कल्याण है ? तेरी दुनिया इतनी छोटी है ?

मंथरा—स्वामिनी ! मैं पैर पकड़ती हूँ। मेरी दुनिया केवल आपका महल है; मेरा स्वर्ग केवल आपका सुख है। उसमें घोर अशान्ति हो जाने की आशंका है।

कैकेयी—मैं तो अपने सुख और सोहाग की कोई परवा नहीं करती।

मंथरा—इस उलझन से लाभ ही क्या है ?

कैकेयी—विश्व का कल्याण, भारतवर्ष का उद्धार, आर्यों

की प्रतिष्ठा, अपने परमप्रिय पुत्र का उत्कर्ष केवल इसी ढंग से सम्भव है।

मंथरा—इसे कौन समझेगा ?

कैकेयी—मैं समझती हूँ, महर्षि वशिष्ठ समझेंगे और भविष्य समझेगा और समझावेगा।

मंथरा—मुझे तो भ्रम है कि स्वयं रामचन्द्र ही इसे न समझ पावेंगे।

कैकेयी—शाखाएँ जब अपना कलेजा फाड़-फाड़कर शोभा बढ़ानेवाली हरी-हरी पत्तियाँ निकालती हैं तो पत्तियाँ क्या उनका उपकार मानती हैं ?

मंथरा—सबकी अच्छाई का आपने ठेका लिया है क्या ?

कैकेयी—मूर्ख ! भूल जाती है कि तू सम्राज्ञी से बातें करती है।

मंथरा—महारानी ! महारानी ! भविष्य की करतलध्वनि वर्तमान के धिक्कार को मीठा नहीं बना सकती।

कैकेयी—मीठा न बना सके, पर क्या कड़ुएपन में कोई स्वाद ही नहीं होता ?

मंथरा—काँपती हुई और धुँधली काँध की डोरी पकड़ने के लालच से आप आज आँख खोलकर अँधेरे में गिर रही हैं। कालिमा पोतकर अपने को कलंकित कर देना चाहती हैं।

कैकेयी—बिना काली राख के रगड़े चमक कहाँ आती है ?

मंथरा—आपका महत्त्व समाप्त हो जायगा।

कैकेयी—मेरा कोई महत्त्व नहीं है। मुझे कुछ न समझो। मैं नकार हूँ। शून्य हूँ। अच्छाई-बुराई मुझसे चिपक नहीं

सकतीं। तुम अपने मन की कैकेयी को निकालकर तब कर्म के परिणाम को विवेक के साथ समझो।

मंथरा—मैं आपको भुला नहीं सकती। यह निष्पक्ष विवेक और तटस्थ ऊहापोह मेरे बूते की बात नहीं।

कैकेयी—इतने काल तक मेरे महल में रहकर यह सीखा!

मंथरा—मिल-जुलकर क्या कोई मार्ग नहीं निकल सकता?

कैकेयी—तुमने महाराज से बातें करने की सलाह दी थी। वे सब जानते हैं और समझते हैं, पर मोह में इतना फँसे हैं कि कोई भी बात सुनने को प्रस्तुत नहीं।

मंथरा—तो वत्स राम से कहकर देखिए।

कैकेयी—तूने कैकेयी को क्या समझा है? वह बसौठी उठाने के लिए रघुकुलवधू नहीं बनी।

मंथरा—कुमार बड़े योग्य हैं।

कैकेयी—मैं राम को आज्ञा दूँगी यदि उसकी आवश्यकता हुई। वे मेरे पुत्र हैं।

मंथरा—तो क्या शान्ति की व्यवस्था के सब द्वार बन्द हैं?

कैकेयी—मैं तो दृढ़ हूँ। सब ओर की रुकावटों से सिमट-कर एकत्रित हुई निर्झरिणी बाँध तोड़कर बहनेवाली है। मुझे बड़ी भीषण समझो मंथरा।

मंथरा—कोमल अङ्गों से और मीठी जिह्वा से यह न कहो।

कैकेयी—यह तो नियति के वाक्य हैं।

मंथरा—स्वामिनी! महारानी कौशल्या से इस विषय में कुछ कहा जा सकता है क्या?

कैकेयी—जब सम्राट् ने ही कुछ न सुना; उनके हृदय

और प्रेम पर तो बड़ा भरोसा था। कौशल्या तो राममाता भी हैं और सपत्नी भी। (उदास हो जाती है। आँसू झलकने लगते हैं।)

मंथरा—महारानी दुखी न हों। (मंथरा के भी आँसू झलक आते हैं।)

कैकेयी—कौशल्या से न कहने का एक और कारण भी है।

मंथरा—वह क्या है स्वामिनी ?

कैकेयी—मैं अब सपत्नी बनकर दिखाना चाहती हूँ। इस विषैले वस्त्र को पहनकर फिर बहन का स्वांग भरना असंभव है।

मंथरा—यह तो आपके गौरव के लिए और बुरा है। स्वामिनी ! इतना न उतरिए।

कैकेयी—मेरा स्वामी नासमझी से मुझे नीचे ढकेल रहा है।

मंथरा—पति-विरोध पत्नी के लिए कलंक है महारानी ! अब भी समझ जाइए।

कैकेयी—पति ने स्वयं मुझे जो पढ़ाया है, उसे कैसे भूलूँ। उन्होंने स्वयं कहा है कि मैं राममाता नहीं हूँ।

मंथरा—फिर भी कोई युक्ति सोचिए। बड़ा उपद्रव मच जायगा।

कैकेयी—मैं सब सोच चुकी हूँ। धीमी पुकार कौन सुनता है ? हल्की हवा के समक्ष कौन झुकता है ? यदि मैंने वाणी में मिठास मिलाई तो मैं कुछ न कह सकूँगी। सम्राट् मुझे डाँट देंगे अथवा धीरे से समझा देंगे। कपोलों पर थपकियाँ लगाकर निरुत्तर कर देंगे; पति की उँगलियों के बीच में दबी हुई ठोढ़ी हाथ के तकिये में रक्खा हुआ केश-भार नेत्रों को इतना साहस-

हीन कर देगा कि वे महाराज की ओर ताक तक न सकेंगे। और यदि नेत्र मिल भी गये तो प्रेम की घुलावट में बुद्धि के सारे मंसूबे बहे-बहे घूमेंगे। मेरी युक्तियाँ तर्क का विलास समझकर टाल दी जायँगी। कैकेयी कायर-हितेच्छु निर्बल पक्षपाती, शिथिल-सिद्धान्त प्रमाणित होना नहीं चाहती।

मंथरा—यदि सम्राट् यह कहें कि आर्यों का विशाल राज्य अब वृद्ध दशरथ के बूते का नहीं। कुमार रामचन्द्र को प्रवास देने से यहाँ की व्यवस्था कौन करेगा ?

कैकेयी—इसका उत्तर मैं सोच चुकी हूँ, मंथरा। यह उत्तरदायित्व भरत सँभालेगा, ऐसा कह दूँगी। वह मेरी कोख का है। मेरा सपत्नी का स्वाँग भी पूरा हो जायगा। सपत्नी को खड़े होने के लिए नया आधार मिल जायगा। भरत की कार्य-पटुता की सराहना स्वयं सम्राट् कई बार कर चुके हैं।

मंथरा—फिर तो कुमार भरत भी काले दिखाई देने लगेंगे। बुराइयों का पर्वत इतना बड़ा और ऊँचा हो जायगा कि सब उसी ओर देखते रहेंगे, कालिमा की मोटी चादर के पीछे आँखें गड़ाने में भी कुछ न दिखाई देगा।

कैकेयी—प्यारी मंथरा ! गहरी अँधियारी में आँखें भी काम नहीं देतीं। मैं वैसी ही काली, निविड़ अँधियारी बनाना चाहती हूँ।

मंथरा—यह भ्रम है, काले नभोमंडल की ओर सदा काली पुतलियाँ देखा करती हैं।

कैकेयी—फिर तो ठीक है। ऊपर देखनेवाले को दृष्टि भी ऊँची करनी होगी।

मंथरा—यदि सम्राट् ने दोनों में से कोई बात न मानी ?

कैकेयी—पतिव्रता पत्नी कर ही क्या सकती है, वह केवल अपने प्राणों से उसका उत्तर देगी।

मंथरा—वह तो और भी अशुभ है। पहले मंथरा के प्राण बिदा होंगे, फिर आप कलंक को उधार ले सकेंगी।

कैकेयी—तू यह मत डर कि लोग कहेंगे कि तूने घर को बाराबाट किया। मैं अपनी मैली चादर किसी को न उढ़ाऊँगी।

मंथरा—यह न कहो महारानी ! दासी का अपमान आप तो न करें। मंथरा कैकेयी के महल में अपनी स्वामिनी के साथ दुर्गन्ध में भी साँस लेगी और प्राणों का पाँसा भी वह पहले ही फेंकेगी।

कैकेयी—पर मरने पर भी तो देश-हित न हो सकेगा, इसका दुःख है।

मंथरा—एक बार सम्राट् ने आपको दो वरदान देने का वचन दिया था।

कैकेयी—यक्ष-युद्ध की बात कहती होगी ? यह उन्हें स्मरण थोड़े ही होगा ?

मंथरा—बड़े लोग देना कभी नहीं भूलते। सम्राट् वचन से टल नहीं सकते। केवल आप उन्हें स्मरण भर करा दीजिए।

कैकेयी—महाराज ऐसे ही सत्य-प्रतिज्ञ हैं, तू ठीक कहती है।

मंथरा—महारानी ! आज फिर सम्राट् को अपने पर्यंक पर आमन्त्रित करें। प्रेम का विस्तार विश्वास को बन्दी कर लेगा। वश में देखकर दोनों वर माँग बैठिए, परन्तु तीन बार तिखार

कर ही अपना मन्तव्य खोलिएगा। एक वरदान द्वारा राम का निर्वासन कह देना और दूसरे में भरत को राजा बनाने का प्रस्ताव रखना। पर स्मरण रहे कि कल रातवाला प्रसंग भूलकर पहले न चलाइएगा।

कैकेयी—बहुत ठीक कहा। (प्रसन्न होती है।) पर उत्तर में यदि महाराज कुछ ढीले दिखाई दिये ?

मंथरा—कोपभवन की ओर आपका प्रस्थान इसका उत्तर है। न सम्राट् अपने वचनों को टाल सकते हैं और न आपके रोष को देख सकते हैं।

कैकेयी—मेरा भी ऐसा ही अनुमान है।

मंथरा—परन्तु स्वामिनी ! (पैर पकड़ती है।) मैं तो एक बार विरत होने के लिए फिर कहूँगी। क्रूर सपत्नियों में आपका नाम सबसे पहले लिखा जायगा।

कैकेयी—(निःश्वास लेकर) ठीक कहती हो सखी। मेरे मन में स्वयं भी बड़ी उलझन है। राम की कोमलता को सोचकर मन सहम जाता है। पति का हृदय भी मैं जानती हूँ। राम के वियोग में वह फट सकता है। मैं सूर्यकुल को भस्म करने के लिए चिनगारी फूँकने जा रही हूँ। इतिहास गाढ़ी काली स्याही घोल रहा है।

मंथरा—फिर संकोच का ही तिलक कीजिए। अभी कुछ बिगड़ा नहीं है।

कैकेयी—(आँसू भर के) प्यारी सखी ! मुझे कातर न बना। सूर्यकुल ही दुनिया नहीं है। अयोध्या का राज्य-विस्तार ही

विश्व नहीं है। ब्रह्माण्ड इससे बहुत बड़ा है। यदि हमारे प्यारे परिवार को मर मिटना भी पड़े और राक्षसों और अनार्यों से शाश्वत विधान बचे रहें तो यह कम नहीं। कुल का ध्वंस हो, कैकेयी धिक्कारों की चढ़ाई के लिए ढाल बनकर सब आक्रमणों को सहे, पर अपने परमप्रिय पुत्र राम को पैना अस्त्र बनाकर मानवता के शत्रुओं पर अवश्य फेंकेगी। आततायियों का निधन अवश्य होगा, यह कोई मुझसे कहता है। राम विजयी होगा, यह शकुन सामने चमक रहा है। कुल के मोह में फँसे हुए नीले समुद्र के ज्वारभाटे से काँपें। चमकते हुए मोती निकालने-वाले गोते से नहीं डरते। मेरी लाज जाय; मेरा गौरव बुझे, मेरा पुत्र आग में कूदे, मेरा सोहाग मुझे छोड़ दे। देश के लिए क्षत्राणियों का दिल पत्थर का होता है। कैकेयी कुछ नहीं है, वह परमात्मा का अमोघ साधन है। राम ऊपर उठे और उस पर पैर रक्खे जायँ, वह ऐसी सीढ़ी है। वह अपने शव की लौ से संसार को उजाला देना चाहती है। मंथरा बस।

(इतना कहकर कैकेयी सहसा निकल जाती है।)

[पटक्षेप]

चौथा दृश्य

[राज्याभिषेक की समस्त सामग्री रक्खी है। मँजा हुआ सोने का सिंहासन प्रकाश में चमचमा रहा है। महर्षि वशिष्ठ कुछ ऋषियों और ऋषिकुमारों के साथ उसी के पास बैठे हैं। ठीक सामने जाम्बवन्त, बिभीषण, सुग्रीव, नल, नील तथा अंगद बैठे हैं। महारानी कौशल्या और सुमित्रा अपनी-अपनी पुत्र-वधुओं के साथ राजसिंहासन के पास बैठी हैं। औरों की अपेक्षा महर्षि वशिष्ठ का आसन-पीठ ऊँचा है। महारानी सीता

आभूषणों से सुसज्जित अभिषेक के चिह्नों से अलंकृत पीला रेशमी वस्त्र पहने महारानी कौशल्या के पार्श्व में आसीन हैं। राजसिंहासन के तीन पैरों के पास कुमार भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न सुन्दर वस्त्रों को पहने हुए प्रसन्नवदन बैठे हैं। चामर और व्यजनधारी सेवक अपना कार्य कर रहे हैं। सुमन्त्र और महामन्त्री ऋषिवर वशिष्ठ के दाहिने ओर बैठे हैं। मंडप के ठीक नीचे एक बड़ा भारी सुवर्णकलश रक्खा है। उसी के आसपास अभिषेक की और वस्तुएँ रक्खी हैं। एक ओर से कुमार रामचन्द्र के साथ महारानी कैकेयी प्रवेश करती हैं। रामचन्द्र के पीछे-पीछे हनुमान प्रवेश करते हैं। सब सभा उठ खड़ी होती है। महारानी कैकेयी के बैठ जाने पर रामचन्द्र तथा अन्य सब लोग बैठ जाते हैं।]

वशिष्ठ—(कैकेयी से) महारानी आगे आइए।

कैकेयी—हे पावनवर! मुझे लज्जित न कीजिए। आपके होते हुए राज्यतिलक दूसरा कोई न करेगा।

वशिष्ठ—पर चिरञ्जीवी राम का राज्यतिलक महारानी कैकेयी ही करेंगी। यही मेरी व्यवस्था है और यही सबका मन्तव्य है।

कैकेयी—महर्षिवर! कुलकलंकिनी, पुत्रद्रोहिणी, पति-घातिनी, सपत्नी को विनाश करनेवाली कैकेयी क्या स्वप्न देख रही है?

वशिष्ठ—सबका भ्रम दूर हो चुका है, सब लज्जित हैं।

कैकेयी—नहीं भगवन्! आपका सौजन्य मुझे व्यर्थ का बड़प्पन दे रहा है।

वशिष्ठ—महारानी! समस्त जनता लज्जित है; सारे पुरजन और परिजन ग्लानि से गड़े जा रहे हैं। सन्देह जिनके

मनों को झाँक भी गया है, वे सब तुम्हारे आत्मीय अपनी अनुदारता के लिए हाथ जोड़कर क्षमा माँगते हैं। तुम्हारे महत्त्व को उन्होंने आज समझा।

कैकेयी—(नेत्रों में आँसू भर के) रघुकुल-गुरु ! कैकेयी वास्तव में वैसी ही पापिनी है। सबने मुझे ठीक समझा है। घटना-चक्र के आश्चर्यजनक घुमाव ने जो चमकीली परिस्थिति सामने रख दी है, उसकी कौंध विवेक को ठीक-ठीक निर्णय कब करने देती है। (सिसकने लगती है।)

वशिष्ठ—दुखित न हो महारानी !

कैकेयी—मैं पतिघातिनी हूँ।

वशिष्ठ—ऐसा न कहो। तुमने अपने पति को बड़ा पवित्र परामर्श दिया था।

कैकेयी—मेरे हठ के कारण ही उनकी असमय मृत्यु हुई।

वशिष्ठ—समय-मृत्यु से उनकी असमय-मृत्यु कहीं अच्छी है। उजियाली का दिवाला निकाले हुए कितने ही तारकगण आकाश में प्रलय की प्रतीक्षा में टिमटिमाया करते हैं ; परंतु दिगन्त दाह करके विलीन हो जानेवाला उल्का कहीं अधिक आँखों में टिका रहता है।

कैकेयी—हाय स्वामी ! कहाँ हो ?

वशिष्ठ—वे स्वर्ग में अपनी प्रिय पतिव्रता पत्नी की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

कैकेयी—मैंने तो उनसे झगड़कर स्वयं अपने को अलग कर लिया है।

वशिष्ठ—पति-पत्नी-सम्बन्ध आत्माओं का अमर मिलाव है। शरीर के बाद भी वह गाँठ नहीं खुलती।

कैकेयी—मैंने वत्स रामचन्द्र को बड़ी आपत्तियों में ढकेल दिया था। एक पिशाचिनी भी ऐसा न करेगी। (रामचन्द्र की पीठ पर सिर रख देती हैं और सिसकने लगती हैं।)

रामचन्द्र—माताजी, (सिर उठाते हुए) अनार्य राक्षसों का ध्वंस, साधुता और साधुओं की स्थापना, साम्राज्य का इतना बड़ा विस्तार और तुम्हारे राम का इतना उत्कर्ष यह किसकी आज्ञा का वरदान है ? (पैर पकड़ लेते हैं।)

कैकेयी—(छुड़ाती हुई; आँसू झरझर गिरने लगते हैं!) वत्स! वत्स !! तुम महान् हो, ईश्वर तुम्हें दीर्घायु करे।

रामचन्द्र—मुझे बड़ी ग्लानि है कि आपके महत्त्व को मेरे कारण कलंक लगा।

कैकेयी—जब मेरी कोख से उत्पन्न, मेरे मांस और रक्त का उत्तराधिकारी, मेरा प्राण स्वयं ही मुझे अन्यथा समझा।

रामचन्द्र—वत्स भरत का रोष मेरा प्रेम था। माताजी ने द्वेष और प्रतिहिंसा की इतनी मैली चादर तान रक्खी थी कि आपको देख लेना असंभव था। उन्हें क्षमा कीजिए। (फिर पैर पकड़ लेते हैं।)

कैकेयी—(साँस खींचकर, पैर छुड़ाते हुए) मुझे उस घृणित अभिनय के लिए सब एक बार धिक्कारो।

रामचन्द्र—द्वेष, डाह और मत्सर के महत्त्व की टीका भी माता ने कर दी। क्या यह सब दोष हम लोगों का नहीं है कि आपको हमारे लिए कलंकित होना पड़ा। यह निश्चय है कि

यदि आप नीचे न उतरतीं तो हम लोग ऊपर न उठ सकते थे।

कैकेयी—मैंने अपने को नष्ट कर दिया है। मैं विश्व के मुखोच्छिष्ट का विसर्जन-पात्र हूँ। मुझे मत छुओ राम! तुम पवित्र हो।

रामचन्द्र—यह पवित्रता आपकी ओढ़ाई हुई है। सूर्य पर थूकनेवाला अपने ऊपर थूकता है।

कैकेयी—पुत्र, सच कहो। क्या भरत तुमसे मुझे अधिक प्रिय है?

रामचन्द्र—मैं यह कह सकता हूँ कि मैं आपको सबसे अधिक प्रिय हूँ। इस दुलार ने ही मेरे ज्ञान को सीधा खड़ा होकर आपको समझने नहीं दिया।

कैकेयी—मेरा कलंक चिरञ्जीवी हो। (निःश्वास लेती है।)

वशिष्ठ—महारानी निष्कलंक हैं।

कैकेयी—ऋषिवर, क्या मेरा यह अभिशाप कभी छूट भी सकता है?

वशिष्ठ—लोकमंगल ने इस भ्रम को न जाने कब दूर कर दिया है। आप अत्यन्त पवित्र हैं।

कैकेयी—छोटे होते हुए भी अपने पुत्र को राज्य दिलाने का षड्यन्त्र करनेवाली मैं पवित्र हूँ?

रामचन्द्र—माता ने कैसा राज्य सौंपा यह भरत जानते हैं, मैं जानता हूँ, महर्षिवर रघुकुलगुरु जानते हैं, माताएँ जानती हैं और अब सब पुरजन और परिजन जानते हैं।

कैकेयी—परन्तु जिनका राज्य था, वे तो न जान सके! (रोने लगती है।)

वशिष्ठ—स्वर्गीय महासम्राट् दशरथ किसी वातायन से सब देख रहे होंगे। अपनी प्यारी पत्नी की कार्य-कुशलता की सराहना कर रहे होंगे। अपने प्रिय पुत्र भरतकी समझ पर बलिहार हो रहे होंगे।

[कैकेयी के आँसू रुकते नहीं। कौशल्या उनका सिर अपनी गोद में लेकर पुचकारती हैं। सुमित्रा उन पर व्यजन करती हैं।]

शत्रुघ्न—(कैकेयी को सम्बोधित करके) माताजी! चित्रकूट से लौटकर जब पूज्य भाई भरत ने आपसे यह मन्तव्य कह डाला कि वे गद्दी पर कदापि न बैठेंगे; उस पर पूज्य भाई रामचन्द्र की पादुकाएँ विराजेंगी और उन्हीं का ध्यान करके समस्त राज्य-कार्य चलाया जायगा, तो आपने क्या कहा था?

कैकेयी—तुम्हीं कहो पुत्र! मुझे तो याद नहीं है।

शत्रुघ्न—माताजी ने भाई भरत के सिर को सूँघा और कहा—"तुमने मेरे काले मुख को उज्ज्वल किया, मेरी कोख के गौरव को साधा, मेरे पतन का हलका विराम बने, महाराज कौशलेश की मर्यादा के अनुकूल सोचा। परमात्मा तुम्हारा कल्याण करे।"

कैकेयी—इसमें तो तुम्हारे बड़े भाई का ही महत्त्व है। वत्स रामचन्द्र का प्रभाव है। मैं कुछ भी कहती, भरत वही करता जो उसने ठान लिया था।

रामचन्द्र—बड़े-बड़े काम कर दिखानेवाला भगवान् भी तो माता ही की भाँति सबके नेत्रों से ओझल है। भरत के और मेरे जैसे नगण्य साधन कीर्ति लूटते हैं।

शत्रुघ्न—(कैकेयी से) माताजी, राज्याभिषेक की बेला टल रही है।

कैकेयी—(कुछ मुस्कराकर) कैकेयी राजतिलक का मुहूर्त टाल सकती है । (सब हँसने लगते हैं ।) (कौशल्या से) मुझ पापिनी को बचाओ । आगे आकर वत्स राम का तिलक करो । हिंसक मार्जारी के लिए वैष्णवछाप लगाते अच्छा नहीं लगता ।

कौशल्या—(कैकेयी को अंक में भरकर) राम तुम्हारा ही पुत्र है । तुम्हारे ही योग्य है । मैं तो उसकी केवल धाई थी ।

कैकेयी—धन्य हो बहन ! जो इस अभागिनी के लिए अब भी इतना त्याग करने को तैयार हो । मैं जानती हूँ कि तुम्हारे मन को मैंने बहुत दुखाया है । तुम्हारे प्रिय पति को मोह में फँसाकर पहले ही छीन रक्खा था, अब उसे खोकर तुम्हें उसके दर्शनों से भी वंचित किया । तुम्हें विधवा बनाया और तुम्हारे प्राणों को चौदह वर्षों तक वनों में घुमाया ।

कौशल्या—ऐसा न कहो (कैकेयी से लिपटकर) मेरी प्यारी बहन ! तुमने हृदय को समझने की शिक्षा दी ; तुमने विद्वेष और डाह की नई परिभाषा रची ; क्षणभंगुर शरीर के मुँह से तुमने अपने पति की अमर कीर्ति निकाल दी ।

कैकेयी—(सीता से) मेरी प्यारी पुत्रवधू ! तुमने मेरे कारण राक्षसों की यातनाएँ भोगीं ।

कौशल्या—जो महल की सीमाओं की रेखाओं को कठिनता से पढ़ पाती थी उस अनुभवहीन, नासमझ बालिका को विश्व के प्रांगण में घुमाकर तुमने किरीट पहनने के पहले ही ज्ञान की प्रतिभा और शील की मूर्ति चक्रवर्ती सम्राज्ञी बना दिया ।

कैकेयी—नंगे पैरों की बिबाइयोंवाला मेरा वत्स राम ! (राम को पकड़ लेती है ।)

कौशल्या—कैकेयी ! तुमने क्या चौदह वर्ष की दूरी में वीरों का आदर्श, राजाओं का गौरव, जनता का सच्चा नायक और लम्बे-चौड़े साम्राज्य का सम्राट् अयोध्या को नहीं दिया ?

कैकेयी—(कौशल्या के पैर पकड़कर) यह तुम्हारे गुणों का उत्तराधिकार है। बहन ! राजतिलक तुम्हीं करोगी। तुम्हीं इसके योग्य हो।

कौशल्या—न कैकेयी ! मेरे पति ने तुम्हें राजमाता बना दिया है। तुम पुत्र को भी लो और राजमाता भी बनो।

कैकेयी—महाराज ने मेरी आज्ञा मानी। तुम भी मानो बहन ! (हल्का मुस्कराकर)

कौशल्या—तुम मुझसे छोटी हो कैकेयी।

कैकेयी—तो राम और सीता तुम्हें अब न मिलेंगे।

कौशल्या—मेरा कुछ नहीं है ; सब विश्व का है। यह तुम सिखा चुकी हो।

कैकेयी—(निरुत्तर-सी होकर) बहन सुमित्रा, तुम्हीं कुछ कहो।

सुमित्रा—यही कि शीघ्र राम वत्स को तिलक करो।

कैकेयी—तुम बड़ी भली हो बहन ! क्या मेरे ही कारण तुम्हारा पुत्र वन-वन नहीं घूमा ? क्या तुम्हारी भोली पुत्रवधू उर्मिला ने मेरे ही कारण वियोग में तन को नहीं गलाया ! इतनी जल्दी भूल गई ?

सुमित्रा—तुम्हारे लक्ष्मण का जीवन अधूरा रहता। पूज्य बहन ! गलीचों में काँटे नहीं होते। जीवन के घुस-पैठ की रगड़ सम्राटों के लड़कों को महलों के बड़े-बड़े फाटकों में नहीं

मिलती। मत्थे पर श्रम-बिन्दुओं को झलकानेवाली कसमसाहट का सँकरापन बड़े-से-बड़े मानव के अनुभवों की शोभा है। सुख को दुःख माँजता है। समृद्धि का महत्त्व दरिद्रता समझाती है। उर्मिला की तरुणाई की तपस्या उसके भावी सुखों की बस्ती को हराभरा किये रहेगी।

कैकेयी—(महर्षि वशिष्ठ से) कैकेयी अपने हाथों राजतिलक करे इसमें कौन-सा सौन्दर्य है, ऋषिवर !

वशिष्ठ—तुमने एक राज्य सजाया, तुमने उसकी व्यवस्था सोची, तुम्हीं उसका शासक भी मनोनीत करो।

कैकेयी—नहीं गुरुवर ! मैं अपने महत्व को दूर फेंक चुकी हूँ ; अब उस छलिये का मुँह नहीं देखना चाहती। यदि कहीं मेरे प्राणधन आज यहाँ होते। (रोने लगती है।)

वशिष्ठ—वह भी तुमसे यही प्रार्थना करते।

कैकेयी—(वेग से रो उठती है।)

वशिष्ठ—जिसके संकेत पर उन्होंने अपने परम-प्रिय पुत्र को चौदह वर्षों के लिए त्याग दिया, अपने प्राण खोये ; उस परम-प्रिय पटरानी के हाथों राजतिलक उन्हें अवश्य अलौकिक आनन्द देता।

कैकेयी—हे प्राणपति ! प्राणवल्लभ !! प्राणनाथ !!! तुम कहाँ हो ? (मूर्च्छित होती है।)

कौशल्या—धैर्य धरो बहन ! (गोद में सिर रख लेती है। कौशल्या के भी आँसू गिरने लगते हैं। सुमित्रा भी रोने लगती हैं। सब उदास हो जाते हैं।)

सुमंत्र—महाजनों के चरित्र कितने कठोर और कितने कोमल होते हैं, कितने जटिल और कितने खुले हुए।

(शत्रुघ्न कैकेयी पर व्यजन करने लगते हैं । वे धीरे से नेत्र खोलती हैं ।)

वशिष्ठ—महारानी धैर्य धरें ! राजतिलक की घड़ी निकल न जाय ।

कैकेयी—(संज्ञा लाभ करके, बैठकर) हे पावनवर, इस दुखिया विधवा की रक्षा कीजिए ।

वशिष्ठ—(सिर नीचा करके चुप हो जाते हैं ।)

कैकेयी—सब कुछ जाकर भी लौट आया । पर हे ऋषिवर ! कहाँ है मेरी माँग की शोभा, मेरे मान का आलम्बन ; मेरे अंचल की चंचलता ? (रोती है ।)

वशिष्ठ—सम्राट् स्वर्ग से सब देख रहे हैं ।

कैकेयी—अच्छा तो मैं भी अब·····(कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है, कुछ कह नहीं पाती ।)

[कौशल्या गोद में भरकर कैकेयी को खड़ी कर देती हैं । भरत और लक्ष्मण रामचन्द्र को पकड़कर सिंहासन पर बिठा देते हैं । मांडवी और उर्मिला सीताजी को उठाकर रामचन्द्र की बाईं ओर बिठा देती हैं ; सुग्रीव, विभीषण और हनुमान चमर डुलाने लगते हैं ; रोचन की थाली को हाथ में लेकर अरुन्धती उसे कैकेयी के सामने कर देती हैं । कैकेयी राजतिलक करती हैं । आँसू झरझर गिरने लगते हैं । सुमित्रा राम और सीता की आरती उतारती हैं ।]

लक्ष्मण—"राजा रामचन्द्र की जय !"

सब समवेत स्वर में कहते हैं—"राजा रामचन्द्र की जय !"

[पटक्षेप]

साहित्य और जीवन का सम्बन्ध

(लेखक—श्री पं० नन्ददुलारे वाजपेयी)

[पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी का जन्म भाद्रपद कृष्ण १५ सं० १९६३ को उन्नाव जिले के मगरायल ग्राम में श्रेष्ठ कान्यकुब्ज ब्राह्मण-कुल में हुआ था। आपके पिता पहले खेतड़ी (राजपूताना) में हिंदी के अध्यापक थे। यहाँ का प्राकृतिक दृश्य बड़ा मनोरम है, यहीं आपका आरंभिक जीवन व्यतीत हुआ। जन्म के डेढ़ वर्ष बाद ही आपकी माता का देहांत हो गया था।

सन् १९२५ में आपने एफ० ए० पास किया। उसके अनंतर आप काशी विश्वविद्यालय में पढ़ने के लिये आए। यहाँ से १९२७ में बी० ए० और १९२९ में हिंदी लेकर एम० ए० पास किया। बी० ए० में ये विश्वविद्यालय के प्रमुख छात्रों में थे और एम० ए० में अपनी श्रेणी के विद्यार्थियों में इनका प्रथम स्थान था। १९२९ से ३० तक ये मध्यकालीन हिंदी काव्य में अनुसंधान-कार्य करते रहे।

१९३० में आप 'भारत' पत्र के संपादक नियुक्त हुए। यह पत्र नर्म नीति का था, अतः पत्र के अधिकारियों से आपका मतैक्य नहीं हो सका। उक्त पत्र में रहकर आपने अनेक साहित्यिक लेख लिखे; आधुनिक साहित्य की आलोचना आपका मुख्य विषय था। आपके निबन्ध नई शैली के, मनोवैज्ञानिक गंभीरता लिए होते थे और नवीन काव्यधारा पर नया प्रकाश डालते थे। १९३२ में 'भारत' का काम छोड़कर आप काशी आ गए। यहाँ नागरीप्रचारिणी सभा में सूरसागर का संपादन-कार्य, जिसे रत्नाकरजी अधूरा छोड़ गए थे, आरंभ किया।

१९३७ में आप गीता प्रेस, गोरखपुर चले गए। वहाँ रामचरितमानस का संपादन-कार्य आपको दिया गया।

आपकी रचनाएँ निम्नांकित हैं:—

१ जयशंकर प्रसाद, २ हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, ३ साहित्य : एक अनुशीलन, ४ तुलसीदास प्रबंध, ५ सूरसागर (काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा), ६ रामचरितमानस (गीता प्रेस), ७ हिंदी की श्रेष्ठ कहानियाँ, ८ हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, ९ सूर-सुषमा, १० सूर-संदर्भ, ११ साहित्य-सुषमा, १२ धर्मों की एकता (डाक्टर भगवानदास की 'Essential Unity of all Religions' पुस्तक का अनुवाद)।

श्री पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी हिंदी के ख्यातनामा लेखक हैं। इस युग के साहित्य समीक्षकों में आपका स्थान बहुत ऊँचा है। बहुत समय तक प्रयाग के 'भारत' नामक पत्रका सम्पादन करने के पश्चात् आपने विभिन्न क्षेत्रों में रहकर हिंदी की अनुपम सेवा की है। हिंदू विश्वविद्यालय काशी में अभी थोड़े समय तक आप हिंदी के अध्यापक थे। आज-कल आप मध्यप्रांतीय सागर विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के अध्यक्ष हैं।

वाजपेयीजी की लेखन-शैली बड़ी मनोहारिणी और हृदयग्राहिणी है। उसमें गंभीरता और मृदुता दोनों हैं। शब्दों के प्रयोग में न वे कट्टर शुद्धवादी हैं और न हिंदुस्तानी के हिमायती। उनकी भाषा में ओज और वेग एक साथ मिलते हैं। समीक्षा तत्वों के निर्माण में और उनके प्रतिवादन विधान में आपने एक नितांत मौलिक परिपाटी का अनुसरण किया है। साहित्य प्रवेश में आपकी दृष्टि नितांत पैनी और मर्म उद्घाटन में नितांत सहृदय है। आपकी समीक्षाओं को एक अधिकारी का निष्कर्ष समझना चाहिए।]

हमारी हिन्दी में और अन्यत्र भी इन दिनों साहित्य और जीवन में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने की जोरदार माँग बढ़ रही है। आज परिस्थिति ऐसी प्रवेगपूर्ण है कि इस माँग की खूब कद्र की जा रही और खूब दाद दी जा रही है। स्कूलों और

कालेजों के विद्यार्थी बड़ी उमंग के साथ इस विषय के व्याख्यान सुनते और ताली बजाते हैं। लेखकगण घर के बाहर स्वदेशी लिबास में रहने में प्रतिष्ठा पाते हैं और समालोचकगण उत्कर्ष-पूर्ण साहित्यकार की अपेक्षा जेल का चक्कर लगा आनेवाले सैनिक साहित्यिक के बड़े गुण-गान करते हैं। पत्र-पत्रिकाओं में जोशीले लेख छपते हैं जो जीवन और साहित्य को एकाकार करने के एक कदम और आगे बढ़कर लेखों को लेखकों के खून से सरा-बोर देखना चाहते हैं। एक प्रकार का उन्माद उत्पन्न किया जाता है जो साहित्य-समीक्षा को जड़ से उखाड़ फेंकने का सरं-जाम करेगा और जीवन को नितान्त उग्र और, सम्भव है, पाखंडपूर्ण भी बना देगा। बंगाल में ऐसे ही विचार-प्रवाह के कारण, महाकवि रवीन्द्रनाथ को, कियत्काल के लिए ही सही, धक्का उठाना पड़ा है और आज हिन्दी में भी वही हवा चल रही है। हम जिस संकीर्ण वात्याचक्र में घिरे हुए साँस ले रहे हैं उसमें यदि साहित्य को राजनीतिक प्रोपेगण्डा का साधन बनाया जाय तो यह स्वाभाविक है। ऐसा अन्य देशों में भी होता रहा है। पर इसे ही साहित्यिक समीक्षा की स्थिर कसौटी बनाने और इसी के अनुसार उपाधि-वितरण करने का हम समर्थन नहीं करते।

साहित्य और जीवन का सम्बन्ध देखने के लिए क्षणिक राष्ट्रिय आवश्यकताओं की परिधि से ऊपर उठने की आवश्यकता है। हम साहित्य के आकाश में क्षितिज के पास के रक्तिम वर्ण ही को न देखें, सम्पूर्ण सौरमण्डल और उसके अपार विस्तार, अगणित रंग-रूप के भी दर्शन करें। साहित्य की शब्दा-

वली में हम क्षणिक यथार्थ को ग्रहण करने में लगकर वास्तविक यथार्थ का तिरस्कार न करें जो विविध आदर्शों से सुसज्जित है। हम साहित्य और जीवन का सम्बन्ध अत्यन्त व्यापक अर्थ में मानें। देश और काल की सुविधा के ही मोह में न पड़ें।

साहित्य के साथ जीवन का सम्बन्ध स्थापित करने का आग्रह यूरोप में पिछली बार फ्रेंच-राज्य-क्रान्ति के उपरान्त किया गया और हमारे देश में, आधुनिक रूप में, यह अभी कल की वस्तु है। इँगलैण्ड में वर्डसवर्थ और फ्रान्स में विक्टर ह्यूगो आदि साहित्यकार इस विचारशैली के आविर्भाव करनेवालों में से हैं। प्रारम्भ में इसका रूप अत्यन्त समीचीन था। यूरोप का मध्यकालीन जीवन अस्तंगत हो गया था। उसके स्थान में नवीन जीवन का उदय हुआ था, जिसके मूल में बड़ी ही सरल और सात्विक भावनाएँ थीं। नवीन जीवन के उपयुक्त ही नवीन समाज का विकास हुआ और इसी विकास के अनुकूल साहित्य में भी प्रकृति-प्रेम, सरल जीवन आदि की भावनाएँ देख पड़ीं। यहाँ तक कृत्रिमता किंचित् नहीं थी। अङ्गरेजी साहित्य में मेथ्यू आर्नल्ड और वाल्टर पेटर जैसे दो समीक्षक—एक जीवन-पक्ष पर स्थिर होकर और दूसरा कला अथवा सौन्दर्य-पक्ष पर मुग्ध होकर—समान रीति से कवियों की प्रशंसा कर सकते थे। परन्तु बहुत दिन ऐसे नहीं रह सके। शीघ्र ही यूरोप में राष्ट्रीयता और प्रादेशिक भावनाओं का विस्तार हुआ और रूस में समाज-सम्बन्धी शक्तिशालिनी उत्क्रान्ति हुई। रूसी साहित्य को वहाँ के समाजवाद की सेवा में उपस्थित होना पड़ा, जिसके कारण उसकी स्वतन्त्रता बनी न रह सकी। साहित्य

अधिकांश में राष्ट्र के सामाजिक और राजनीतिक संघटनों का प्रयोग-साधन बन गया। नवीन युग की नवीन वस्तु के रूप में उसको बाजार अच्छा मिला और आज उसका सिक्का यूरोप ही नहीं भारत में भी धड़ाके से चल रहा है। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इस रूप में साहित्य परतन्त्र सामयिक जीवन की बँधी हुई लीक में चलने को बाध्य किया गया है। साहित्य और जीवन का स्वभाव-सिद्ध सम्बन्ध सर्वथा मंगलमय है; पर क्या इस प्रकार का सम्बन्ध स्वभावसिद्ध कहा जा सकता है? जीवन की स्वच्छन्द धारा ही जहाँ बँधी हुई है वहाँ साहित्य तो शिकंजे में जकड़ा ही रहेगा। आज साहित्य और जीवन का सम्बन्ध जोड़ने के बहाने साहित्य को मिथ्या यथार्थ की जिस अँधेरी गली में ले चलने का उपक्रम किया जाता है, हम उसकी निन्दा करते हैं।

साहित्य और जीवन का सम्बन्ध जोड़ने के सिलसिले में समीक्षकों ने साहित्यकार के व्यक्तिगत बाह्य जीवन से भी परिचित होने की परिपाटी निकाली। यातायात के सुलभ साधनों के रहते, सम्मिलन के सभी सुभीते थे। बस साहित्यकार को भी पब्लिकमैन बना दिया गया। साहित्यालोचन की जो पुस्तकें निकलीं उनमें यह आग्रह किया गया कि साहित्यकार की व्यक्तिगत जीवनी का परिचय प्राप्त किए बिना उसके मस्तिष्क और कला का विकास समझ में नहीं आ सकता। ऐतिहासिक अनुसन्धानों के इस युग में यदि कवियों और लेखकों का अन्वेषण किया गया तो कुछ अनुचित नहीं। इस प्रणाली से बहुत से लाभ भी हुए। मस्तिष्क और कला के विकास का पता

चला। बहुत-से पाखंडी प्रकाश में आए। परन्तु जीवन इतना रहस्यमय और अज्ञेय है और परिस्थितियाँ इतनी बहुमुखी हैं कि इस सम्बन्ध में अधिक-से-अधिक सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है, नहीं तो 'सैनिक' और 'साहित्यिक' तथा 'आनन्दभवन' और 'शान्तिनिकेतन' के बीच में ही अटक रहने का भय है। 'सैनिक' होने से ही कोई साहित्य-समीक्षक की सराहना का अधिकारी नहीं बन सकता ; क्योंकि 'सैनिक' बनने का पुरस्कार उसे जनता के साधुवाद अथवा व्यवस्था-सभा के सभासद आदि के रूप में प्राप्त हो चुका है। साहित्यिक दृष्टि से 'सैनिकत्व' का स्वतः कोई महत्व नहीं। 'सैनिकत्व'—इस शब्द का जो अन्तरङ्ग है, साहित्य के भीतर से सैनिक की आत्मा का जो प्रकाश है, वह हमारी स्तुति का विषय बनना चाहिए। साहित्य और जीवन का यह सम्बन्ध है जिसको हम साहित्य-समीक्षा की एक स्थाई कसौटी बना सकते हैं, पर हिन्दी में लोग ऐसा नहीं करते, इसका हमें दुःख है। अँग्रेजी साहित्य-समीक्षा में व्यक्तिगत चरित्र-चित्रण की परिपाटी काफी समय तक चली, पर हाल में इसका प्रयोग कम पड़ रहा है और शायद इसका त्याग किया जा रहा है। जीवन की जटिल अज्ञेयता से परिचित हो जाने पर साधारण असूक्ष्म-दृष्टि आलोचक इस मार्मिक प्रणाली का त्याग कर दें, यह अच्छा ही है, नहीं तो साहित्य में बड़ा विषम भाव और बड़ा विद्वेष फैलने की आशंका है।

साहित्यकार को जीवन के सम्बन्ध में स्वतन्त्र विचार रखने और भिन्न-भिन्न साहित्य-सरणियों में चलने के अधिक से अधिक

अधिकार मिलने चाहिएँ। उसके अध्ययन, उसकी परिस्थिति और उसके विकास को हम सामयिक आवश्यकताओं और उस सम्बन्ध की अपनी धारणाओं से नहीं परख सकते। हमें उसकी दृष्टि से देखना और उसकी अनुभूतियों से सहानुभूति रखना सीखना होगा। हम कवियों और लेखकों के नैतिक और चरित्रसम्बन्धी स्खलन ही न देखें, प्रचलित सामाजिक अथवा राजनीतिक कार्यक्रम से उनकी तटस्थता की ही निन्दा न करें, यदि वास्तव में उन्होंने अपनी साहित्य-सृष्टि द्वारा नवीन शैली, नवीन सौन्दर्य-कल्पना और भव्य भाव-जगत् की रचना की है। महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के महर्षित्व पर नवयुवक बंगालियों ने विकट-विकट आक्षेप किए हैं और वर्तमान राजनीति में सक्रिय भाग न लेने के कारण उनके विरुद्ध कठोर व्यंग्यों की भी झड़ी लगी है, पर क्या साहित्यिक-समीक्षा की अब ये ही प्रणालियाँ रह जायेंगी ? जिस देश के दर्शन-शास्त्र गोचर क्रिया को विशेष महत्त्व नहीं देते और चेतन शक्ति पर विश्वास करते हैं, उसमें महाकवि रवीन्द्रनाथ को इससे अच्छा पुरस्कार मिलना चाहिए। रवि बाबू स्वदेश-प्रेम को सम्पूर्ण मनुष्यता और विश्वप्रेम के धरातल पर उठाकर रखने में समर्थ हुए हैं, उन्होंने स्वदेश की प्रादेशिक सीमा के जड़त्व का नाश किया है—अपनी उदार अनुभूतियों और अपनी विराट् कल्पना की सहायता से उन्होंने संसार की शान्ति और साम्य के लिए एक व्यापक आदर्श की सृष्टि की है जिसकी सम्भावनाएँ भविष्य में अपार हैं। इसके लिए यदि हम उनके कृतज्ञ नहीं होते और यह जरूरी समझते हैं कि वे जनता के

नेता का रूप धारण करें, तो यह हमारी ही संकीर्ण भावना है जो हमें प्रकृति की अनेकरूपता को समझने नहीं देती।

साहित्य और जीवन में घनिष्ठ से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होने पर भी दोनों में अन्तर रहेगा ही। जीवन तो एक धारा-प्रवाह है, साहित्य में उसकी प्राणदायिनी और रमणीय बूँदें एकत्र की जाती हैं। जीवन के अनन्त आकाश में साहित्य के विविध नक्षत्र आलोक करते हैं। सामयिक जीवन तो अनेक नियमित-अनियमित, ज्ञात-अज्ञात घटनावली का समष्टि रूप है, साहित्य में कुछ नियम भी अपेक्षित हैं। यह अवश्य है कि हम जिस हवा में साँस लेते हैं, प्रत्येक क्षण उसके परमाणु हममें प्रवेश पाते हैं, तथापि हमारा साहित्य केवल उन परमाणुओं का संग्रह होकर ही नहीं रह सकता। प्रत्येक सभ्य प्रतिभाशाली मनुष्य वर्तमान रहता हुआ अतीत और भविष्य में भी रहता है। साहित्यकार के लिए तो ऐसा और भी स्वाभाविक है। महान् कलाकार तो देश और काल की सीमा भंग करने में ही सुख मानते हैं और सार्वभौम समाज के प्रतिनिधि बनकर रहते हैं। सामयिक जीवन का उनके लिए उतना ही महत्त्व है जितना वह उनके विराट्, सर्वकालीन यथार्थ जीवन की कल्पना में सहायक बन सकता है। निश्चय ही यह महान् कलाकारों की बात कही जा रही है।

साहित्यकला की कुछ ऐसी सुष्ठु, प्रभावशाली और सुन्दर विशेषताएँ हैं जो जीवन के स्थूल यथार्थ से मेल नहीं खातीं। साहित्य में 'राम' और 'कृष्ण' चिर-सुन्दर अंकित किए गए हैं, कलाओं में उनके चित्र भी वैसे ही मिलते हैं, पर जीवन में

तो वे वैसे नहीं रहे होंगे। साहित्य की अतिशयोक्तियाँ इन्द्र-धनुष-सी, जीवन के स्थूल, अकाल्पनिक रूखे अस्तित्व को मनोरम बना देती हैं। साहित्य में मनुष्य का जीवन ही नहीं, जीवन की वे कामनाएँ जो अनन्त जीवन में भी पूरी नहीं हो सकतीं, निहित रहती हैं। जीवन यदि मनुष्यता की अभिव्यक्ति है तो साहित्य में उस अभिव्यक्ति की आशा-उत्कण्ठा भी सम्मिलित है। जीवन यदि सम्पूर्णता से रहित है तो साहित्य उसके सहित है। तभी तो उसका नाम साहित्य है। तभी तो साहित्य जीवन से अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया है।

अपना-अपना भाग्य

(लेखक—श्री० 'जैनेन्द्र')

[हिन्दी के वर्तमान युग के प्रसिद्ध आख्यायिका और उपन्यास-लेखक जैनेन्द्रकुमार का जन्म अलीगढ़ में १९०४ ई० में हुआ। आरंभिक शिक्षा आपने गुरुकुल में प्राप्त की। असहयोग आन्दोलन में १९२१ में सम्मिलित होने के अनंतर आपने समाज-सेवा में पूरा समय दिया। किंतु आपकी दार्शनिक और साहित्यिक प्रवृत्ति आपको साहित्य-क्षेत्र में खींच लाई, और पिछले १५-१६ वर्ष में आपने कई सुन्दर उपन्यास और कहानियाँ लिखी हैं। आपकी 'परख' नामक एक कृति पर हिंदुस्तानी एकैडेमी से ५००) का पुरस्कार भी मिल चुका है। आप नवयुग के प्रगतिशील लेखकों में एक अच्छा स्थान रखते हैं। शैली आपकी कुछ मनोवैज्ञानिक, विचारपूर्ण और इसी कारण कभी-कभी प्रवाहहीन भी होती है, पर उसमें स्वाभाविकता की मात्रा यथेष्ट है और उसमें बात-चीत की शैली का आनंद आता है। भाषा आपकी पूर्णरूप से बोल-चाल की नागरिक हिन्दी है। इस कहानी में निर्धनता का अच्छा विवेकपूर्ण चित्र है।]

बहुत कुछ निरुद्देश्य घूम चुकने पर हम सड़क के किनारे की बेंच पर बैठ गये।

नैनीताल की सन्ध्या धीरे-धीरे उतर रही थी। रुई के रेशे-से, भाप-से बादल हमारे सिरों को छू-छू कर बेरोक-टोक घूम रहे थे। हलके प्रकाश और अँधियारी से रंग कर कभी वे नीले दीखते, कभी सफेद और फिर ज़रा देर में अरुण पड़ जाते। वे जैसे हमारे साथ खेलना चाह रहे थे।

पीछे हमारे पोलोवाला मैदान फैला था। सामने अंग्रेजों का एक प्रमोद-गृह था, जहाँ सुहावना रसीला बाजा बज रहा था और पार्श्व में था वही सुरम्य अनुपम नैनीताल।

ताल में किश्तियाँ सफ़ेद पाल उड़ाती हुई एक दो अंग्रेज यात्रियों को लेकर, इधर से उधर खेल रही थीं और कहीं कुछ अंग्रेज एक-एक लक्ष्य सामने रखकर, अपनी सुई-सी शक्ल की डोंगियों को मानों शर्त बाँधकर सर-पट दौड़ा रहे थे। कहीं किनारे पर कुछ साहब अपनी बंशी पानी में डाल सधैर्य, एकाग्र, एकस्थ, एकनिष्ठ मछली-चिन्तन कर रहे थे।

पीछे पोलो-लॉन में बच्चे किलकारियाँ भरते हुए हॉकी खेल रहे थे। शोर, मार-पीट, गाली-गलौज भी जैसे खेल का ही अंश था। इस तमाम खेल को उतने क्षणों का उद्देश्य बना, वे बालक अपना सारा मन, सारी देह, समग्र बल और समूची विद्या लगाकर मानों खत्म कर देना चाहते थे। उन्हें आगे की चिन्ता न थी, बीते का ख्याल न था। वे शुद्ध तत्काल के प्राणी थे। वे शब्द की सम्पूर्ण सचाई के साथ जीवित थे।

सड़क पर से नर-नारियों का अविरत प्रवाह आ रहा था और जा रहा था। उसका ओर था न छोर। यह प्रवाह कहाँ जा रहा था और कहाँ से आ रहा था, कौन बता सकता है? सब उम्र के सब तरह के लोग उसमें थे। मानों मनुष्यता के नमूनों का बाज़ार, सजकर, सामने से इठलाता चला जा रहा हो।

अधिकार-गर्व में तने अंग्रेज उसमें थे, और चिथड़ों से सजे, घोड़ों की बाग़ थामे पहाड़ी उसमें थे, जिन्होंने अपनी

प्रतिष्ठा और सम्मान को कुचल कर शून्य बना लिया है, और जो बड़ी तत्परता से दुम हिलाना सीख गये हैं।

भागते, खेलते, हँसते, शरारत करते, लाल-लाल अंग्रेज़ बच्चे थे और पीली-पीली आँखें फाड़े, पिता की उँगली पकड़कर चलते हुये अपने भारतीय नौनिहाल भी थे।

अँग्रेज़ पिता थे, जो अपने बच्चों के साथ भाग रहे थे, हँस रहे थे और खेल रहे थे। उधर भारतीय पितृदेव भी थे, जो बुज़ुर्गी को चारों तरफ लपेटे धन-सम्पन्नता के लक्षणों का प्रदर्शन करते हुये चल रहे थे।

अँग्रेज़ रमणियाँ थीं, जो धीरे नहीं चलती थीं, तेज़ चलती थीं। उन्हें न चलने में थकावट आती थी, न हँसने में लाज आती थी। कसरत के नाम पर घोड़ों पर भी बैठ सकती थीं और घोड़ों के साथ ही साथ, जरा जी होते ही, किसी हिन्दुस्तानी पर भी कोड़े फटकार सकती थीं। वह दो-दो, तीन-तीन, चार-चार की टोलियों में निश्शंक, निरापद, इस प्रवाह में मानों अपने स्थान को जानती हुई, सड़क पर से चली जा रही थीं।

उधर हमारे भारत की कुल-लक्ष्मियाँ, सकड़ के बिल्कुल किनारे-किनारे, दामन बचातीं और सम्हालती हुईं, साड़ी की कई तहों में सिमट-सिमट कर, लोक-लाज, स्त्रीत्व और भारतीय गरिमा के आदर्श को अपने परिवेष्टनों में छिपाकर, सहमी-सहमी धरती में आँखें गाड़े, कदम-कदम बढ़ रही थीं।

इसके साथ ही भारतीय का एक और नमूना था। अपने कालेपन को खुरच-खुरचकर बहा देने की इच्छा करनेवाले अंग्रेज़ी-दाँ पुरुषोत्तम भी थे जो नेटिव को देखकर मुँह फेर

लेते थे और अंग्रेज़ को देखकर आँखें बिछा देते थे; और दुम हिलाने लगते थे। वैसे वे अकड़कर चलते थे; मानों भारत-भूमि को इसी सड़क के साथ कुचल-कुचल कर चलने का उन्हें अधिकार मिला है।

(२)

घंटे के घंटे सरक गये। अन्धकार गाढ़ा हो गया। बादल सफ़ेद होकर जम गये। मनुष्यों का वह ताँता एक-एक करके क्षीण हो गया। अब इक्का-दुक्का आदमी सड़क पर अपनी छतरी लगाकर निकल रहा था। हम वहीं के वहीं बैठे थे। सर्दी मालूम हुई। हमारे ओवर-कोट भींग गये थे।

पीछे फिर कर देखा वह लॉन, बर्फ़ चादर की तरह बिल्कुल स्तब्ध और सुन्न पड़ा था।

सब ओर सन्नाटा था। तल्लीताल की बिजली की रोशनियाँ दीप-मालिका-सी जगमगा रही थीं। वह जगमगाहट दो मील तक फैले हुये प्रकृति के जल-दर्पण पर प्रतिबिम्बित हो रही थी और दर्पण का काँपता हुआ, लहरें लेता हुआ वह तल उन प्रति-बिम्बों को सौ गुना—हज़ार गुना करके, उनके प्रकाश को मानों एकत्रित और पुंजीभूत करके व्याप्त कर रहा था। पहाड़ों के सिर पर की रोशनियाँ तारों-सी जान पड़ती थीं।

हमारे देखते-देखते एक घने पर्दे ने आकर इन सबको ढक दिया। रोशनियाँ मानों मर गईं। जगमगाहट लुप्त हो गई। वह काले-काले भूत से पहाड़ भी इस सफ़ेद पर्दे के पीछे छिप गये। पास की वस्तु भी न दीखने लगी। मानों यह घनीभूत

प्रलय थी, सब कुछ इस घनी, गहरी सफेदी में दब गया। जैसे एक शुभ्र महासागर ने फैलकर संसृति के सारे अस्तित्व को डुबो दिया हो। ऊपर नीचे, चारो तरफ, यही निर्भेद्य सफेद शून्यता ही फैली हुई थी।

ऐसा घना कुहरा हमने कभी न देखा था। वह टप-टप टपक रहा था।

मार्ग अब बिल्कुल निर्जन था। वह प्रवाह न जाने किन घोंसलों में जा छिपा था।

उस बृहदाकार शुभ्र शून्य में, कहीं से ग्यारह बार टन्-टन् हो उठा। जैसे कहीं दूर कब्र में से आवाज आ रही हो।

हम अपने-अपने होटलों के लिये चल दिये।

(३)

रास्ते में दो वकील मित्रों का होटल मिला। दोनों मित्र छुट्टी लेकर चले गये। हम दोनों आगे बढ़े। हमारा होटल आगे था।

ताल के किनारे-किनारे हम चले जा रहे थे। हमारे ओवर-कोट तर हो गये थे। बारिश नहीं मालूम होती थी, पर वहाँ तो ऊपर-नीचे हवा के कण-कण में बारिश थी। सर्दी इतनी थी कि सोचा, एक कम्बल होता तो अच्छा होता।

रास्ते में बिल्कुल किनारे पर बेंचें पड़ी थीं। मैं जी में बेचैन हो रहा था। झटपट होटल पहुँचकर, इन भीगे कपड़ों से छुट्टी पा, गरम बिस्तरे में छिपकर सो रहना चाहता था। पर साथ के मित्र की सनक कब उठेगी; और कब थमेगी—इसका

क्या कुछ ठिकाना है ! और वह कैसी क्या होगी—इसका भी कुछ अन्दाजा है ! उन्होंने कहा—आओ, जरा यहीं बैठें। हम उस चूते कुहरे में रात के ठीक एक बजे तालाब के किनारे की उस भीगी, बर्फीली, ठंडी हो रही लोहे की बेंच पर बैठ गये।

पाँच-दस-पन्द्रह मिनट हो गये। मित्र के उठने का इरादा न मालूम हुआ। मैंने खिजलाकर कहा—

चलिये भी·····

अरे ! जरा बैठो भी·····

हाथ पकड़कर जरा बैठने के लिये जब जोर से बैठा लिया गया तो और चारा न रहा—लाचार बैठे रहना पड़ा। सनक से छुटकारा आसान न था, और यह जरा बैठना भी जरा न था।

चुप-चुप बैठे तंग हो रहा था, कुढ़ रहा था, कि मित्र अचानक बोले—

देखो, वह क्या है ?

मैंने देखा—कुहरे की सफेदी में कुछ ही हाथ दूर से एक काली-सी मूरत हमारी तरफ बढ़ी आ रही थी। मैंने कहा—होगा कोई।

तीन गज दूरी से दीख पड़ा, एक लड़का सिर के बड़े-बड़े बालों को खुजलाता हुआ चला आ रहा है। नंगे पैर है, नंगे सिर। एक मैली-सी कमीज लटकाये है।

पैर उसके न जाने कहाँ पड़ रहे थे, और वह न जाने कहाँ जा रहा है—कहाँ जाना चाहता है ! उसके कदमों में जैसे कोई न अगला है, पिछला है, न दायाँ है न बायाँ है।

पास की चुंगी की लालटेन के छोटे से प्रकाश-वृत्त में देखा—कोई दस बरस का होगा। गोरे रंग का है, पर मैल से काला पड़ गया है, आँखें अच्छी बड़ी पर सूनी हैं, माथा जैसे अभी झुर्रियाँ खा गया है।

वह हमें न देख पाया। वह जैसे कुछ भी नहीं देख रहा था। न नीचे धरती, न ऊपर चारो तरफ फैला हुआ कुहरा, न सामने का तालाब और न बाकी दुनियाँ। वह बस अपने विकट वर्तमान को देख रहा था।

मित्र ने आवाज दी—ए!

उसने जैसे जागकर देखा, और पास आ गया।

तू कहाँ जा रहा है रे?

उसने अपनी सूनी आँखें फाड़ दीं।

दुनियाँ सो गई, तू ही क्यों घूम रहा है?

बालक मौन-मूक, फिर भी बोलता हुआ चेहरा लेकर खड़ा रहा।

कहाँ सोयेगा?

यहीं कहीं।

कल कहाँ सोया था?

दूकान पर।

आज वहाँ क्यों नहीं?

नौकरी से हटा दिया।

क्या नौकरी थी?

सब काम एक रुपया और जूठा खाना।

फिर नौकरी करेगा?

हाँ·····।

बाहर चलेगा ?

हाँ·····।

आज क्या खाना खाया ?

कुछ नहीं।

अब खाना मिलेगा ?

नहीं मिलेगा।

यों ही सो जावेगा ?

हाँ·····।

कहाँ ?

यहीं कहीं।

इन्हीं कपड़ों से ?

बालक फिर आँखों से बोलकर मूक खड़ा रहा। आँखें मानों बोलती थीं—यह भी कैसा मूर्ख प्रश्न !

माँ-बाप हैं ?

हैं।

कहाँ ?

१५ कोस दूर गाँव में।

तू भाग आया ?

हाँ।

क्यों ?

मेरे कई छोटे भाई-बहन हैं,—सो भाग आया। वहाँ काम नहीं, रोटी नहीं। बाप भूखा रहता था और मारता था। माँ भूखी रहती थी और रोती थी। सो भाग आया। एक साथी

और था। उसी गाँव का था—मुझसे बड़ा। दोनों साथ यहाँ आये। वह अब नहीं है।

कहाँ गया ?

मर गया।

इस जरा-सी उम्र में ही इसकी मौत से पहचान हो गई ! मुझे अचरज हुआ, दर्द हुआ, पूछा—मर गया ?

साहब ने मारा, मर गया।

अच्छा हमारे साथ चल।

वह साथ चल दिया। लौटकर हम वकील दोस्तों के होटल में पहुँचे।

वकील साहब !

वकील लोग, होटल के ऊपर के कमरे से उतर कर आये। काश्मीरी दोशाला लपेटे थे, मोजे-चढ़े पैरों में चप्पल थी। स्वर में हल्की सी झुँझलाहट थी, कुछ लापरवाही थी।

ओ-हो, फिर आप ! कहिये ?

आपको नौकर की जरूरत थी न ?—देखिये यह लड़का है !

कहाँ से लाये ? इसे आप जानते हैं !

जानता हूँ—यह बेईमान नहीं हो सकता।

अजी यह पहाड़ी बड़े शैतान होते हैं। बच्चे बच्चे में गुन छिपे रहते हैं। आह क्या अजीब हैं उठा लाये कहीं से, 'लो जी यह नौकर।'

मानिए, तो, यह लड़का अच्छा निकलेगा।

आप भी···जी, बस खूब हैं। ऐरे गैरे को नौकर बना

लिया जाय और अगले दिन वह न जाने क्या-क्या लेकर चम्पत हो जाय ।

आप मानते ही नहीं, मैं क्या करूँ !

माने क्या खाक ? आप भी···जी अच्छा मजाक करते हैं !·····अच्छा, अब हम सोने जाते हैं ।

और वह चार रुपये रोज के किरायेवाले कमरे में सजी मसहरी पर सोने झटपट चले गये ।

(४)

वकील साहब के चले जाने पर होटल के बाहर आकर मित्र ने हाथ डालकर टटोला । पर झट कुछ निराश भाव से हाथ बाहर कर वे मेरी ओर देखने लगे ।

क्या है ? मैंने पूछा ।

इसे खाने को कुछ देना चाहता था । अँग्रेजी में मित्र ने कहा—मगर दस-दस के नोट हैं ।

नोट ही शायद मेरे पास हैं, देखूँ ?

सचमुच मेरी जेब में भी नोट ही थे । हम फिर अँग्रेजी में बोलने लगे । लड़के के दाँत बीच-बीच में कटकटा उठते थे । कड़ाके की सर्दी थी ।

मित्र ने पूछा—तब ?

मैंने कहा—दस का नोट ही दे दो । सकपका कर मित्र मेरा मुँह देखने लगे—अरे यार ! बजट बिगड़ जायगा । हृदय में जितनी दया है, पास में उतने पैसे तो नहीं हैं ।

तो जाने दो, यह दया ही इस जमाने में बहुत है ।

मित्र चुप रहे। जैसे कुछ सोचते रहे। फिर लड़के से बोले—अब आज तो कुछ नहीं हो सकता। कल मिलना! वह 'होटल डि-पव' जानता है? वहीं कल १० बजे मिलेगा?

हाँ···कुछ काम देंगे हजूर!

हाँ-हाँ, ढूँढ़ दूँगा।

तो जाऊँ? लड़के ने निराश आशा से पूछा!

हाँ—ठंडी साँस खींचकर फिर मित्र ने पूछा—कहाँ सोएगा?

यहीं-कहीं, बेंच पर, पेड़ के नीचे—किसी दूकान की भट्टी में।

बालक कुछ ठहरा। मैं असमंजस में रहा। तब वह प्रेत-गति से एक ओर बढ़ा और कुहरे से मिल गया। हम होटल की ओर बढ़े। हवा तीखी थी—हमारे कोटों को पारकर बदन में तीर-सी लगती थी।

सिकुड़ते हुये मित्र ने कहा—भयानक शीत है। उसके पास कम—बहुत कम कपड़े·····।

यह संसार है यार! मैंने स्वार्थ की फिलासफी सुनाई। चलो, पहले बिस्तर में गर्म हो लो, फिर किसी और की चिन्ता करना।

उदास होकर मित्र ने कहा—स्वार्थ! जो कहो, लाचारी कहो, निठुराई कहो—या बेहयाई!

दूसरे दिन नैनीताल स्वर्ग के किसी काले गुलाम पशु के दुलार का वह बेटा—वह बालक, निश्चित समय पर हमारे 'होटल डि-पव' में नहीं आया। हम अपनी नैनीताली सैर खुशी

खुशी खतम कर चलने को हुए। उस लड़के की आस लगाते बैठे रहने की जरूरत हमने न समझी।

मोटर में सवार होने ही को थे कि यह समाचार मिला—पिछली रात, एक पहाड़ी बालक, सड़क के किनारे, पेड़ के नीचे ठिठुर कर मर गया।

मरने के लिये उसे वही जगह, वही दस बरस की उम्र और वही काले चिथड़ों की कमीज मिली! आदमियों की दुनियाँ ने बस यही उपहार उसके पास छोड़ा था।

पर बतानेवालों ने बताया कि गरीब के मुँह पर, छाती, मुट्ठियों और पैरों पर बर्फ की हल्की-सी चादर चिपक गई थी। मानों दुनियाँ की बेहयाई ढकने के लिये प्रकृति ने शव के लिये सफेद और ठंडे कफन का प्रबन्ध कर दिया था!

सब सुना और सोचा—अपना-अपना भाग्य।

वादों का विवाद

(लेखक—सद्गुरुशरण अवस्थी)

ज्ञानगम्य और भावगम्य परिस्थियों का समाहार स्थूल रूप से सत् और असत् में पूरा पूरा विभाजित किया जा सकता है। सत् का स्थायित्व ज्ञान की निश्चयात्मकता और भावना की दृढ़ता पर टिकता है। परंतु असत् के निरूपित करने के लिए ज्ञान अक्षम है। वह अधिक से अधिक संदेह का आँचल पकड़कर कुछ दूर तक बढ़ सकता है केवल भावना ही निश्चय के साथ उसे सम्हाल लेती है। असत् को सत् करने के इसी प्रयास को हम रहस्यवाद कह सकते हैं।

हिंदी-रहस्यवाद का वर्तमान स्वरूप पश्चिमीय प्रतिकृति है, यह अब सभी मानते हैं। हिंदी का रहस्यवाद शब्द अँगरेजी के मिस्टीसिज्म का भाववाची है। छायावाद से रहस्यवाद की अभिव्यंजना नहीं होती। अँगरेजी के प्रसिद्ध कोष में रहस्यवादी उस व्यक्ति को कहते हैं जिसे ज्ञानातीत सत्य के आध्यात्मिक निरूपण में विश्वास हो। कभी-कभी अध्यात्म-संबंधी विचित्र धारणा के उपहास के लिये और कभी-कभी ईश्वर और संसार-संबंधी असाधारण विवेचना की मखौल उड़ाने के लिये भी रहस्यवाद का प्रयोग किया जाता है।

सुख की आशा करना और उसके लिये सतत प्रयत्न करना मानव-समाज का आदिम व्यवसाय है। चिंताओं की शांति ही

सुख का कारण है। ईश्वर और संसार का संबंध, संसार की क्रियाशीलता का रहस्य, उसकी उत्पत्ति और लय का इतिहास सारे संसार को आदि काल से मुग्ध किए है। इस मुग्धता में विस्मय है और विस्मय में उद्वेगाग्नि है। इसीलिये चित्त क्षुब्ध और अशांत रहता है। क्षोभ और अशांति में सुख का ह्रास होता है। अतएव सुखापेक्षी नर-समाज का चिंतनशील समुदाय इस गुत्थी को सुलझाने के लिये अपनी सारी शक्ति अनंत काल से व्यय कर रहा है। मनुष्य ने अपना सारा ज्ञान उस अखंड सत्ता की खोज में लगा दिया, जिसका क्रियमाण स्वरूप यह सारा विश्व है। ससीम ज्ञान असीम ज्ञान की खोज का अभ्यास अनंत काल से कर रहा है, परंतु उसमें शांति नहीं मिली। अतएव असीम हृदय के अन्वेषण के लिये समीप हृदय उत्कंठा से निकला। यही रहस्यवाद का मूल उद्गम है। चिंतन-जगत् में जो ब्रह्मवाद अथवा अद्वैतवाद है, भावना-जगत् में वही रहस्य-वाद कहलाता है। भाव-प्राबल्य-जन्य तद्रूपशीलता में रहस्य-वाद के प्रादुर्भाव का रहस्य है।

भारतीय ग्रंथों में रहस्यवाद की सुंदर व्याख्या गीता के अधोलिखित श्लोक में मिलती है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ;
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।

परंतु काव्य-गत रहस्यवाद का संबंध ज्ञान से न होकर हृदय से है। मानसिक विकास द्वारा ज्ञान से ऐक्य अनुभव करना दूसरी बात है और भावातिरेक द्वारा हृदय से भावात्मक ऐक्य स्थापित करना दूसरी बात है। काव्य-स्वीकृत रहस्यवाद का

संबंध दूसरे प्रकार से है, पहले प्रकार से नहीं। यद्यपि अंततः दोनों का आशय एक ही है, परंतु साहित्य में दोनों के क्षेत्र भिन्न हैं। एक को दर्शन के और दूसरे को काव्य के अंतर्गत रक्खा गया है।

रहस्यवाद वास्तव में कोई 'वाद' नहीं है। यह एक प्रकार की मानसिक स्थिति है। भिन्न-भिन्न रहस्यवादियों ने समूचे तथ्य का कोई-न-कोई अंग-निरूपण करके सत्य की अभिव्यक्ति में कुछ-न-कुछ नई बात कही है। उस महान् अखंड शक्ति के आलोक का आभास भक्तजनों को पृथक्-पृथक् कोण से मिला है।

'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' के अनुसार जीव और ईश्वर, प्रकृति और पुरुष में कोई द्वैतभाव नहीं है। इस मानसिक ज्ञान को भावना के क्षेत्र में रहस्यवादी कवि अभिव्यक्त करता है। परंतु अद्वैत की पूर्ण भावना की प्रतिष्ठा के लिये द्वैत का परोक्ष रूप से समर्थन हो जाता है। गेय और ध्येय की सार्थकता ज्ञाता और ध्याता की उपस्थिति से ही हो सकती है। अतएव यद्यपि इन उभय पक्षों का ऐक्य रहस्यवाद की रागात्मिका प्रवृत्ति का चरम लक्ष्य है, तथापि उपासक और उपास्य, उभय पक्षों को आरंभ में अवश्य मानना पड़ता है।

वास्तव में रहस्यवादी मानता है कि दैवी स्फूर्ति का कोई-न-कोई स्फुलिंग जीव के निर्माण में निहित है। उसी स्फुलिंग द्वारा—उसी दैवांश द्वारा—वह उस अखंड सत्ता की अनुभूति कर सकता है। रहस्यवादी का यह विश्वास है कि जिस प्रकार बुद्धि द्वारा मनुष्य भौतिक पदार्थों का निरूपण करता है, उसी प्रकार अध्यात्म भावना द्वारा मनुष्य रहस्यमय अखंड सत्ता का

अनुभव कर सकता है। रहस्यवादी उसे मूर्ख समझता है जो अध्यात्म निरूपण में बुद्धि का प्रयोग करता है।

यह करनी का भेद है, नाहीं बुद्धि-विचार।
बुद्धि छोड़ करनी करौ, तौ पाओ कछु सार॥

—कबीर

बाह्य पदार्थों का ज्ञान हम उनकी ओर देखकर अन्य पदार्थों के साम्य और वैषम्य द्वारा निर्धारित करते हैं, परंतु आभ्यंतरिक परिज्ञान की उपलब्धि मनुष्य को केवल तद्रूप होने से ही प्राप्त हो सकती है। एक रहस्यवादी के लिये जीवन प्रतिक्षण उन्नति करता चला जा रहा है। नए-नए खंडों का भावमय अनुभव उद्घाटन पग-पग पर चकित करता है। रहस्य का उद्घाटन रहस्य को और भी रहस्यमय बनाता चला जाता है।

रहस्यवादी जीव के विभिन्न चित्रों और जन्मांतर के विभिन्न संस्करणों के समूचे संकलन को एक साथ तारतम्य में देखता है। इसीलिये उसे जन्मांतर में विश्वास करना पड़ता है।

धर्म-प्रचारक, विज्ञानवेत्ता, तार्किक और दार्शनिक तथा रहस्यवादी में बड़ा भारी अंतर है। इस विभिन्नता का थोड़ा-सा दिग्दर्शन ऊपर कराया गया है। विज्ञानवेत्ता की भाँति रहस्यवादी रहस्योद्घाटन के लिये बुद्धि से काम न लेकर अपनी निजी भावना और आंतरिक प्रेरणा का प्रयोग करता है। दर्शनकार नवीन शोध को सीधे सामने से लेकर अभिव्यक्त करता है। रहस्यवादी उसका परोक्ष निदर्शन करता है। वह

अनुभव करता है कि उसने अखंड ज्योति की झलक देखी है ; उसने अनहद शब्द सुना है ; उसने अमृत-कुंड के छींटों से स्नान किया है ।

झरत अमिय-रस, झरत ताल जहँ, शब्द उठै असमानी हो ;
सरिता उमड़ि सिंधु कहँ सोकै, नहिं कछु जात बखानी हो ।

रहस्यवादी भावना सबमें नहीं होती । ऐसे लोग तो कदाचित् बहुत मिल सकते हैं, जिन्हें मनोवेगमय क्षणों में अस्पष्ट और कुंठित रूप में अखण्ड सत्ता की झलक मिली है, और मिलती है, परंतु ऐसे व्यक्ति बहुत ही कम होंगे, जो इस अस्पष्ट और क्षणिक झलक को अभ्यास द्वारा अपनी रहस्यमयी भावना के लिये चिरस्थायी आलंबन बना लें, और अंततः अभ्यास द्वारा भाव के उस चरम लोक तक पहुँच जायँ, जहाँ पहुँच कर आध्यात्मिक आलोक से पुनर्जीवित होकर संसार की प्रत्येक वस्तु हस्तामलकवत् देखने लगें ।

भाषा भावों के विकास से हमेशा पीछे रहती है । भाव की उत्पत्ति के बाद तद्रूप भाषा गढ़ी जाती है । भाषा चाहे कितनी ही विकसित क्यों न हो, भावों की यथेष्ट व्यंजना संभव नहीं । इसीलिये रहस्यवाद की कविताओं में प्रतीकों का प्रयोग अनिवार्य रूप में पाया जाता है ।

रहस्यवादियों का इन प्रतीकों के बिना काम ही नहीं चल सकता है । उस अखंड ज्योति की उपयुक्त व्यंजना के लिये संसार की कोई भाषा पर्याप्त नहीं है ।

प्रतीक-प्रयोग की भावना के अंतर्गत संसार के ऐक्य की भावना निहित है । इसीलिये रहस्यवादी उसे अपनाता है । वह

विश्वास करता है कि सब पदार्थों में तिरोहित साम्य है। मानवीय प्रेम में दैवी प्रेम का अध्याहार देखता है। तथा संकेत द्वारा उसमें दैवी प्रेम का आरोप करता है। प्रकृति में गिरती हुई पत्तियों को देखकर मानव-समाज के ध्वंस का रहस्य सामने आ जाता है। हिलते हुए वृक्ष से प्रकंपित वृद्ध शरीर का चित्र उपस्थित हो जाता है।

बाढ़ो आवत देखि करि तरुवर डोलन लाग ;
हमैं कटै की कछु नहीं, पंखेरू घर भाग।

—कबीर

दैवी आलोक की ओर ससीम प्रकाश की लपक—उसके वेग और प्रयास की आतुरता विप्रलंभ दांपत्य रति द्वारा यावत्किंचित् अभिव्यक्त किया जा सकता है। तथा ससीम और असीम का मेल—आप्त सुख की व्याख्या—संभोग दांपत्य रति की यथेष्ट व्यंजना से ही किसी अंश में बखाना जा सकता है।

गौने जाना, सिलसिली गैल में चलना, विरह में तड़पना, सब प्रतीक ही है।

भारतवर्ष में अद्वैतवाद केवल चिंतत-जगत् तक ही रहा। भारतीय धर्म में मूर्ति-पूजा की स्थापना करके भावना के लिये एक नई उर्वरा भूमि तैयार की गई। इसी में भक्तों का हृदय टिका। अव्यक्त और परोक्ष की लपक को स्थान न रहा। सारी भावना प्रतिमा में सम्मिलित कर दी गई। अपनी भावना के विस्तार के लिये भगवान् के साकार स्वरूप को ही आलंबन बनाया। इन अवतारी स्वरूपों पर जनता का हृदय भी टिका।

यह बात न भूलना चाहिए कि किसी विशेष 'वाद' में पड़कर कविता अपना महत्त्व खो बैठती है। रहस्यमयी भावना बड़ी सुन्दर वस्तु है। कविता में उसकी निबंधना कविता के स्वरूप को अत्यंत आकर्षक बना देती है। परंतु जब कविता की शक्ति किसी 'वाद' विशेष के निरूपण में लगाई जाती है, चाहे वह अद्वैतवाद ही क्यों न हो, तो वह कविता न रहकर केवल तुकबंदी ही रह जाती है।

सच्चे रहस्यवाद के लिये भी इस समय एक नया भय उत्पन्न हो गया है। साहित्य के निर्णायकों में एक नई लहर बह रही है। उसकी गति में राजनीतिक मनोभाव है। भारतीय राजनीति को आजकल साम्यवाद जितना प्रभावित किये है उतना कदाचित ही कोई दूसरा आदर्श प्रभावित किये होगा। साम्यवाद किसी युग, किसी देश, किसी विशेषता, किसी परिस्थिति की प्रतिमा नहीं; वह युगांतर के चिंतनार्णव का मथा हुआ नवनीत है। अतएव उसकी व्यापकता, उसकी विशदता, उसकी संकुलता स्वभावतः सार्वभौमिक है और उसका प्रभाव जीवन के सभी पक्षों पर पड़ना स्वाभाविक ही नहीं अनिवार्य है। अशेष से समत्व की स्थापना के लिये यह विपर्यय नितांत आवश्यक भी है।

इतिहास यह आवृत्ति कर चुका है कि चिंतना से चिंतकों में अधिक प्रतिक्रिया होती है। कभी कभी विचारकों के जोश में फँसकर विचार ऊब जाता है। वास्तव में बली से बली विचार को व्यावहारिक जगत में प्रवर्तकों का मुँह ताकना पड़ता है। किसी भी विचार के स्वरूप निरूपण में यथार्थता कहाँ तक रह जाती है इसका उत्तरदायित्व निरूपण करनेवालों की सजग और असजग

ईमानदारी पर है। विचार-प्रचार में जो संशोधन प्रचारक आवश्यक समझता है उसकी स्वीकृति वह विचार के आदर्श से कब लेता है ? और यह स्वाभाविक भी है।

साम्यवाद के स्वरूप की अवतारणा साहित्य-जगत के गौरव की बात है। अपने देश के जीवन, विचार, कला और साहित्य की प्रगति में आज कौन क्रांति पसंद न करेगा ? क्रांति के समर्थकों के बहुत से कथन में सार है और जिनमें उतना सार नहीं है उनमें भी वेग काफ़ी है। इस क्रांति के जहाँ और अर्थ हैं वहाँ साहित्यक क्षेत्र में इसका यह भी अर्थ है कि हम अपने समस्त इतिहास और अपनी सम्पूर्ण संस्कृति का पुनः मूल्यावधारण और पुनः स्पष्टीकरण करें। साथ ही साथ हमारा आज और कल का साहित्य, और आज और कल की कला हमारे जीवन के उन क्रांतिकारी परिवर्तनों का सजग और सावधान निष्कर्ष होना चाहिये जिनके बिना वे प्रवाहहीन और गँदले हो जायँगे। साम्यवादी कला और साहित्य संबंधी जीवन के उन समूचे प्ररोहणों में जिनका संबंध समाज या समाजवाद से है, ठोस, गत्यात्मक, वास्तविक और यथार्थ पर ज़ोर देते हैं। इस पूर्वीकरण के बिना हमारी कला और संस्कृति अवश्यमेव निर्जीव हो जायगी।

परंतु उन्नतिशील और क्रांतिकारी विचारधारा में हमेशा जल्दबाजी से संक्षिप्त मार्ग और जल्दी पहुँचानेवाली पगडंडियों का सहारा लिया जाता है। उन्नतिशीलता की ऊष्णता में अग्रगामी बनने की धुन में और क्रांति के जोश में रुककर यह स्वीकार करना कि अमुक समस्या अथवा घटना जटिल, उलझी हुई और

दुर्भेद्य है ; अथवा किसी भी गतिविधि का प्रचारवादी की जिद से परिचालना न करके उसमें उपयोगवाद निहारने लगना बहुत ही साहसपूर्ण है। तुरंत ही ऐसे नेता को युग कहने लगेगा कि वह प्रतिक्रियावादी है, सीधा सादा सुधारवादी है, दीर्घसूत्री है, बचाववादी है, तरंगी है, स्वप्न देखने वाला है अथवा पूर्ण कल्पनावादी है। संक्षेप में, वह उन्नति विरोधी समझा जायगा।

यही मनोभाव है जिसके कारण साहित्यिक साम्यवादियों ने रहस्यवाद को कोसा है और कोस रहे हैं। धर्म और रहस्यवाद का कला से क्या संबंध है इस विषय को साम्यवादी जरा जल्दी से टाल देते हैं नहीं तो रहस्यवाद को मिथ्या, शून्य, अनुन्नतशील और हानिप्रद न कहते। धर्म और रहस्यवाद के प्रतिकूल लेनिन से बड़ा सेनानी कदाचित ही कोई होगा। इस विषय में उनके विचार बड़े ही कड़े और कट्टर हैं। स्वयं उन्होंने स्पष्ट लिख दिया है कि धर्मवाद और रहस्यवाद को कोरा आदर्शवाद, मिथ्यावाद, अंध विश्वासवाद या अविज्ञानवाद समझ कर, अथवा यह समझ कर कि इन चीजों का निरूपण उन्नत कक्षा वाले व्यक्तियों ने अनुन्नत जनसाधारण को फाँसने के लिये, उन्हें मूर्ख बनाए रखने के लिये अथवा उनसे बेजा लाभ उठाने के लिये किया है, सहसा टाल न देना चाहिये। धर्मवाद और रहस्यवाद को उन्होंने अपने सिद्धांत के बड़े भारी शत्रु माने। साथ ही साथ यह भी न भूलना चाहिये कि आदर्शवाद या रहस्यवाद के प्रवाह ने ही स्पिनोजा और हिगेल के निर्माण में योग दिया है और लेनिन की बनावट में भी

उनका प्रभाव पड़ा है। कार्ल मार्क्स, एंजिल और अन्य रूसी क्रांतिकारी विद्वानों की जाज्वल्यमान मंडली ने बहुत कुछ आलोक प्राचीन विचार प्रकाश से ही ग्रहण किया है।

किसी के लिये भगवद्गीता ऐसे ग्रंथ को शून्यवाद, शांतिवाद, ओंकारवाद, बचाववाद, प्रतिक्रियावाद अथवा कोरे अहिंसावाद का प्रतिरूप कहना उतना ही असम्भव है जितना कि कबीर, जायसी, रवींद्र, माखनलाल चतुर्वेदी, सुमित्रानंदन पंत, जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा और बालकृष्ण शर्म्मा की कृतियों को।

साहित्यिक के प्रत्येक समीक्षक को, चाहे वह साम्यवादी हो या न हो, यह न भूलना चाहिये कि कला की प्रत्येक कृति में एक 'सार' एवं तथ्य होता है। उसीको हम कला की आत्मा या प्राण कह सकते हैं। साहित्य और कला के विवेचन में इस 'सार' 'तत्व' 'आत्मा' या 'प्राण' को उसके तह से निकाल कर उसके स्वरूप का स्थिरीकरण सबसे अधिक आवश्यक है। इस प्राण के रूप पर कला का मूल्य है। कला की ऐसी कृतियों पर समय कभी हस्ताक्षर नहीं करता और न अमरता वर देती है जिसमें केवल चलते-फिरतों की भीड़ हो। यह वास्तविकता काल की गोद का चबेना है जो आधा मुँह में है और आधा हाथ में। सुग्राह्य अग्राहिता, असीम की लपक, अत्यंत तीव्र और आमोदपूर्ण सजगता, अखिल प्रकाश की कौंध, पीड़ा का टिकाव, खुलना, सेहत होना और बंद होना, वह परिस्थिति जो समूचे जीवन सी तो है ही समस्त जीवनप्रद भी है, जिसमें अमृत का बहाव है, जो मर्त्य और स्वर्ग्य का सुहाग है, जो

गणित के आँके हुये मूल्य के परे हैं, ये सब लक्षण किसी युग में भी कला और साहित्य की महत्ता से ऋण नहीं किये जा सकते।

फकीरी न पवित्र रहने से मिलती है और न ऋषि बनने से। केवल दोष परित्याग पवित्रता की परिभाषा नहीं है। साम्यवाद के अनुसार वर्गविहीन व्यक्तियों की समाज-स्थापना में जो वृत्ति सहायक हो वही केवल उच्चतम पुण्य है यह विचार भ्रामक है। किसी भी अतिवाद के कशमकश और संघर्ष से साहित्य का कोई न कोई नगण्य अंश अछूता भी रह सकता है। उसे अछूत समझना ठीक नहीं है।

आप यूनान का प्राचीन साहित्य पढ़िये और प्राचीन संस्कृत साहित्य देखिये। यूनान के साहित्य और मूर्तिकला में अद्वितीय आकार विधान की योजना है। उसमें एक सहेतुकता है और वर्ग विशेषता है। भारतीय महाभारत के वीर पात्रों को देखिये। एक अतींद्रिय अंतरस्थ—अध्यात्म का परिवेष्टन उनके निर्माण में ही मिलेगा। यहाँ की चित्रकला, मूर्तिकला, नृत्यकला, संगीतकला में भी यही भेद है। शकुंतला अथवा किसी यूनान की वीरांगना में काफी अंतर है। युधिष्ठिर और भरत ऐसे व्यक्ति न एचीलीज हैं न हरकुलीज। देवताओं को लीजिये; सरस्वती या लक्ष्मी और मिनरवा या हेलन में आकाश पाताल का भेद है। जापान के अद्वितीय कला-पारखी निगूची ने अपने एक भाषण में, एक बार, कहा था कि योरप की समस्त कला-सामग्री में एक अकड़ की ठसक है। वहाँ के कलाकार खड़े होकर ग्रीवा बहुत उन्नत किये हुए अपनी कृति का निर्माण

करते हैं। उनमें पार्थिव उद्दण्डता की अनम्रता है। भारतीय कला की सबसे बड़ी विशेषता, उनके अनुसार, यहाँ की नम्रता की सौम्यता है। वास्तव में रवींद्रनाथ से लेकर साधारण से साधारण साहित्यिक तपस्वी ऊपर से झरते हुए अमरत्व के नीचे झुककर अपनी कला की सृष्टि करता है।

भारतवर्ष की कला की ऊँची कृति में सुधा की अवधारणा है, दैवी आलोक की एक परिधि है, एक अपार्थिव जगमगाहट है, एक मंगल है, एक सौन्दर्य है, जिसकी कमी यूनान के यथार्थ और आकार विधान की अद्वितीय कलाकृतियों में पाई जाती है।

मैं यह नहीं कहता कि भारतीय कला की एकांतता को आप रहस्यवाद, धर्मवाद या आदर्शवाद कहें, परंतु इस विशेषता की उपस्थिति से कोई इनकार नहीं कर सकता। यथार्थवाद के हिमायतियों को यह भी समझ लेना है कि कला में जितने ही आप यथार्थवाद की धुन में रहेंगे उतनी ही आपकी कृति कम यथार्थ होगी। विदेशी लेखक वुल्फ और जोवी अपने मनोविज्ञान के ज्ञान के लिये बड़े प्रसिद्ध हैं फिर भी उन्होंने आज तक कोई ऐसा पात्र न पैदा किया जो युग को चीरता हुआ चला जाता। डोन् क्विकजोट और मि० पिकविक किसी भी जीवनी के नायक से अधिक सजीव हैं। गोस्वामीजी के भरत, कैकेई और मंथरा, मैथिलीशरण की उर्मिला और शूर्पणखा, प्रसाद की देवसेना और विजया, प्रेमचन्द के आत्माराम, प्रवीन और सूरदास जितने यथार्थ और अमर हैं उतनी सम्राट् जार्ज, और सेठ हुकुमचंद की लिखी हुई जीवनियाँ नहीं हैं।

यह न भूलना चाहिये कि सम्पूर्णता में पृथक्त्व के योग से अधिक शक्ति होती है। एक और एक मिल कर, कला तथा साहित्य में, दो नहीं होते, ग्यारह होते हैं। जिन जिन अंकों का योग लगाया जाता है उनके पृथक् पृथक् प्रभाव से इस सम्मिलित योग के प्रभाव में कुछ नवीनता और कुछ अधिकता आ जाती है। वास्तव में सौन्दर्य के इस समीकरण में कला की कृति का रहस्य छिपा रहता है। इसीलिये कला की परख करने में ऐसी ऐसी उक्तियों की आवश्यकता पड़ती है, जैसे सामूहिक प्रभाव, वातावरण, प्राण या आत्मा, अतींद्रिय और उच्च तत्व।

मेरा विश्वास है कि कला में रहस्यवाद आवश्यक रूप से दुरूहवाद का प्रतिरूप नहीं है। यह भी आवश्यक नहीं कि रहस्यवाद, अनुदार प्रतिक्रिया पूर्ण काल्पनिक, निष्क्रिय, अयथार्थ, अहेतुक, शांत अथवा अनुन्नतिशील है। वह ऐसा पहले रहा है यह भी पूर्ण रूप से ठीक नहीं है। उसमें विक्षुब्धता और प्रकाश के तत्व हैं। वह असीम अशांति के तह की असीम शांति है।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे लेखक का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि वह रहस्यवादी कविता का प्रत्येक दशा में पोषक है। रहस्यवादी कविता ही सब कुछ नहीं है। काव्य के अन्य रूपों में रहस्यवाद भी काव्य का एक रूप है। 'रहस्यवाद' शब्द के साथ-साथ आज एक दूसरा शब्द 'छायावाद' भी बहुत व्यवहृत होता है। अतएव यह उचित होगा कि, साथ ही साथ, छायावाद क्या है यह भी समझ लिया जाय।

साधारण प्रकार से यह समझ लेना चाहिए कि रहस्यवाद और छायावाद काव्य के पृथक्-पृथक् रूप हैं। जहाँ ये दोनों मिल जाते हैं वहाँ एक नया वर्ग प्रस्तुत हो जाता है। रहस्यवाद का संबंध सीधे वस्तुविधान से रहता है, अभिव्यंजन विधान से नहीं। परंतु छायावाद का संबंध केवल अभिव्यंजना की विचित्रता और दुरूह भावगम्यता से रहता है। वस्तु का लगाव उसका गौण रहता है। इसीलिये आध्यात्मिक रहस्यवाद का—जो बहुधा अच्छी छायावादी कविताओं में वस्तुरूप से स्वीकृत देखा जाता है—प्रत्येक छायावादी कविता में होना आवश्यक नहीं। आज की छायावादी कविता अभिव्यंजन की अनेकरूपता की ही सबसे बड़ी विशेषता रखती है। वह केवल उक्ति-वैचित्र्य पर टिकी है। अतएव उसका छायावादी अभिधान सार्थक है। प्रतीकवाद, अन्योक्तिवाद, लक्षणावाद, संकेतवाद, अरूपवाद, नीहारवाद और न जाने कितने ऐसे ही वाद छायावाद में ढूँढ़े जा सकते हैं। पुराने युग में वक्रोक्तिवाद, अलंकारवाद, रीतिवाद और कुछ अंशों में ध्वनिवाद भी उक्ति-वैचित्र्य के ही रूप समझे जाते थे। कुछ तो आज की छायावादी कविता में भी, परिवर्तित रूप में मिलेंगे।

आज की छायावादी कविता अभिव्यंजन के समस्त पेचीदे 'प्रवादों' के सहारे आगे बढ़ती है। और साथ ही साथ पुराने रूढ़िगत अभिव्यंजन के स्वरूपों को पीछे छोड़ती चली जाती है। हम अन्यत्र रहस्यवाद की कविता की चर्चा करते समय संकेत कर आए हैं कि रहस्यवाद की उत्तम अभिव्यंजना के लिए प्रतीकवाद, लक्षणावाद, अरूपवाद, अन्योक्ति अथवा समासो-

क्तिवाद अत्यंत आवश्यक होते हैं। अतएव यह प्रश्न उठता है कि क्या छायावाद का प्रश्रय रहस्यवादी कविता के लिये अनिवार्य रूप से आवश्यक है। इसके उत्तर में केवल यही कहा जा सकता है कि वस्तु कविता के प्राण हैं। प्राणी कोई भी जामा पहन कर प्रकाश में निकल सकता है। यह मानते हुए भी कि छायावाद के जामे में रहस्यवाद खिल उठता है यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि रहस्यवादी कविता का छायावादी होना अनिवार्य है।

आजकल साहित्यिक दुनियाँ में एक और वाद का बड़ा जोर है। उसे प्रगतिवाद के नाम से पुकारा जाता है। परंतु जब समस्त साहित्य ही प्रवाहपूर्ण और निरंतर बहता हुआ निर्झर है तो प्रगतिवाद का क्या अभिप्राय हो सकता है? यदि प्रगतिवाद से केवल यह अर्थ लिया जाय कि भावों में नवीनता, उद्गारों में मौलिकता, उपमाओं और रूपकों में समीचीनता हो तो भी सारा अच्छा साहित्य ही प्रगतिवाद का प्रतिरूप होगा। परन्तु प्रगतिवाद के संबंध में एक भ्रम है। कलाकार शब्दों की राष्ट्रीयता में और उनके परंपरागत विकास में तथा उनके संगीत तत्त्व में रमण करता है। उसका एक संसार बन जाता है जिसमें वह विचरता है। इस जगत पर क्रमानुगत युग का भी प्रभाव पड़ता रहता है। रूप-व्यापार अतीत होते जाते हैं और युग के स्पंदनशील व्यक्तियों के असजग और अर्धसजग तल में बैठ जाते हैं, परंतु यह न भूलना चाहिए कि वातावरण में प्राणी को रमण करके आत्मसात करने के लिए भारी समय की अपेक्षा होती है। चाँदनी रात, बिखरे हुए तारे, प्रातःकालीन

समीरण, ओस, वनस्थली, हरे वृक्ष ये सब हमारे इतने पुराने साथी हैं कि हमारे भाव जगत में अच्छी तरह बैठ चुके हैं। ताजमहल और कुतुबमीनार अब पुराने पड़ चुके हैं। उन्हें भी काफी समय हो गया है। मानवों के रूप-व्यापार भी दाम्पत्य-रति, भाई का प्रेम, गुरु की आज्ञा, सौतेली माँ का झगड़ा, राजा का दायित्व इत्यादि यह सब भीतरी तलों तक घुल मिल गए हैं। हमने युगों से दरिद्रता भी देखी है और सुदामा चरित में उसके चित्र भी देखे हैं।

(१) सीस पगा न झगा तन में, प्रभु जाने को आहि बसै केहि ग्रामा।
धोति फटी सी लटी दुपटी, अरु पाँय उपानह की नहिं सामा॥ इत्यादि
(२) कौदों सँवा जुरतो भर पेट, तो चाहति ना दधि दूध मठौती।
सीत बितीतत जो सिसियात ही, हौ हठतो पै तुम्हें न हठौती॥

× × × ×

या घर ते न गयो कबहूँ पिय, टूट तवा अरु फूटि कठौती। इत्यादि।

इन गरीबी के चित्रों में शोषकों के मुँह नोच लेनेवाली क्रान्ति के दर्शन न होंगे। यह भावना बिलकुल आज की है। गरीबी का सौंदर्य, अतीत युग में, त्याग और तपस्या में था। उस मूल्य में लिपटा हुआ गरीबी का नकशा गुर्रानेवाला कैसे हो सकता था? अमीरी के साथ शोषण न था; कम से कम लोग समझते न थे।

भोज-प्रबन्ध के कवि की भायी जब खोमचेवाले को लइया —कहते सुनती थी तो बड़े यत्नपूर्वक अपने लड़कों के कान बंद कर देती थी जिससे कहीं लइया खरीदने के लिए वे जिद न करने लगें। राजाओं और धनिकों के चित्र इसलिए नहीं

खींचे गए कि कवि सरमायादारों के हाथ बिके हुए थे—संभव है कुछ कवियों के लिए वह ठीक भी हो—पर सम्राटों और योद्धागणों में कवियों ने महत् के दर्शन किए, वे उनके मन में गड़े और इसीलिए उन्होंने उनका गान किया। जो भक्त थे उन्होंने अपनी सुमन माला भगवान के चरणों पर चढ़ाई। कहने का अभिप्राय यह है कि संसार के रूप-व्यापारों को साहित्य में उतार लाने के लिए पहिले कवि के हृदय में पहुँचना परम आवश्यक है।

हृदय तक वे रूप-व्यापार तभी पहुँचते हैं जब कि कलाकार को उनके साथ रमण करने का पर्याप्त अवकाश मिल जाता है। नवीन वैज्ञानिक चीजों से अभी थोड़े समय से सभ्यता ने हमारा नाता जोड़ा है। अभी उनके साथ हमारा रागात्मक संबंध में गहराई नहीं आई। जिन वस्तुओं से संबंध अधिक दिनों का है उन पर यों ही बहुत कविताएँ लिखी गई हैं। ग्राम गीतों में रेल को पति को हरण करनेवाली सौत कह कर संबोधित किया गया है। बिजली का पंखा, रेडियो, हवाई जहाज, तोप, बन्दूक, फाऊन्टेन पेन, आराम कुर्सी, टार्च, बिजली ये सब इतने नये साथी हैं कि इनके साथ अभी कोई सहजात राग नहीं उत्पन्न हो पाया है। फिर भी आज के साहित्य में उपमा, उदाहरण और रूपक में इनका प्रयोग आ ही जाता है। कोई कह सकता है—"उसकी जुबान कतरनी की तरह चलती है।" "मिल के चिमनी के धुएँ की भाँति दीपक कालिमा उगल रहा था।"

"स्वप्न में वह रेडियो के 'अनाउन्सर' की तरह क्षण क्षण

की अपनी गाथा सुनाता था।" "वह ऐसा स्तब्ध रह गया जैसे उसे करेंट मार गया हो" ऐसे प्रयोग हो सकते हैं और होते जायेंगे। पर प्रकृतिवादी प्रोपेगेण्डिस्ट लोगों को उतावलेपन से काम न लेना चाहिए। बिना पचे हुए, ऐसे प्रयोग, चाहे उपमा के रूप में हों चाहे स्वतंत्र, कवित्वपूर्ण और सरस न होंगे। वे केवल तुकबंदियों में बाँधे जा सकते हैं। जिस सरलता से, तन्मयता के साथ चाँदनी पर, वट वृक्ष पर, एकांत खड़े हुए नगाधिराज पर, सूखे ताल पर, फुदकते हुए हिरन पर, नटखट बच्चे पर, चंचल तरुणी पर और इसी प्रकार परंपरा से संपर्कप्राप्त अन्य चित्रों पर कविता की जा सकती है, उतनी तन्मयता के साथ ग्रामोफोन, रेडियो, फाऊन्टेन पेन या टार्च पर नहीं हो सकती। पुरोगामी कुछ भी कहें, आज्ञा से कविता नहीं बनती।

जो बात रूप-व्यापारों की है वही बात विचार-सिद्धांतों की भी है। हमारी विचार-परंपरा भी हमारे व्यक्तित्व के साथ मिलती-जुलती और पचती चली आ रही है। ईश्वरवाद, धर्मवाद, जातिवाद और न जाने कितने ही वाद हमारे व्यक्तित्व के साथ बहुत काल से घुल-मिल गए हैं। सरमायावाद अथवा शोषणवाद भी संभव है कि हमारे पुराने मित्र हों, पर हमें निश्चित रूप से मालूम नहीं। अब यदि समाजवाद या साम्यवाद भी घुलना मिलना चाहता है तो समय की प्रतीक्षा करनी होगी। इन सिद्धांतों को जब चिन्ता अच्छी तरह से ग्रहण कर लेगी तभी वे भाव जगत में अपने नाना तर्क-वितर्कों के साथ पैठेंगे और तभी घुलावट के चित्र निकल सकेंगे। मस्तिष्क यदि

किसी विचार-तत्व को स्वीकार कर लेता है तो वह तुरंत ही हृदय का प्रत्यय नहीं बन जाता है। मस्तिष्क जब उसे स्वीकार करके सजग जगत से भुला देता है तब वह अर्धसजग और असजग रूपों में पहुँच कर भाव रूप बनता है। अतएव समाजवाद और साम्यवाद को भी भावात्मक बनने के लिए काफी समय की प्रतीक्षा करनी होगी।

तभी इन सिद्धान्तों में अच्छी और घुलावटवाली कविताएँ लिखी जा सकती हैं।

अभी तो विधवा विवाह, पातिव्रत पालन, पिता और गुरु की आज्ञा पालन, धर्म और भगवान को दण्डवत् इत्यादि विचारों ने ही हृदय को ग्रस रक्खा है। जिस साहित्य में वर्षों से "हानि लाभ जीवन मरण जस अपजस विधि हाथ" चला आ रहा है और भाग्यवाद, लोकांतावाद, स्वर्गवाद, नरकवाद इत्यादि और न जाने ऐसे कितने ही वाद चले आ रहे हैं; उसमें सहसा उनके बिना उल्मूलन किए समाजवाद तथा साम्यवाद के दृढ़ विचारों की आशा करना व्यर्थ है।

यह बात भी भूलने की नहीं कि किसी विशेष वाद के निरूपण से अपनी शक्ति का व्यय करना कला की हत्या करना है।

कला, पूर्ण, अखंड और समस्त है। सभी उसके अंग हैं, पर सभी वादों से उसे कोसों दूर रखना चाहिए। किसी भी वाद की ओर कविता को घसीट ले जाना उसके महत् उद्देश्य को कम करना है।

साहित्यिक चंद्रमा

(लेखक—श्री वियोगी हरि)

[आपका जन्म छत्रपुर राज्य में चैत्र शुक्ल ९ सं० १९५३ वि० में हुआ। आपका वास्तविक नाम पं० हरिप्रसाद द्विवेदी है। आप कान्य-कुब्ज ब्राह्मण हैं। बाल्यावस्था ही में पिता के मर जाने के कारण ननिहाल ही में इनका पालन-पोषण हुआ। आप हिन्दी पढ़कर हाई स्कूल में अँग्रेजी पढ़ने लगे और १९१५ ई० में मैट्रिकुलेशन-परीक्षा पास की। बाल्यावस्था ही से आपको कविता से प्रेम था। कई वर्ष तक प्रयाग में रह सम्मेलन-पत्रिका का सम्पादन भी किया। आपके साहित्य-विहार, अंतर्नाद, प्रेमयोग नामक गद्य-काव्य अच्छे हैं। आपने शुकदेव, मेवाड़-केशरी, कवि-कीर्तन, अनुराग-वाटिका, वीरसतसई आदि पद्य-ग्रंथ लिखे हैं। आपका व्रज-माधुरी-सार नामक ग्रंथ व्रजभाषा के प्रसिद्ध कवियों की कविताओं का संग्रह है। आप की भाषा मादकतापूर्ण तथा ललित होती है। आपको वीर सतसई काव्य पर १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी मिला है। वियोगी हरि गद्य तथा पद्य दोनों क्षेत्रों में प्रतिभावान लेखक हैं। उनका स्थायी भाव आध्यात्मवाद है। भक्ति की बड़ी ऊँची पावन भूमि से उनके उद्‌गार निकलते हैं। आपका गद्य नितांत काव्यमय होता है। आपके गद्यकाव्य पांडित्य मंडित होते हैं। आप लेखनी के बड़े सरल और भावुक हैं। आराध्य के प्रति प्रेमभाव प्रदर्शित करते-करते आप वाक्‌पटु रसिक हो जाते हैं।

आपमें उत्कृष्ट व्यंजना-प्रणाली के साथ प्रचुर भाषा-सौष्ठव मिलता है। कोमल सानुप्रास वाक्‌धारा में हृदय की अनुभूति बिखरी पड़ती है। कुछ लोग आपकी समासांत पदावली को बुद्धि के लिये दुर्गम भले ही

समझें, उसमें अस्पष्टता और कृत्रिमता तक निहारें, किंतु वे उनकी भाव-प्रवरता और सामंजस्यपूर्ण कथन-विधि से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। वास्तव में आपकी व्यंजना विषय के अनुरूप और स्वाभाविक होती है। उसमें एक अद्भुत प्रवाह और रोचकता भी है। किंतु यह सत्य है कि कहीं कहीं व्यंजना को सुंदर बनाने की धुन में आपने संस्कृत की तत्सम-पदावली बुरी तरह उड़ेल दी है। किंतु साथ ही भाषा में सरलता और चपलता लाने के मिस आपने उर्दू का भी निर्बाध प्रयोग किया है।

आपका वाक्य-विन्यास और आपकी शब्दावली सर्वत्र श्रुति-मधुर और आकर्षक है। यही आपकी शैली की विशेषता है। जिस मस्ती के साथ आपकी शैली आगे बढ़ती है उसमें भावना का ज्वालामुखी तड़पता रहता है।

वियोगी हरिजी की मेधा बड़ी तीक्ष्ण है। इन्हें अपनी शैली के विन्यास में संस्कृत, फारसी आदि के विद्वानों की मार्मिक उक्तियों का एक सुन्दर सोपान मिलता जाता है, जिसके सहारे आप अपनी भावुकता को लेकर रागात्मकता के चरम उत्कर्ष तक पहुँच जाते हैं। वास्तव में प्राचीन रसपरिपूर्ण मार्मिक उक्तियों के विचारों को सहेतुक ढंग से सजाने में ही आपकी शैली की विशेषता है। भक्तिभाव के अलौकिक उत्कर्ष ने असीम से सोहाग प्राप्त करके जिस सरस्वती के प्रवाह की सृष्टि की, वियोगीजी की निजी राष्ट्रीय भावना ने उसे एक दूसरा रूप दे दिया और दीनबन्धु के लिये की गई पुकार में भारतीय दीनों के आर्तनाद का चित्र खड़ा किया गया है। यह वह साम्यवाद है जिसका धरातल इस लोक से ऊपर उठा हुआ है। इसी लिये इस शैली में भी एक प्रकार का साम्यवाद है। वास्तव में वियोगी हरि एक प्रसिद्ध अन्योक्तिलेखक हैं।]

चन्द्रमा पृथ्वी से कितनी दूरी पर है; उसका क्षेत्रफल क्या है, किससे प्रकाश पाता है आदि बातें जाननी हैं, तो ज्योतिर्वि-

ज्ञानियों से पूछिए, वे सर्वज्ञ हैं ! आकाश-पाताल एक कर रहे हैं ! इतना ही नहीं, उनके हाथ में ईश्वर की अस्ति तक का भाग्यनिर्णय है !

हमें इन सब प्रश्नों से कुछ मतलब नहीं। आग जाने, लुहार जाने। हम तो उस चन्द्र की चर्चा चलाने आए हैं, जो साहित्य-संसार का शृङ्गार, संयोगियों का सुधासार, वियोगियों का विषागार, उपमाओं का भाण्डार एवं कल्पनाओं का आधार है। हमारे चन्द्रमा का जन्म समुद्र से हुआ है। वह कुमुद-बान्धव तथा रोहिणी-वल्लभ है। लक्ष्मी माता का सगा सहोदर होने से हम लोग उसे 'चन्दा मामा' भी कहते हैं। साहित्य-विज्ञान में द्विजराज, सुधाकर, मृगलाञ्छन आदि अनेक नामों से उसका उल्लेख किया गया है। वह भगवान् भूतभावन की भाल-स्थली का भव्य भूषण है। विष्णु का मन ही है। चन्द्रमा न होता तो बेचारे कवि नायक-नायिका के मुख-मण्डल की तुलना किससे करते ? भली-बुरी बातें किसे सुनाते ? कुमुद और चकोर की प्रीति किसके साथ जोड़ते ? और तो और, यामिनी-कामिनी का पाणिग्रहण किससे कराते ?

संस्कृत-साहित्य में चन्द्रमा को लक्ष्य कर कवियों ने पृष्ठ के पृष्ठ रँग डाले हैं। श्रीहर्ष का चन्द्रोपालम्भ अद्वितीय और अपूर्व है। कालिदास और भवभूति ने भी कहीं-कहीं इस विषय पर क़लम तोड़ दी है। काव्य-प्रकाश, साहित्य-दर्पण एवं रस-गंगाधर प्रभृति ग्रन्थों में चन्द्र पर ऐसी-ऐसी साहित्यिक सूझें मिलती हैं कि जिन्हें पढ़कर हृदय मन्त्रमुग्धवत् हो जाता है। वास्तव में कवियों के लिए चन्द्रमा एक ऐसा आवश्यक अंग हो

गया है कि जिसके बिना संयोग या वियोग शृङ्गार में चमत्कार आ ही नहीं सकता। इस पर जितनी उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ मिलती हैं, उतनी कदाचित् ही किसी दूसरे विषय पर हों। संस्कृत के एक कवि ने उत्प्रेक्षाओं की क्या ही अनोखी और चोखी माला गूँथी है—

लक्ष्मीक्रीडातडागो, रतिधवलगृहं दर्पणो दिग्वधूनां
पुष्पं श्यामालतायास्त्रिभुवनजयिनो मन्मथस्यातपत्रम्।
पिंडीभूतं हरस्य स्मितममरसरित्पुण्डरीको, मृगाङ्कः
ज्योत्स्नापीयूषवापी जयति सितवृषस्तारका गोकुलस्य॥

जान पड़ता है, यह चन्द्रमा भगवती लक्ष्मी का केलि-सरोवर है अथवा त्रिलोक-सुन्दरी रति का धवल-धाम है; या दिशारूपी ललनाओं के मुख देखने का स्वच्छ दर्पण या निशारूपी श्यामा लता का श्वेत पुष्प तो नहीं है? सम्भव है, यह कामदेव का श्वेत छत्र या भगवान् भूतनाथ का पिण्डीभूत अट्टहास्य हो। कहीं आकाश-गंगा में विकसित कमल का फूल न हो! हो न हो, यह कौमुदी रूपी सुधा का सरोवर है। हमें तो यह निश्चय होता है कि तारा रूपी गौओं के बीच में यह एक सुन्दर सफैद बैल है!

खूब! एक से एक बढ़कर सूझ से काम लिया गया है। आकाश-पाताल को एक कर दिया है। आदिकवि महर्षि वाल्मीकि ने, चन्द्रमा पर क्या ही सुन्दर कल्पनाओं से काम लिया है—

हंसो यथा राजतपंजरस्थः सिंहो यथा मंदरकन्दरस्थः।
वीरो यथा गर्वितकुंजरस्थश्चन्द्रोऽपि बभ्राज तथाम्बरस्थः॥

पिंजड़े के भीतर जैसे हंस, मन्दराचल की गुफा में जैसे सिंह तथा मतवाले हाथी पर जैसे शूरवीर शोभायमान होता है, उसी प्रकार आकाश के बीच में चन्द्रमा विराजमान हो रहा है।

'सिंहो यथा मन्दरकन्दरस्थः' की छाया पर गुसाईं तुलसी-दास ने 'पूरब दिसि-गिरि-गुहा-निवासी' लिखकर 'यद्रामायणे निगदितं' यह अपना प्रवचन सिद्ध किया है। कवि-कल्पना के आचार्य केशवदास ने भी चन्द्रमा का विलक्षण वर्णन किया है—

फूलन की सुभ गेंद नई। सूँघि सची जनु डारि दई॥
दर्पन सौ ससि श्री रति को। आसन काम महीपति को॥
मोतिन को श्रुति-भूषन मनो। भूलि गई रवि की तिय मनो॥
अंगद को पितु सौ सुनिए। सोहत तारहिं संग लिए॥
भूप मनोभव छत्र धरेउ। लोक वियोगिन को बिड़रेउ॥
देवनदी-जल राम कह्यो। मानहुँ फूलि सरोज रह्यो॥
फेन किधौं नभ-सिंधु लसै। देवनदी-जल हंस बसै॥

चारु-चंद्रिका-सिंधु में, सीतल स्वच्छ सतेज।
मनो सेषमय सोभिजै, हरिणाधिष्ठित सेज॥

इन सब में एक कल्पना बड़ी ही अनूठी है। दिन भर के परिश्रान्त सूर्य संध्या-समय अपनी उत्कण्ठिता रमणी के यहाँ जा रहे हैं। पति का आगमन सुन पतिव्रता कामिनी पति से मिलने को तुरन्त दौड़ आई। शृङ्गार तक ठीक-ठीक नहीं कर पाया था। उतावली में उसका एक कर्णफूल छूट गया। यह चन्द्रमा वही कर्णफूल है!

कभी चन्द्रमा मन्दाकिनी का धवल कमल कहा जाता है, तो कभी आकाश-रूपी समुद्र का फेन ! कहीं वह रति का दर्पण बन जाता है, तो कहीं कामदेव का राज-छत्र। कल्पनाओं का कुछ ठिकाना है ! सुन्दर मुख के लिए तो सिवा चन्द्र के दूसरी उपमा ही नहीं। इस सब मान-प्रतिष्ठा से चन्द्रमा को बड़ा घमण्ड होगा। मन ही मन कहता होगा कि मेरे समान सुन्दर, सुशील और सम्मान-पात्र कदाचित् ही कोई हो। पर, चंद्रदेव ! इस घमण्ड में न भूले रहना। जिन कवियों ने तुम्हें सातवें अर्श पर चढ़ा रखा है, वही तुम्हें फर्श पर गिराने को तैयार हैं। कवियों का क्या भरोसा ? ये साँप के बच्चे हैं। इनसे बहुत बच-बचकर चलना चाहिए। देखो, इन लोगों ने जितनी तुम्हारी प्रशंसा नहीं की उतनी निन्दा कर डाली है। सीताजी के मुख से तुम्हारी पटतर दी जाने को थी, पर विचार करने पर यह मालूम हुआ कि ऐसा करना महा अनुचित है। तुम तो उनके मुख के आगे कुछ भी नहीं। देखो न—

जनम सिंधु पुनि बंधु विष, दिन मलीन सकलंक।
सियमुख-समता पाव किमि, चंद्र बापुरो रंक॥

इतना ही नहीं, तुम में और भी कई दोष हैं—

घटइ बढ़इ बिरहिनि-दुखदाई। ग्रसइ राहु निज संधिहिं पाई॥
कोक-सोक-प्रद पंकज-द्रोही। अवगुन बहुत चंद्रमा तोही॥
वैदेही-मुख पटतर दीन्हैं। होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हैं॥

—तुलसी

तुम्हारे साथ उपमा देने के विचार मात्र से प्रायश्चित का भागी बनना पड़ेगा ! तुम में सबसे बड़ा ऐब तो यह है कि तुम

सदा विरही-जनों को अपनी शीतल किरणों से जलाया करते हो। बड़े विरोध की बात है। कहीं शीतलता में भी दाहकता होती है? हाँ अवश्य। न जाने, किसने तुम्हारा 'शीतकर' नाम रख दिया—

हौं ही बौरी बिरह-बस, कै बौरो सब गाम।
कहा जानि कै कहत हैं, ससिहिं सीत-कर नाम॥

—बिहारी

एक विरहिणी नायिका कहती है—विरह-वश मैं ही बावली हो गई हूँ; या गाँव-भर बावला है? ये लोग क्या जानकर इस अंगार को 'शीतकर' कहते हैं?

तू बावली नहीं है, गाँववाले ही बावले हैं। अरी, यह चन्द्रमा ही नहीं है। मूर्ख लोग इसे चन्द्रमा या शीतकर कहते होंगे। फिर कौन है? ग्रीष्म-ऋतु का प्रचंड मार्तण्ड। देखती नहीं है, अंगारों के समान अपनी विषम किरणों से समस्त संसार को भस्मसात् करता हुआ यह साक्षात् सूर्य निकल रहा है—

अंगारप्रखरैः करैः कवलयन्नेतन्महीमंडलम्।
मार्तंडोऽयमुदेति केन पशुना लोके शशांकीकृतः॥

—पंडितराज जगन्नाथ

फिर भी सन्देह है?

विष-संयुत कर-निकर पसारी। जारत बिरहवंत नर नारी॥

—तुलसी

वास्तव में, यह धधकती हुई आग का एक बड़ा भारी गोला है। नहीं, इसे जलता हुआ भाड़ कहना चाहिए। विरही-जनों के भूनने के लिए ब्रह्मा ने इसे बनाया है। यह भी सन्देह होता है कि कहीं यह विषैला सफ़ेद साँप न हो। शेषनाग के वंश के

सफ़ेद साँप होते ही हैं। सम्भव है, उसी वंश का यह भी हो। महाकवि गंग ने भी चन्द्रमा को साँप ही साबित किया है—

सेत सरीर हिए बिष स्याम कला फन री मन जान जुन्हाई।
जीभ मरीचि दसों दिसि फैलति काटति जाहि वियोगिनि ताई।
सीस तें पूँछ लौं गात गच्यो पै डसे बिन ताहि परै न रहाई।
सेस के गोत के ऐसेहि होत हैं चंद नहीं ये फनिंद है माई॥

मरते-मरते भी दुष्टों की दुष्टता नहीं जाती। सिर से पूँछ तक इसका सारा शरीर गल गया है, फिर भी इस साँप को काटे बिना कल नहीं पड़ती!

इसमें सन्देह नहीं कि इसकी किरणें तीक्ष्ण और विषैली हैं। पत्थर तक इन किरणों से पिघलकर मोम हो जाता है, फिर मनुष्यों का पूछना ही क्या। तिस पर, सुकुमार शरीर वालों की तो और भी मौत है!

रात्रिराज! सुकुमारशरीरः कः सहेत तव नाम मयूखान्।
स्पर्शमाप्य सहसैव यदीयं चन्द्रकान्तदृषदोपि गलन्ति॥

—मयंक

यह बिल्कुल सफ़ेद झूठ है कि चन्द्रमा का नाम सुधाकर है। सुधाकर होता तो भला क्यों बेचारे वियोगियों की हत्या सर पर चढ़ाता? पर ईश्वर बड़ा मालिक है। जो जैसा करता है, उसे वैसा ही फल देता है। इस निर्दय चन्द्रमा की भी अकल ठिकाने लगाने वाला कोई है, और है वीरवर राहु। ग्रहण के समय एक न चलती होगी। राहु के आगे, जनाब चाँद साहब, आपकी सारी चालाकी चंपत हो जाती है। उस दिन तुम्हें छठी का दूध याद आता होगा। न जाने, राहु के कराल गाल से तुम

कैसे जीवित निकल आते हो। राहु तुम्हें जान-बूझकर उगल देता है, क्योंकि तुम्हारी विष-ज्वाला उससे सहन न होती होगी। अच्छा होता, यदि किसी-न-किसी तरह वह तुम्हें स्वाहा कर देता। पर, पापियों की आयु बड़ी लम्बी होती है। तुम क्यों मरोगे ? चन्द्रमा, तुमने लगभग सभी पाप किए हैं। न जाने, अन्त में तुम्हारी क्या दुर्गति होगी। तुम्हारे पीछे तुम्हारे बाप समुद्र की तो पूरी दुर्दशा हो ही चुकी, अब तुम्हारी चाहे जो हो। न तुम सरीखे कुपूत होते, न बेचारे को इतनी आफतें भोगनी पड़तीं।

ए रे मतिमन्द चन्द धिग है अनन्द तेरो,
जो पै बिरहिनि जरि जात तेरे ताप तें।
तू तो दोषाकर दूजे धरे है कलंक उर,
तीसरे कपालि संग देखौ सिर छाप तें।
कहै 'मतिराम,' हाल जाहिर जहान तेरो,
बारुनी के बासी भासी रवि के प्रताप तें।
बाँध्यो गयौ, मथ्यो गयौ, पियो गयौ, खारो भयौ,
बापुरो समुद्र तो कुपूत ही के पाप तें॥

रामचन्द्रजी ने बाँधा, देवताओं और राक्षसों ने अमृत के लिए मथन किया, अगस्त्य ने आचमन कर डाला और खारा है ही। बेचारे समुद्र को तुम्हारे कुकर्मों का फल भोगना पड़ा !

कर्म करै कोउ और ही, और पाव फल-भोग।
अति विचित्र भगवंत गति, को जग जानइ जोग॥
—तुलसी

हे मृगलांछन ! पाप छिपाए नहीं छिपता, किसी-न-किसी

दिन उजागर हो ही जाता है। करोड़ों वियोगियों का रुधिर-पान करके तुम कुछ मोटे नहीं हो गए। घटने-बढ़ने का असाध्य रोग भी नहीं दूर हुआ। हाँ, मुँह बेशक काला हो गया। तुम्हारा यह कलुष-कलंक मरने पर भी न छूटेगा। मदिरा-पान क्या बट्टे-खाते जायगा? वियोगियों का जला देना क्या हँसी-खेल है? अभी तो जरा-सी कारिख लगी है, कुछ दिनों में सारा मुँह काला हो जायगा। तुम्हारी कालिमा पर भी कवियों ने कई कल्पनाएँ की हैं। आलम कहते हैं—

बिधु ब्रह्म कुलाल को चक्र कियो
मधि राजति कालिमा रेनु लगी।
छवि धौं सुरभीर पियूख की कीच कि
वाहन पीठ की छाँह खगी॥
कवि आलम रैन सँजोगिनि है
पिय के सुख संगम रंग पगी।
गए लोचन बूड़ि चकोरन के
सु मनो पुतरीन की पाँति जगी॥

अन्त की क्या ही अनोखी सूझ है—"गए लोचन बूड़ि चकोरन के सु मनो पुतरीन की पाँति जगी।" चकोरों ने तुम्हारी सुन्दरता देखते-देखते अपनी आँखें डुबो दीं, तल्लीन कर दीं। यह कालिमा उन्हीं की पुतलियों की है, आँख के तारों की है। चकोर की लगन भी आदर्श-रूप है। अहा!

चिनगी चुगै अंगार की, चुगै कि चन्द-मयूख।

—बिहारी

चकोर अंगार की चिनगारियाँ क्यों चुगता है? इसलिए

कि आग खाकर मर जाऊँ। फिर ? भस्म हो जाऊँ और वह भस्म शिवजी अपने मस्तक पर चढ़ाएँ; चन्द्रशेखर के ललाट पर प्यारे चन्द्रमा का वास है ही। बस, वहाँ उससे भेंट हो जायगी। आग चुगने का यही तात्पर्य है।

चिनगी चुगत चकोर यों, भसम होइ यह अङ्ग।
ताहि रमावै शिव तहाँ, मिलै पाउ ससि सङ्ग॥

कुमुद-बांधव, तुम्हें भी चकोर का कुछ ख्याल है ? न होगा, तुम बड़े ही कठोर हो। तुम्हारा हृदय एकदम काला है।

विष-रस भरा कनक घट जैसे।

अस्तु, तुम्हारी कालिमा पर गुसाईं तुलसीदास ने भी कुछ सूक्तियाँ लिखी हैं। श्री रामचन्द्रजी के पूछने पर सुग्रीव प्रमुख मन्त्री उत्तर देते हैं—

कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। ससि महँ प्रगट भूमि की छाँई॥
मारेहु राहु ससिहि कह कोई। उर महँ परी स्यामता सोई॥
कोउ कह जब बिधि रति मुख कीन्हा। सार भाग ससि कर हरि लीन्हा॥
छिद्र सो प्रगट इन्दु-उर माहीं। तेहि मग देखिय नभ परछाहीं॥

मन्त्रियों से यथेष्ट उत्तर न पाकर प्रभु स्वयं बोले—

कह प्रभु, गरल बन्धु ससि केरा। अति प्रियतम उर दीन्ह बसेरा॥

भक्तवर हनुमान्‌जी ने हाथ जोड़कर कहा—

कह हनुमन्त सुनहु प्रभु, ससि तुम्हार प्रिय दास।
तब मूरति तेहि उर बसत, सोइ स्यामता भास॥

बलिहारी क्या ही अनोखी उक्ति है !

अब तक तो यही सुनने में आया था कि चन्द्रमा की उत्पत्ति समुद्र से है; पर बेनी कवि इस सम्बन्ध में की एक निराली

ही बात बतला रहे हैं। उनकी राय में चन्द्रमा की उत्पत्ति यों हुई है—

राधे कौं बनाय बिधि धोयो हाथ जाम्यो रङ्ग,
ताको भयो चन्द्र कर झारे भए तारे हैं।

जब ब्रह्मा राधिकाजी को बना चुका, तब हाथ धोकर चुपचाप बैठ गया। समझ गया होगा कि अब इनसे सुन्दर कौन बन सकेगा! हाथ धोने से जो रङ्ग छूटा, उसका, जम जाने पर, चन्द्रमा बन गया और हाथ झाड़ देने से जो इधर-उधर बूँदें गिरीं, वही तारे हो गए। स्यात् इसी कारण से शिवजी ने इसे अपने मस्तक पर धारण किया हो। पर भगवान् भूतभावन की कृपा बङ्क मयङ्क पर है, पूर्ण मृगाङ्क पर नहीं। पद्मकोट के रसिक-भ्रमर पण्डित श्रीधर पाठक ने इस बङ्क मयङ्क पर बड़ी ही उत्तम उत्प्रेक्षाएँ लिखी हैं—

दिसि-भामिन भ्रू-भंग, काल-कामिनि निहंग असि।
कै जामिनि रही अधर-बिंब सौं मन्द हाँसि हँसि॥
मन्दाकिनि-तट पर्‌यौ तृषित जल-हीन मीन कोइ।
तड़पि रह्यौ तन छीन व्योमचर कै नवीन कोइ॥
वृत्र-विदारक इन्द्र-कुलिस की कुटिल नौंक तू।
निसि-बिरहिन तन लगी मदन की किधौं जौंक तू॥
निसा-योगिनी-भाल भस्म कौ बाँकौ टीकौ।
कै माया-महिषी-किरीट-छाया सुश्री कौ॥
कै सुमेरु सुचि बर्न स्वर्न-सागर कौ कौंड़ा।
कै सुर-कानन कदलि-मूल कौ कोमल बौंड़ा॥

किधौं स्वर्ग-फुलवारी के माली कौ हँसिया।
कै अमृत एकत्र करन को सेत अँकुसिया॥
रवि-हय-खुर की चाप किधौं, कै नाल नुकीली।
काल-चक्र की हाल परी खण्डित, कै कीली॥
नभ-आसन-आसीन कोई कै तपोलीन ऋषि।
कै कछु जोति मलीन, कृसित सोइ कलाछीन ससि॥

सब ने षोडश-कला-युक्त चन्द्रमा का वर्णन किया है, पर हमारे पाठकजी ने दो ही कलावाले बंक मयंक पर कमाल हासिल कर दिखाया है।

मयङ्क! तुम सदा टेढ़े रहते, तो राहु को तुम्हें ग्रसने का कभी साहस न होता। कहा भी है—

बक्र चन्द्रमहिं ग्रसइ न राहू।

वक्र चन्द्रमा से राहु इसी से डरता है कि कहीं यह जोंक की तरह चिपटकर रक्त न चूस ले। अथवा हँसिया की तरह काटकर काम तमाम न कर डाले। पर, सदा एक सी स्थिति में रहना चन्द्रमा के भाग्य में ही नहीं लिखा। पौष्टिक पदार्थों का सेवन करते-करते जैसे-तैसे पूर्णिमा तक हृष्ट-पुष्ट हुए भी, तो फिर रोग ने आ धर दबाया। बीमारी बढ़तो ही गई। यहाँ तक कि अमावस की रात काल-रात्रि हो गई! इस रोग को स्वर्ग के वैद्यराज अश्विनीकुमार तक दूर नहीं कर सके। औरों की गिनती ही क्या? हाँ, एक उपाय से निःसन्देह चन्द्रमा का रोग नष्ट हो सकता है? यदि यह विरही-जनों का रुधिर-पान करना छोड़ दे, तो मिनटों में बीमारी चली जाय। कुपथ्य करने से कहीं औषधि प्रभाव डाल सकती है? अब

भी चन्द्रमा परहेज से चलने लगे तो एक भी रोग न रहे, सदा हृष्ट-पुष्ट रहे, नित्य ही पूर्णमासी का आनन्द भोगे। पर वह दुर्बुद्धि हमारे उपाय के अनुसार क्यों चलने लगा!

जाको प्रभु दारुन दुख देहीं। ताकी मति पहले हरि लेहीं॥

निशानाथ! अब भी चेत जाओ, नहीं तो कोई तुम्हें कौड़ी दाम पर भी न पूछेगा। हमने तो यहाँ तक सुना है कि तुम अपने पद से हटाए जानेवाले हो। महाकवि बिहारी को तुम्हारी जरूरत नहीं रही। उन्हें एक ऐसी चन्द्रमुखी नायिका मिल गई है, जो नित्य ही पूर्णिमा की छटा दिखा देती है। असली पर्व की पूनों जानने के लिए पञ्चाङ्ग से काम ले लिया जाता है। अब तुम किस काम के रहे?

पत्रा ही तिथि पाइयतु, बा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्यो हो रहै, आनन-ओप-उजास॥

कहो, बर्खास्त हुए न? पेंशन की भी आशा न करना। क्योंकि तुम्हारे और तो सब कसूर माफ हो जायँगे, पर एक माफ न होगा। तुमने एक दिन भगवान् कृष्ण की अवज्ञा की थी। वे तुम्हें बुलाते ही रहे, पर तुमने गर्ववश अनसुना कर दिया। यदि तुम नीचे उतरकर नन्दनन्दन का मनोरञ्जन कर देते, तो तुम्हारा क्या बिगड़ जाता? बाल-गोविन्द ने तुम्हें लाल-लाल खिलौना समझा था। तुम्हारे साथ हँसते, नाचते, कूदते; पर यह सुख—यह रस—तुम्हें नहीं बदा था! श्रीकृष्ण तुम्हें देखकर कैसे मचल गए हैं! अपनी यशोदा मैया से कहते हैं—

मैया यह मीठो कै खारो। देखत लगत मोहि यह प्यारौ॥
देहि मँगाय निकट मैं लैहौं। लागी भूख चन्द मैं खैहौं॥

स्यात् इसी से न आए होगे, कि कहीं श्रीकृष्ण मुझे सचमुच ही खा न जायँ। किन्तु यह तुम्हारा अज्ञान है! भगवान् तुम्हें क्या खाते, तुम्हारे काल को खा जाते। तुम्हें अमर कर देते; अस्तु।

यशोदाजी समझाने लगीं कि लला! चन्दा के ताँई हठ न करो—

देखत रहौ खिलौना चन्दा। हठ नहिं कीजै बाल-गोविन्दा॥
मधु मेवा पकवान मिठाई। जो भावै सो लेहु कन्हाई॥

कन्हैया नहीं माने, रोते ही रहे। यशोदा मैया ने एक थाली में पानी भरकर कृष्ण से कहा—

लेहु लाल यह चन्द्र मैं, लीन्हौं निकट बुलाय।
रौवै इतने के लिये, तेरी स्याम बलाय॥

थाली में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब देखकर बालकृष्ण कुछ शान्त हुए, पर जब पकड़ने से वह हाथ में न आया तब फिर रोने लगे, फिर मचल गए—

लउँगो री मा चन्दा लउँगो। बाहि आपने हाथ गहौंगो॥
यह तो कलमलात जल माहीं। मेरे कर में आवत नाहीं॥

यशोदाजी बोलीं—लला, चन्दा तोकों डरै है, मारे डर के बेचारो भाजिकै पाताल पैठि गयो—

तुम तिहिं पकरन चहत गुपाला। ताते ससि भजि गयो पताला।
अब तुमतें ससि डरपत भारी। कहत, अहौं हरि सरन तुम्हारी॥

चन्द्रदेव! यशोदाजी को धन्यवाद दो, जिन्होंने श्रीकृष्ण से तुम्हारी तरफ से इतनी अच्छी सिफ़ारिश कर दी। जाओ, अब भी कुछ नहीं बिगड़ा। अशरणशरण कृष्णचन्द्र तुम्हारा

कल्याण करेंगे। क्या तुमने भगवान् का यह अभय-वचन नहीं सुना—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

बस, वही भक्तवत्सल भगवान् तुम्हें निष्कलङ्क कर सकेंगे, वही 'वैद्यो नारायणो हरिः' तुम्हारे सब रोगों का नाश करेंगे।

विज्ञान और प्रकृति

(लेखक—स्वर्गीय श्री पंडित रामदास जी गौड़)

[हिंदी में वैज्ञानिक साहित्य के जन्मदाता पंडित रामदास गौड़ का जन्म सन् १८७१ में जौनपुर में हुआ था। आपने रसायनशास्त्र में एम० ए० किया था। आरंभ में आप काशी के हिंदू-विश्वविद्यालय में रसायन के अध्यापक थे; पर गाँधी जी के राजनीतिक आंदोलन से प्रभावित होकर आपने नौकरी छोड़ दी। आगे चल कर यद्यपि उन्हें बड़े आर्थिक संकट में जीवन बिताना पड़ा, तथापि आपने अपने दृढ़ राजनीतिक विचार नहीं बदले और अंत तक सादा जीवन ही व्यतीत करते रहे।

गौड़ जी ने संस्कृत, फ़ारसी, उर्दू, बंगला, अँगरेजी आदि कई भाषाओं का अध्ययन किया था। ज्योतिष, धर्मशास्त्र और विज्ञान उनके प्रिय विषय थे। हिंदी में अंतिम की उन्नति के लिए उन्होंने जिस लगन, साहस और उत्साह का परिचय दिया है उसे देख कर चकित हो जाना पड़ता है। प्रयाग में विज्ञान-परिषद् की स्थापना और 'विज्ञान' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन उन्होंने इसी उद्देश्य से किया था। विभिन्न वैज्ञानिक विषयों पर लिखे उनके लेखों की संख्या सौ के लगभग है। 'भारी भ्रम', 'विज्ञान प्रवेशिका', 'स्वास्थ्य-साधन', 'रामचरित-मानस', 'रामचरित-मानस की भूमिका' और 'विज्ञान हस्तामलक' उनके प्रसिद्ध ग्रंथ ये हैं। अंतिम पर आपको पुरस्कार भी मिला था।

स्वर्गीय प्रोफ़ेसर रामदास गौड़ ने जिस साहित्यिक शैली का विज्ञान के प्रचार में, आश्रय लिया वह अन्य किसी विज्ञान-लेखक में नहीं मिलती। एक ओर तो आपने हिंदी साहित्यिकों के लिए काव्यपूर्ण भाषा में अपने विषय को सँवारा, और दूसरी ओर विषय को इतना सरस, आकर्षक और

सर्वसुबोध बनाया कि प्रत्येक ज्ञान परिमाण उससे लाभ उठा सके। उनकी भाषा में अपूर्व प्रवाह और काव्योपम सरसता है। ऐसी शुद्ध सुसंस्कृत हिंदी बहुत-से हिंदी के साहित्य-निर्माणकों में भी नहीं मिलती। अनूठी उपमाओं और रूपकों से गुंफित आपकी शैली पाठकों की अभिरुचि को गुदगुदाती चलती है, साथ ही बड़े-बड़े वैज्ञानिक तथ्यों को, भाषा की चिक्कणता और सरलता से हृदय तक पहुँचा देती है।

श्री रामदास गौड़ का विज्ञान-साहित्य के बृहत् निर्माणकों में चाहे उच्च स्थान न हो परंतु हिंदी-साहित्य के विज्ञान-क्षेत्र में वे अनिवार्य रूप से आचार्य्य थे। विज्ञान-साहित्य के प्रचार-प्रसार में आपका वही स्थान है जो हिंदी-साहित्य के युग-प्रवर्तक-निर्माणकों में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का। श्री रामदास गौड़ ने सैकड़ों की संख्या में हिंदी में विज्ञान-विषयक लेख लिखे हैं। विज्ञान के गहन विषयों को उनकी लेखनी के स्पर्श से ही लोक-प्रियता और एक अद्भुत चमत्कारपूर्ण सरसता मिल गई थी। आपने विज्ञान-साहित्य के निर्माण में बहुत-सी मौलिक पुस्तकें चाहे न लिखी हों किंतु बहुत-से मौलिक लेखक अवश्य उत्पन्न कर दिए। इनके विज्ञान-मंडल में विज्ञान-लेखकों का एक बड़ा भारी कुटुंब था जिसने हिंदी में विज्ञान की अनन्य सेवा की थी और कर रहा है।

आपने केवल विज्ञान-विषयक शतशः लेख ही नहीं लिखे, "विज्ञान" पत्र में वंदना-रूप में सैकड़ों कवितायें भी रची थीं। गर्मी और बरसात पर एक कविता "विज्ञान" में प्रकाशित हुई थी। "सभ्यता की पुकार" शीर्षक आपका लेख भाषा की दृष्टि से बड़ा सुन्दर था। रचना को सर्वसुबोध बनाने के लिये आपने जंतु-जगत् का "भुनगा-पुराण" शीर्षक लेखों में सुंदर विश्लेषण किया था। भुनगा-पुराण की लेखन-शैली बड़ी मधुर और आकर्षक है।

भाषाशैली में कैसा सामंजस्य है, विनोद और तथ्य का कितनी

सुंदरता से ओतप्रोत है। गौड़जी ने ज्ञान की घूँटी एक अपूर्व सरलता से कंठ में उतार दी है।

विज्ञान का आधार बाहरी प्रयोग-शाला है, स्वरूप बाहरी भौतिक है; किंतु काव्य का आधार आभ्यंतरिक धरातल है और उसके आलंबन अमूर्त भावनायें और विचार रहते हैं। इस दृष्टि से काव्य और विज्ञान का परस्पर विरोध है, परन्तु अटूट चिंतना दोनों में ही आवश्यक है। विज्ञान का कोई भी प्रयोग बिना उत्तम चिंतना के सफल नहीं हो सकता है। और इसी प्रकार काव्य का कोई भी स्वरूप जिसमें चिंतना का अनुपम समावेश न हो, उत्तम नहीं कहा जा सकता। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चिंतना के बिंदु पर विज्ञान और काव्य दोनों रेखायें मिल जाती हैं। अतएव वह मनस्वी जो चिंतनशील है और एक अच्छा दार्शनिक है, विज्ञान पंडित होते हुए भी कवि हो सकता है। श्री रामदास इसी कोटि के व्यक्ति थे। आपकी उच्च दार्शनिकता विज्ञान को काव्य का कलेवर दे देने में अद्वितीय रूप में सफल हुई थी। इनकी शैली में कोरे काव्य की अलसता का बहिष्कार है, और विज्ञान के रूखेपन से भी वह बिलकुल अछूती है। इससे तरल प्रवाह और मार्दव के साथ सरसता-सरलता का घनत्व है।]

विज्ञान ने इधर सौ बरसों में प्रकृति की एक अद्भुत लीला देखी। उसने देखा कि समस्त प्रकृति सृष्टि के आदि से ही धीरे धीरे उन्नति कर रही है। नित नये रूप बदल रही है। नित नये स्वाँग निकल रही है। सृष्टि के मश्क़ के तख़्ते पर अपना हाथ फेरती जाती है। अच्छे से अच्छे रूप और गुण की रचना करने में समर्थ होती जा रही है। लाखों बरस के तजरबे से आज उसने वर्तमान मनुष्य का रूप बना पाया है। वर्तमान सभ्यता इसी प्रकृति का विकास है। और रंग ढंग कहता है कि इस

तरह उन्नति करते करते न जाने कैसी उन्नत दशा में प्रकृति इस सृष्टि को पहुँचावेगी। इस तरह विज्ञान ने यह देखा है कि जगत् का होनहार बड़ा अच्छा है, अनेक वैज्ञानिकों ने उसके भविष्य की कुंडली बनाई है। यद्यपि कई उसकी आकस्मिक मृत्यु आदि का भय बताते हैं, तथापि अधिकांश का यही कहना है कि जगत् की आयु इतनी बड़ी है कि जितने बरस उसको उत्पत्ति से आज तक बीत गए हैं। अरबों बरसों का ज़माना, उसके दूध पीने के दिन थे, अभी तो पूरे दाँत नहीं आए। अभी उसने तोतले शब्द कहने सीखे हैं। उसकी आयु बहुत बड़ी है। दुनिया बूढ़ी नहीं हुई, बच्चा है। चन्द ही साल में दुनिया का अंत बताकर क़यामत ढानेवाले सचेत हो जायँ और सतयुग की राह तकनेवाने निराश न हों। विश्व के हाथ की रेखाएँ देखकर गणितज्ञ वैज्ञानिक ज्योतिषी का पूरा समर्थन करते हैं और सृष्टि की भावी बड़ी भाग्यवती बताते हैं। ऐसी स्थिति में विज्ञान के सामने बराबर यह प्रश्न आया है कि सृष्टि वा मानव-जीवन का ही क्या उद्देश्य है? यह समस्त सृष्टि किस मार्ग से मुद्दत से चली आ रही है? और इस मार्ग का यद्यपि कहीं ओर-छोर नहीं दीखता तथापि जिस रीति से यह यात्रा हो रही है क्या उससे यह नहीं जान पड़ता कि इस मार्ग के अंत में कोई बड़े मार्के को बात होगी, जिसका लक्ष्य सब को प्रेरित कर रहा है। ये प्रश्न बड़े महत्त्व के हैं। क्योंकि यदि यह मालूम हो कि हम कहाँ जाएँगे तो हम कोई पास की राह ले सकते हैं।

जैसे "क्या था और कैसा था", इन प्रश्नों का उत्तर इति-

हास समझा जाता है, 'क्या और कैसा होना चाहिए' इन प्रश्नों का उत्तर नीति और धर्म्मशास्त्र है, उसी तरह "क्या है और कैसा है" इन प्रश्नों का उत्तर ही विज्ञान समझा जाता है। स्थायी तथ्यों को लेते हुए विज्ञान जिस प्रकार ज्ञात इतिहास की सीमाओं का अतिक्रमण कर जाता है, उसी तरह जीवन-मात्र पर विचार करते हुए नीति और धर्म्मशास्त्र के क्षेत्र में भी उसका प्रवेश होता है। जैसे स्वास्थ्य के लिये डाक्टर की राय लिए बिना काम नहीं चलता, वैसे आधुनिक योगक्षेत्र के लिये विज्ञान को भी बुलाना पड़ता है। सारांश यही कि "क्या है और कैसा है" इन प्रश्नों के उत्तर से ही उसे छुटकारा नहीं मिल जाता, उससे यह भी पूछा जाता है कि तुम्हारी राय में—"क्या और कैसा होना चाहिए।"

विविध वैज्ञानिकों ने विविध भाँति से इसका उत्तर दिया है। विकासवादियों की यह धारणा है कि प्रकृति में चुनाव का नियम चलता है। जो अधिक बलवान् है वह निर्बलों का अंत कर देता है। सबलों और निर्बलों आदि का संघर्ष आदि से ही चला आ रहा है। निर्बल नष्ट हो जाता है, सबल की वृद्धि होती है। इसे योग्यतमावशेष नियम कहते हैं। प्रेम व करुणा व दया का तो कोई स्थान ही नहीं। बल्कि अहिंसा भी पास नहीं फट-कने पाती। बलवान् के व्यक्तिगत स्वार्थ के आगे समस्त निर्बल संसार को सिर झुकाना पड़ता है। इसलिये विकासवादियों के निकट संसार का स्वार्थपर होना ही स्वाभाविक है। अपनी रक्षा तथा अपने सुख के लिये भरपूर बल लगाना व्यक्ति का परम धर्म्म है, परम उद्देश्य यह है:—

आपदर्थे धनं रक्षेदारान् रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेदारैरपि धनैरपि ॥

योग्यतमावशेष की ऐसी व्याख्या संकुचित पक्ष की है। संतति का दंपति का प्रेम नन्हें से नन्हें जीवों से लेकर मनुष्य तक में पाया जाता है। समय समय पर स्वजातीय पर दया, निर्बल की सहायता और रक्षा ये बातें भी चराचर जीव-मात्र में देखी गई हैं। ज्यों-ज्यों शरीर और शारीरिक जीवन में विकाश होता जाता है, त्यों-त्यों इन गुणों की मात्रा भी बढ़ती जाती है। मनुष्य-शरीर में योग्यतमावशेष वाला पाशविक नियम नहीं रह जाता। जीवन संघर्षमय अवश्य है पर वह संघर्ष नहीं जो पशु-पशु में था। मनुष्य का जीवन-संघर्ष प्रकृति के साथ है, परिस्थिति के साथ है, उसके सजातीय के साथ नहीं। समस्त मानव जाति शरीर है और यह पृथ्वी ग्रह उसकी परिस्थिति है, जिससे वह दिन पर दिन अधिक परिचित, अभिज्ञ और अनुवर्ती होता जा रहा है। यही बात उपस्थित सत्य घटनाओं से मेल खाती है। किसी अन्य रीति से तो घटनाएँ समझ में नहीं आतीं, प्रत्युत असंबद्ध दीखती हैं। क्योंकि मनुष्य झगड़ों से हटता जाता है। शारीरिक बलप्रयोग से दूर होता जाता है, वरन् सहकारिता की ओर उसका अधिकाधिक बढ़ता जाना निर्विवाद है।

किंतु यदि मनुष्यों में परस्पर स्पर्धा का नाश कर देना ही जीवन का नियम है तो यों समझना चाहिये कि मानव-जाति प्रकृति के नियम की अवहेलना कर रही है और अवश्य नाश के मार्ग पर होगी।

सौभाग्यवश इस विषय में प्रकृति के नियम को समझने में भूल हुई है। समाज वैज्ञानिक दृष्टि से कोई सर्वाङ्ग-शरीर नहीं समझा जा सकता। जो अपने सजातीयों के संसर्ग के बिना ही जीवन बिताने का प्रयत्न करता है वह मर जाता है। राष्ट्र भी सर्वांग-पूर्ण देह नहीं है। अन्य जातियों की सहकारिता बिना ही यदि ब्रिटेन जीवित रहने का प्रयत्न करे तो आधी आबादी भूखों मर जाय। सहकारिता जितनी ही पूर्ण हो उतनी ही जीवन-शक्ति की वृद्धि समझनी चाहिए। सहकारिता जितनी ही अपूर्ण होगी उतनी ही कम जीवन-शक्ति भी होगी। जिस शरीर के भिन्न भिन्न अंग ऐसे अन्योन्याश्रित हैं कि बिना सहकारिता जीवन का ह्रास वा क्षय हो जाता है, उस शरीर को इस विषय में स्पर्धी वा विरोधी शरीरों का समूह न समझना चाहिए। वरन् एक ही शरीर जानना चाहिये। अपनी परिस्थिति से रगड़ा करने का प्राणियों का स्वभाव ही है, और उपर्युक्त बात इसके अनुकूल ही है। शरीरधारी जितना ही ऊँचे दर्जे का होगा उतना ही उसके अंगों में अन्योन्याश्रय और निकट संबंध होगा और उतनी ही सहकारिता की भी आवश्यकता होगी।

यदि जीव-वैज्ञानिक नियम का अर्थ यों समझा जाय तो सब बातें स्पष्ट हो जाएँ। विरोध से मनुष्य की अनिवार्य निवृत्ति और सहकारिता में विवश प्रवृत्ति इस बात को प्रकट करती है कि मानवजाति रूपी शरीर अपनी परिस्थिति का अधिकाधिक स्वामी होता जाता है और इस तरह उसकी शक्ति बढ़ती जाती है।

पूर्वोक्त नियम जीव-वैज्ञानिक रीति से वर्णन किया गया है। इन रीतियों से मनुष्य के जीवनप्रयास में जो आध्यात्मिक

अभ्युदय संमिलित है उसका सबसे अच्छा वर्णन उसकी वृद्धि के स्थूल विवरण में बड़ी उत्तमता से हो जायगा।

डारविन के सिद्धांतानुसार मानवी सृष्टि के आदि में मनुष्य का साधरण स्वभाव मनुष्यभक्षक था। अगले मनुष्य राक्षस वा मनुजाद थे। मान लो कि किसी मनुजाद ने अपने बंदी को मार डाला। यह स्वभावानुकूल होगा कि वह उस मांस को अपने लिये ही रखे, दूसरे को न दे। शक्ति के प्रयोग का यह प्रचंड रूप है और मनुष्य के स्वार्थ का सबसे नीच भाव है। किंतु सारा मांस एक ही दिन में खाया जाना संभव नहीं था, अतः वह सड़ने लगा और खाने योग्य न रहा और मनुजाद भूखों मरने लगा। जो लोग यह कहा करते हैं कि मनुष्य-स्वभाव नहीं बदलता उनकी भूल दिखाने को इस बीभत्स का वर्णन आवश्यक है अतः पाठक क्षमा करें।

वह मनुजाद जिस समय भूखों मर रहा है, उसी काल उसके दो पड़ोसियों की भी ठीक वही दशा है। यद्यपि पूर्वोक्त मनुजाद अपने भोज्य की रक्षा में शारीरिक दृष्टि से संपूर्ण समर्थ था तो भी उसके स्वाभाविक नाश के (सड़ने के) रोकने में असमर्थ होने से यों प्रबंध करना पड़ा कि दूसरी बार तीनों ने मिलकर एक ही बंदी को मारकर मिल-बाँटकर खाने का निश्चय किया। पहले के बंदी से दोनों पड़ोसियों ने भाग लिया और दूसरे दिन अपने बंदी से पहले को भाग दिया। इस प्रकार मांस खराब होने न पाया। यह सबसे पहला दृष्टांत है, जिसमें संसार में शारीरिक बल को सहकारिता के आगे सिर झुकाना पड़ा। अंत में तीनों के तीन बंदी दस बारह दिन में

समाप्त हो गए और खाने को कुछ न रह गया। तब यह बात सूझी कि यदि हम इन्हीं बंदियों को जीता रखते तो इनसे अपने लिये शिकार कराते और कंद-मूल खुदवाते। निदान अब जो बंदी मिले वे मारे नहीं गए। दास बना लिए गए। यह भी शारीरिक बल-प्रयोग की कमी ही हुई। जिस स्वार्थ की प्रवृत्ति से पहले मारे जाते थे उससे ही अब सेवा में लगाए जाते हैं। तब भी युद्ध-कामना के साथ समझदारी इतनी कम खर्च की गई कि दास भूखों मरने लगे और उपयोगी काम के लिये सर्वथा अशक्त हो गए। अब उनसे धीरे धीरे अच्छा बर्ताव होने लगा और युद्ध-कामना घटने लगी। दास भी इतने सध गए कि बिना देख-रेख के कंद-मूल की खुदाई करने लगे और उनके स्वामी देख-रेख के समय को शिकार में लगाने लगे। जो झगड़ालूपन पहले दासों पर खर्च होता था, अब और जातियों के वैरियों से उन्हें बचाने में खर्च होता है। यह बात कठिन भी थी, क्योंकि दासों में स्वयम् एक स्वामी से दूसरे स्वामी के यहाँ चले जाने की प्रवृत्ति बहुधा देखी जाती थी। इसलिये राजी रखने के लिये उनसे और भी अच्छा व्यवहार किया जाने लगा। शक्ति के प्रयोग में यह और भी कमी हुई और सहकारिता में और भी वृद्धि हुई। दासों ने उनके लिये मजूरी की और स्वामियों ने उन्हें भोजन दिया और उनकी रक्षा की! ज्यों-ज्यों जातियों की वृद्धि हुई त्यों-त्यों यही बात पाई गई कि जिस जाति में दासों को जितना ही अधिकार, जितना ही सुख दिया गया उतनी ही उन जातियों में वृद्धि और दृढ़ता हुई। धीरे-धीरे दासत्व ने रैयत वा आसामी का रूप ग्रहण किया। स्वामी ने भूमि दी और रक्षा

का प्रबंध किया और रैयत ने स्वामी के लिये मजदूरी की और सैनिक बने। शारीरिक बल के प्रयोग से मानव-जाति और भी हट गई और मिल-जुलकर काम करने की और अदला-बदली की रीति और भी बढ़ी। जब सिक्के चले बल का रूप भी बदल गया और रैयत लगान देने लगी। सैनिक तनख्वाह पाने लगे। अब दोनों पक्षों में स्वच्छंदता से अदला-बदली होने लगी। शारीरिक बल आर्थिक शक्ति से बदल गया। ज्यों-ज्यों बल-प्रयोग से साधारण आर्थिक सुभीते की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति होती गई त्यों-त्यों व्यवसाय का अधिकाधिक प्रतिफल मिलने लगा। तातारी खान जो अपने राज्य का धन जबरदस्ती लूट लेता था, अब लूट को कुछ पाता ही नहीं, क्योंकि जिस धन से लाभ नहीं हो सकता उसके उपार्जन के लिये मनुष्य उद्योग न करेंगे। अतः खाने के लिये अंततः किसी धनी को अनेक दुर्यातना करके मार डालने पर भी उस धन का सहस्रांश न मिल सकेगा जो लंदन का कोई व्यापारी बलप्रयोगाधिकारहीन उपाधि के प्राप्त करने में खुशी से खर्च कर देगा। और वह उपाधि भी ऐसे शासक से, ऐसे महाराजाधिराज से मिलेगी जो बलप्रयोग का कोई भी अधिकार न रखते हुए संसार के सबसे धनी साम्राज्य का स्वामी है। जिसका धन ऐसे उपायों से इकट्ठा हुआ है, जिनका बल-प्रयोग से कोई सरोकार ही नहीं है।

जाति वा उपजाति के भीतर ही भीतर यह सिलसिला जिस समय बराबर जारी रहा, उसी काल में भिन्न भिन्न राष्ट्रों वा जातियों में जो परस्पर बल-प्रयोग वा द्वेषभाव था वह दूर नहीं हुआ, पर उसमें कमी अवश्य आई। पहले तो यह बात थी

कि झाड़ी के भीतर से अपने बैरी जातिवालों का धूलिधूसरित सिर दिखाई दिया नहीं कि इधर राक्षस के तीर का निशाना बन गया, क्योंकि यह 'पर' है अतः मारणीय है। कुछ दिन पीछे यह दस्तूर हो गया कि अपनी जातिवालों से लड़ाई हो तभी उसे मारने का प्रयत्न किया जाय। ऐसे भी अवसर आने लगे जिनमें शांति होती थी, शत्रुता में कमी होती थी। पहले के युद्धों में वैरी की स्त्रीयाँ, बूढ़े सभी मारे जाते थे। बल और युद्ध-कामना अनियंत्रित होती तो है किंतु ज्यों-ज्यों दासों से मजूरी का और दासियों से उप-स्त्री का काम लिया जाने लगा युद्ध-कामना घटती गई। बल-प्रयोग कम होता गया। वैरी की स्त्रियाँ विजेता के पुत्र उत्पन्न करने लगीं। झगड़ालूपन और भी हटा। वैरी की बस्ती पर जो फिर चढ़ाई की गई तो मिला कुछ नहीं, क्योंकि लूट-मार से कुछ बचा ही न था। अतः वैरियों के सरदार को ही मार कर संतोष किया। युयुत्सा में और कमी आई। संवेग का और भी ह्रास हुआ। या वैरियों से देश छीन कर अपने लोगों में बाँट दिया, जैसा नारमन विजेताओं ने किया था। अब मनुष्य सर्वनाश करने के दरजे से आगे बढ़ गए।

अब विजेता विजित को केवल अपने में मिला लेता है वा विजित ही विजेता को मिला लेता है। जैसा समझ लिया जाय। अब एक दूसरे को चट कर जाने की बात नहीं रही। दोनों में एक भी निगला नहीं जाता। इसके अनंतर विजेता अपने वैरी राजा को बेदख़ल नहीं करता, वरन् उस पर कर लगा देता है। यह बल-प्रयोग में और भी कमी हुई। किंतु विजेता

राष्ट्र की दशा अपने ही राज्य में खान की-सी हो जाती है। जितना ही वह निचोड़ता है उतना ही कम पाता है। यहाँ तक कि अंत को जो कुछ मिलता है उससे भी अधिक उसके पाने के लिये सेना में खर्च हो जाता है। स्पेनिस अमेरिका में स्पेन की जो दशा हुई—जितना अधिक उसका राज्य बढ़ता था उतना ही स्पेन दरिद्र होता जाता था—वही दशा हो जाती है। अब बुद्धिमान् विजेता को यह बात सूझती है कि कर लेने की जगह उस देश के बाजार पर अपना इजारा कर लिया जाय तो अधिक लाभ होगा। इस सिद्धांत पर अंगरेज़ों ने उपनिवेशों की पुरानी रचना की किंतु इजारे की रीति में लाभ के बदले हानि बहुत हुई। इस पर उपनिवेशों को अपनी-अपनी ही रीति चलाने की आज्ञा दे दी गई। इस तरह बल-प्रयोग में और भी कमी हुई। विरोध और झगड़ालूपन और भी घटा। इसका अंतिम परिणाम यह हुआ कि बल-प्रयोग एकदम छोड़ दिया गया। अब परस्पर लाभवाली सहकारिता का ही संबंध रह गया। सो केवल उपनिवेशों में ही नहीं जो पर-राज्य बन गए हैं, किंतु उन राज्यों में भी जो नाम-मात्र को वा वस्तुतः पराये हैं। अब मनुष्यों में परस्पर कठिन रगड़े की दशा नहीं है। हम ऐसी दशा को पहुँचे हैं कि परदेशियों के सुखी रहने पर ही हमारी जीविका या जीवन है। यदि इँगलैंड किसी जादू से समस्त विदेशियों को मार डाले तो उसकी आधी प्रजा भूखों मर जाए। ऐसी दशा में परदेशियों से बहुत दिन तक विरोध रह नहीं सकता। किसी गंभीर जीव-वैज्ञानिक नियम से वा आत्मरक्षा के सच्चे भाव से ही ऐसे विरोध का कोई न्याय्य कारण समझा जाए

ऐसी भी कोई स्थिति नहीं है। ज्यों-ज्यों शरीर के अंग प्रत्यंग का अन्योन्याश्रय नवीन रीति से घनिष्ट होता जाता है, त्यों त्यों वह आध्यात्मिक अभ्युदय आवश्यक है, जो आदि से ही मानव-प्रकृति के इतिहास-पट पर अंकित होता आया है। उस दिन से जब मनुष्य अपने बंदी को मारकर खा जाते थे और साथियों तक में बाँटना अस्वीकार करते थे, आज तक जब कि तार और बैंक ने आर्थिक रीति से सैन्य-बल को बिलकुल निरर्थक कर दिया है।

प्रस्तुत विचारों से कोई ऐसा न समझ ले कि विकासवाद एकदम नई बात है। डारविन के दिमाग़ की ही उपज है। डारविन को समझानेवाले अफ्रीका के पादरी थे, जिन्होंने वहाँ के बनमानुसों और जंगली मनुष्यों में बड़ा सादृश्य पाया था। जैसे साधारण गोरी सभ्यतावाला अपने को ही मनुष्य समझता है और अ-गोरी जातियों को मनुष्य कोटि में गिनता ही नहीं, और जैसे अब तक अधिकांश भारतीय गोरी जातियों को त्रिजटा की संतान समझा करते हैं। उसी तरह यह निष्कर्ष निकाला था कि अफ्रीका के मनुष्य वानर से ही उत्पन्न हुए होंगे। मनुजादों, वनमानुसों और वानरों से और मनुष्यों से प्राचीन संबंध हमारी कल्पना नहीं है, ऐतिहासिक बात है। वह भी दो चार हज़ार बरस का इतिहास नहीं, युगों पहले की बात है, जहाँ आधुनिक पाश्चात्य कल्पना और प्राच्य परंपरा में इतना घना सादृश्य है।

सृष्टि की घटनाओं के अवतारों के क्रम के विश्लेषणपूर्वक अध्ययन से विकास का पूरा पता लगाता है। एक स्थल पर हक्सले

इन बातों को इन शब्दों में मानता है कि "हिंदू ऋषियों की चर्चा ही क्या जो युगों पहले विकास-सिद्धांत से पूर्ण परिचित थे"। वैष्णवों में भी श्री संप्रदाय के आचार्य रामानुज स्वामी ने बड़ी योग्यता से विकास को सिद्ध किया है। उनका कहना यह है कि जीवात्मा में प्रत्येक शक्ति पहले से ही विद्यमान है। चींटी में वे ही शक्तियाँ हैं जो ब्रह्मा में हैं। शक्ति की नदी सब जगह वेग से बहती है। जो किसान अपने खेत का बाँध हटावेगा उसके खेत में जल तुरंत भर जायगा यही आंतरिक शक्ति हमारे यहाँ विकास का हेतु मानी गई है। हिंदू-विकासवाद में और डारविन के विकासवाद में यह अंतर अवश्य है कि डारविन ने जीवन का रगड़ा विकास का हेतु माना है और हिंदुओं ने आंतरिक शक्ति को ही हेतु समझा है। मनुष्येतर योनियों में जीवन-संग्राम देखकर ही डारविन ने भूल की, कार्य्य का कारण समझ बैठा। वस्तुतः जीवन-संग्राम उसी प्रवृत्ति का कार्य्य है जो सृष्टिमात्र में कूटस्थ है। जो सारे खेल खिलाती और सब खोये कुटवाती है। श्री रामानुजाचार्य्य के अनुसार नीच से नीच योनि में आत्मा की दशा अत्यंत खींची हुई कमानी के समान है, जिसमें प्रसार बड़ी प्रबल प्रवृत्ति है। शक्तियों के घनीभवन के कारण प्रसार का होना ही स्वाभाविक और आवश्यक है। प्रसार के बदले संकोच उत्पन्न करने के जो कारण उपस्थित होंगे वे ही अधर्म वा पाप समझे जाने चाहिएँ। ऊर्ध्वगति स्वभावसिद्ध है। अधोगति अस्वाभाविक है और घोर पाप कर्म से ही हो सकती है।

'धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण।'

अविद्या के कारण नीच योनियों के स्वाभाविक विकास से जब मार्ग में बाधायें उपस्थित होंगी, रुकावटें आगे आवेंगी तभी जीवन संग्राम का दृश्य सामने आवेगा। वेगवती तरंगिणी की राह में जब तक चट्टानों की रुकावट नहीं है, चुपचाप धारा बहती जाती है। चट्टानों ने बीच में रुकावट डाली कि धारा कुछ देर के लिये रुकी, परंतु धीरे-धीरे बल एकत्र करके चट्टानों को मारे थपेड़ों के रेत कर डालती है और घोर नाद करती और तटों को बहाती दूने वेग से समुद्र को जाती है। इस अवरोध को ही देखकर पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने जीवन-प्रयास तथा योग्यतमावशेष का हेतु समझ लिया। नीच योनियों से जीव का विकास होते होते मानव-योनि तक पहुँचा है, इससे ही विकास का मार्ग प्रशस्त और अनिरुद्ध-सा हो जाता है। जीवों में साधारणतया तीन प्रकार की उच्चाभिलाषा होती है जो उसे उन्नति की ओर झुकाती है—तरक्की की राह में लगाती है—सातत्य, सर्वज्ञता और सुख। सभी चाहते हैं कि हम सदा बने रहें, मरें नहीं, हमारा नाश न हो जाय। इसके लिये सच्चे झूठे जितने उपाय सूझते हैं मनुष्य सभी करता है। यही सातत्य की कामना है। सब कुछ जानने की इच्छा सबके मनों में होती है और उसके जानने के लिये अपने बल भर सभी उपाय करते हैं। यही सर्वज्ञता की इच्छा है। जिये तो सुख से जिये और मरे भी तो जहाँ कहीं आत्मा जाय सुखी ही रहे, यह इच्छा ऐसी प्रबल है कि कई गयाजी में अपना श्राद्ध भी कर आते हैं। यही सुख की इच्छा है। इस प्रकार इन तीनों इच्छाओं को साथ लिए हुए जीवात्मा शरीर-परिवर्तन करता है। चराचर जीवों में इन्हीं

इच्छाओं के अनेक रूपों में चिन्ह पाए जाते हैं। वनस्पतियों के जीवन का जैसा अनुशीलन विज्ञानाचार्य्य सर जगदीशचंद्र वसु ने किया है, संसार में प्रसिद्ध ही है। वनस्पतियों में भी ऐसी प्रवृत्ति पाई जाति है। अपने यहाँ जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और पशुओं की स्वप्नावस्था बताई है। अवस्थाभेद से जैसे जागृत अवस्था कर्म के लिये सबसे अधिक विकसित दशा है, उसी तरह मानव-शरीर में इन तीनों इच्छाओं का सबसे ज्यादा ज़ोर है। इन इच्छाओं को दूसरे शब्द में कहें तो क्रमशः सत्, चित और आनंद कह सकते हैं; और यह भी कह सकते हैं कि जीव की स्वाभाविक इच्छा सच्चिदानंद होने की है।

जीवात्मा की सबसे ऊँची आकांक्षा यही हो भी सकती है कि वह सच्चिदानंद हो जाय। सच्चिदानंद उस आनंद का नाम है जिसे आस्तिक हिंदू ईश्वर, जैन तीर्थंकर और बौद्ध बुद्ध वा अर्हत कहते हैं। परंतु हम यह कह आए हैं कि जीवात्मा चेतन आत्मा और अचेतन अनात्मा के संसर्ग का फल है। अतः उसी ऊँची से ऊँची आकांक्षा ईश्वरता की ही हद तक पहुँच सकती है और ईश्वरता भी प्रकृति से सविकार है, निर्विकार नहीं।

इस स्थल पर यह कह देना भी उचित होगा कि जहाँ रामानुज स्वामी के मत से विकास का होना जीव के लिये आवश्यक है, वहाँ भगवान् शंकर विकास नहीं मानते। बात ठीक ही है। विकास-प्रवृत्ति और निवृत्ति, वृद्धि और क्षय, ये बातें प्रकृति की हैं। घटना बढ़ना आदि विकार प्रकृति में ही संभव हैं। आत्मा पूर्ण अखंड, अनंत, अविकार, सनातन, एकरस है। अनिर्वचनीय और एक है। उसमें विकास की कल्पना की

गुंजाइश कहाँ है ? शंकर के मत से आत्मा ही सत्य है। "सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म", "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या", "एकमेवाद्वितीयम्" आदि आत्मा की सत्ता को ठीक और शेष को मिथ्या और अनित्य बताते हैं। परिवर्तन उसका धर्म्म है। जगत और संसार आदि नाम आप पुकार कर विकास की दाद देते हैं और वृद्धि और ह्रास के नियम की मर्य्यादा करते हैं। जहाँ रामानुज स्वामी सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य चार प्रकार की मुक्ति ठहराते हैं और बंधन को भ्रममात्र बताते हैं, रामानुज स्वामी का जीव सच्चिदानंद हो जाता है। शंकर स्वामी का जीव रह ही नहीं जाता, आत्मा में लीन हो जाता है।

श्री रामानुजाचार्य्य के अनुसार जीवन की सायुज्यशक्ति भगवान् के अंग में संमिलित हो जाना है, परंतु भगवान् शंकर के यह द्वैत है ही नहीं। कौन अंगी और कैसा अंग। जब आत्मा को छोड़ और कोई सत्ता ही नहीं तो बंधन भी भ्रम ही ठहरा। झूठ ही बात है। जीव जिसे कहते हैं कभी बँधा ही नहीं। नित्य मुक्ति है। यही कारण है कि शंकर के यहाँ विकास सिद्ध नहीं है।

आचरण की सभ्यता

(लेखक—स्वर्गीय श्री सरदार पूर्णसिंहजी)

[सरदार पूर्णसिंह का जन्मकाल सन् १८८१ से १९३१ तक है। १८ वर्ष की अवस्था में एफ० ए० पास करने के पश्चात् व्यावहारिक रसायन की शिक्षा प्राप्त करने के लिए सन् १९०० में उन्होंने जापान यात्रा की। तीन वर्ष बाद वहाँ से लौट कर देहरादून के फारेस्ट कालेज में वह अध्यापक हो गए। अध्ययन की रुचि इनमें आरंभ से ही थी। अध्यापक हो जाने पर तो इन्हें इसके लिए सभी साधन सुलभ हो गए और इन्होंने उनसे पूर्ण लाभ उठाया। भारतीय और विदेशी दर्शनशास्त्र से इन्हें विशेष प्रेम था। इसके अतिरिक्त इन्होंने उर्दू और पंजाबी साहित्य का भी अध्ययन किया था। उर्दू का प्रभाव तो इनकी भाषा पर स्पष्ट ही है।

सरदारजी ने हिंदी में बड़े सुंदर उपदेशात्मक और आध्यात्मिक लेख लिखे हैं। यद्यपि इनकी संख्या अधिक नहीं है तथापि शिक्षाप्रद होने के कारण उनका विशेष प्रचार है। उन्होंने अपने विचार बिलकुल सीधे सादे ढंग से और सरल प्रचलित भाषा में व्यक्त किए हैं। उनके लेखों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें लेखक के आंतरिक विचार मिलते हैं। कोरे 'पर-उपदेश' की बात न होने के कारण ही इनके लेखों का पाठकों पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

प्रस्तुत लेख का विषय मानवमात्र से संबंध रखता है। मनुष्य का अस्तित्व किसी समय उसकी वीरता और साहस पर ही अवलंबित था। आज यह स्थिति न रहने पर भी जीवन का सुख और शांति उसकी सच्ची वीरता पर ही निर्भर है। मनुष्य की इस सच्ची वीरता का क्या रूप होना

चाहिए, यही इस पाठ में लेखक ने दिखलाया है। वस्तुतः सच्ची वीरता का संबंध अंतरात्मा से है; इसीसे लेखक ने इसे दैवी प्रेरणा कहा है। सच्चे वीरों से लेखक का आशय उन व्यक्तियों से है जो मृत्यु से डरते नहीं, उसे खिलवाड़ समझते हैं, हँसते-हँसते उसका आलिंगन करते हैं। इन व्यक्तियों के सामने बड़े-बड़े युद्धों में विजय प्राप्त करनेवाले शूर-सामंत भी कायर हैं। सच्चे वीरों का आदर्श मरना है। पर कायरों का मारना। आदर्श की इस भिन्नता के कारण उनके मार्ग भी भिन्न हो जाते हैं—एक अहिंसा को अपनाता है, दूसरा हिंसा को। अहिंसा का प्रभाव व्यापक और अमिट होता है, पर हिंसा का सीमित और मिटनेवाला। इसीसे हिंसक के मिटते ही उनका प्रभाव भी मिट जाता है; पर सच्चे वीरों के मरने के बाद भी उनका प्रभाव अमिट रहता है।

आपके तीन ही लेख देखने में आए हैं, पर उनकी आन-बान निराली है, उनमें प्रभाविष्णुता है। ऐसी शैली में, ऐसी सबल भाषा में, ऐसे निबंध किसीने नहीं लिखे। आरंभ में व्यंजकता की सच्ची विभूति के दर्शन गद्य में कराने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। वाक्यों की लघुता, भावों की क्षिप्रता, शैली की तरलता और विषय की नूतनता—इनमें सभी कुछ उपादेय है। बाह्य की ओर विशेष दृष्टि रखने से मनुष्य का अभ्यंतर कलुषित हो रहा है। जिसका अभ्यंतर स्वच्छ है उसका बाह्य कलुषित रह नहीं सकता, यदि रहे भी तो वह चंद्र-कलंक की भाँति नगण्य होगा। जिसका शील हिल गया वह किसी पर अपना प्रभाव जमा नहीं सकता। जिसका आचरण बना है वह सृष्टि का भूषण है; भले ही उसके पास धन, विद्या, बल आदि भौतिक ऐश्वर्य या बौद्धिक विभूति न हो। अपने कर्तव्य की निष्ठा मनुष्य को सच्चा मनुष्य क्या, देवता बना सकती है; आत्मनिर्भरता की आवश्यकता है, परमुखापेक्षिता की नहीं। सत् में असत् और असत् में सत् दोनों के दर्शन लेखक ने कराए हैं। मनुष्य को सच्चा मनुष्य बनने का संकेत किया है, जो साहित्य का मुख्य कार्य है।]

विद्या, कला, कविता, साहित्य, धन और राजत्व से भी आचरण की सभ्यता अधिक ज्योतिष्मती है। आचरण की सभ्यता को प्राप्त करके एक कंगाल आदमी राजाओं के दिलों पर भी अपना प्रभुत्व जमा सकता है। इस सभ्यता के दर्शन से कला, साहित्य और संगीत को अद्भुत सिद्धि प्राप्त होती है। राग अधिक मृदु हो जाता है, विद्या का तीसरा शिव-नेत्र खुल जाता है। चित्र-कला मौन राग अलापने लग जाती है, वक्ता चुप हो जाता है, लेखक की लेखनी थम जाती है, मूर्ति बनाने-वाले के सामने नए कपोल, नए नयन और नवीन छवि का दृश्य उपस्थित हो जाता है।

आचरण की सभ्यतामय भाषा सदा मौन रहती है। इस भाषा का निघंटु शुद्ध श्वेतपत्रोंवाला है। इसमें नाममात्र के लिए भी शब्द नहीं। यह सभ्याचरण नाद करता हुआ भी मौन है, व्याख्यान देता हुआ भी व्याख्यान के पीछे छिपा है, राग गाता हुआ भी राग के सुर के भीतर पड़ा है। मृदु वचनों की मिठास में आचरण की सभ्यता मौन रूप से खुली हुई है। नम्रता, दया, प्रेम और उदारता सबके सब सभ्याचरण की भाषा के मौन व्याख्यान हैं। मनुष्य के जीवन पर मौन व्याख्यान का प्रभाव चिरस्थायी होता है और उसकी आत्मा का एक अंग हो जाता है।

न काला, न नीला, न पीला, न सुफेद, न पूर्वी, न पश्चिमी, न उत्तरी, न दक्षिणी, बे-नाम, बे-निशान, बे-मकान—विशाल आत्मा के आचरण में मौनरूपिणी सुगंध सदा प्रसरित हुआ करती है। इसके मौन से प्रसूत प्रेम और पवित्रता-धर्म

सारे जगत् का कल्याण करके विस्तृत होते हैं। इसकी उपस्थिति से मन और हृदय की ऋतु बदल जाती है। तीक्ष्ण गरमी से जले-भुने व्यक्ति आचरण के बादलों की बूँदा-बाँदी से शीतल हो जाते हैं। मानसोत्पन्न शरद्-ऋतु से क्लेशातुर हुए पुरुष इसकी सुगंध-मय अटल वसंत ऋतु के आनंद का पान करते हैं। आचरण के नेत्र के एक अश्रु से जगत् भर के नेत्र भींग जाते हैं। आचरण के आनंद-नृत्य से उन्मदिष्णु होकर वृक्षों और पर्वतों तक के हृदय नृत्य करने लगते हैं। आचरण के मौन व्याख्यान से मनुष्य को एक नया जीवन प्राप्त होता है। नए नए विचार स्वयं ही प्रगट होने लगते हैं। सूखे काष्ठ सच-मुच ही हरे हो जाते हैं। सूखे कूपों में जल भर आता है। नए नेत्र मिलते हैं। कुल पदार्थों के साथ एक नया मैत्री-भाव फूट पड़ता है। सूर्य, जल, वायु, पुष्प, पत्थर, घास, नर, नारी और बालक तक में एक अश्रुतपूर्व सुंदर मूर्ति के दर्शन होने लगते हैं।

मौनरूपी व्याख्यान की महत्ता इतनी बलवती, इतनी अर्थ-वती और इतनी प्रभाववती होती है कि उसके सामने क्या मातृभाषा, क्या साहित्यभाषा और क्या अन्य देश की भाषा—सबकी सब तुच्छ प्रतीत होती हैं। अन्य कोई भाषा दिव्य नहीं, केवल आचरण की मौन भाषा ही ईश्वरीय है। विचार करके देखो, मौन व्याख्यान किस तरह आपके हृदय की नाड़ी में सुंदरता पिरो देता है। वह व्याख्यान ही क्या जिसने हृदय की धुन को—मन के लक्ष्य को—ही न बदल दिया। चंद्रमा की मंद मंद हँसी का तारागण के कटाक्षपूर्ण प्राकृ-तिक मौन व्याख्यान का प्रभाव किसी कवि के दिल में घुसकर

देखो। सूर्यास्त होने के पश्चात्, श्रीकेशवचंद्र सेन और महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर ने सारी रात, एक क्षण की तरह, गुजार दी, यह तो कल की बात है। कमल और नरगिस में नयन देखनेवाले नेत्रों से पूछो कि मौन व्याख्यान की प्रभुता कितनी दिव्य है।

प्रेम की भाषा शब्दरहित है। नेत्रों की, कपोलों की, मस्तक की भाषा भी शब्दरहित है। जीवन का तत्त्व भी शब्द से परे है। सच्चा आचरण—प्रभाव, शील, अचल-स्थितिसंयुक्त आचरण—न तो साहित्य के लंबे व्याख्यानों से गठा जा सकता है, न वेद की श्रुतियों के मीठे उपदेश से, न इंजील से, न कुरान से, न धर्मचर्चा से, न केवल सत्संग से। जीवन के अरण्य में घुसे हुए पुरुष के हृदय पर, प्रकृति और मनुष्य के जीवन के मौन व्याख्यानों के यत्न से, सुनार के छोटे हथौड़े की मंद मंद चोटों की तरह आचरण का रूप प्रत्यक्ष होता है। बर्फ का दुपट्टा बाँधे हुए हिमालय इस समय तो अति सुंदर, अति ऊँचा और गौरवान्वित मालूम होता है; परंतु प्रकृति ने अगणित शताब्दियों के परिश्रम से रेत का एक एक परमाणु समुद्र के जल में डुबो डुबो कर और उनको अपने विचित्र हथौड़े से सुडौल करके इस हिमालय के दर्शन कराए हैं। आचरण भी हिमालय की तरह एक ऊँचे कलश वाला मंदिर है। यह वह आम का पेड़ नहीं जिसको मदारी एक क्षण में, तुम्हारी आँखों में धूल डालकर, अपनी हथेली पर जमा दे। इसके बनने में अनंत काल लगा है। पृथ्वी बन गई, सूर्य बन गया, तारागण आकाश में दौड़ने लगे। परंतु अभी तक आचरण के

सुंदर रूप के पूर्ण दर्शन नहीं हुए। कहीं-कहीं उसको अत्यल्प छटा अवश्य दिखाई देती है।

पुस्तकों में लिखे हुए नुसखों से तो और भी अधिक बदहजमी हो जाती है। सारे वेद और शास्त्र भी यदि घोल कर पी लिए जायँ तो भी आदर्श आचरण की प्राप्ति नहीं होती। आचरण-प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले को तर्क-वितर्क से कुछ भी सहायता नहीं मिलती। शब्द और वाणी तो साधारण जीवन के चोचले हैं। ये आचरण की गुप्त गुहा में नहीं प्रवेश कर सकते। वहाँ इनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। वेद इस देश में रहनेवालों के विश्वासानुसार ब्रह्मवाणी हैं; परंतु इतना काल व्यतीत हो जाने पर भी आज तक वे समस्त जगत् की भिन्न-भिन्न जातियों को संस्कृत भाषा न बुला सके—न समझा सके—न सिखा सके। यह बात हो कैसे? ईश्वर तो सदा मौन है। ईश्वरीय मौन शब्द और भाषा का विषय नहीं। वह केवल आचरण के कान में गुरुमंत्र फूँक सकता है। वह केवल ऋषि के अंतःकरण में वेद का ज्ञानोदय कर सकता है। किसी का आचरण वायु के झोंके से हिल जाय तो हिल जाय, परंतु साहित्य और शब्द की गोलंदाजी और आँधी से उसके सिर के एक बाल तक का बाँका न होना एक साधारण बात है। पुष्प की कोमल पँखड़ी के स्पर्श से किसी को रोमांच हो जाय; जल की शीतलता से क्रोध, विषयवासना शांत हो जायँ; बर्फ के दर्शन से पवित्रता आ जाय; सूर्य की ज्योति से नेत्र खुल जायँ—परंतु अँगरेजी भाषा का व्याख्यान—चाहे वह कारलायल ही का लिखा हुआ क्यों न हो—बनारस में

पंडितों के लिए रामरौला ही है। इसी तरह न्याय और व्याकरण की बारीकियों के विषय में पंडितों के द्वारा की गई चर्चाएँ और शास्त्रार्थ संस्कृत-ज्ञानहीन पुरुषों के लिए स्टीम इंजिन के फप् फप् शब्द से अधिक अर्थ नहीं रखते। यदि आप कहें कि व्याख्यानों द्वारा, उपदेशों द्वारा, धर्मचर्चा द्वारा, कितने ही पुरुषों और नारियों के हृदय पर जीवनव्यापी प्रभाव पड़ा है, तो उत्तर यह है कि प्रभाव शब्द का नहीं पड़ता—प्रभाव तो सदा सदाचरण का पड़ता है। साधारण उपदेश तो हर गिरजे, हर मठ और हर मसजिद में होते हैं, परंतु उनका प्रभाव हम पर तभी पड़ता है जब गिरजे का पादरी स्वयं ईसा होता है, मंदिर का पुजारी स्वयं ब्रह्मर्षि होता है, मसजिद का मुल्ला स्वयं पैगंबर और रसूल होता है।

यदि एक ब्राह्मण किसी डूबती कन्या की रक्षा के लिए, चाहे वह कन्या किसी जाति की हो, किसी मनुष्य की हो, किसी देश की हो—अपने आपको गंगा में फेंक दे—चाहे फिर उसके प्राण यह काम करने में रहें या जायँ तो इस कार्य के प्रेरक आचरण की मौनमयी भाषा किसी देश में, किसी जाति में और किसी काल में, कौन नहीं समझ सकता? प्रेम का आचरण—क्या पशु और क्या मनुष्य—जगत् भर के सभी चराचर आप ही आप समझ लेते हैं। जगत् भर के बच्चों की भाषा इस भाष्यहीन भाषा का चिन्ह है। बालकों के इस शुद्ध मौन का नाद और हास्य भी सब देशों में एक ही सा पाया जाता है।

एक दफे एक राजा जंगल में शिकार खेलते खेलते रास्ता

भूल गया। उसके साथी पीछे रह गए। घोड़ा उसका मर गया। बंदूक हाथ में रह गई। रात का समय आ पहुँचा। देश बर्फानी, रास्ते पहाड़ी। पानी बरस रहा है। रात अँधेरी है, ओले पड़ रहे हैं। ठंडी हवा उसकी हड्डियों तक को हिला रही है। प्रकृति ने, इस घड़ी, इस राजा को अनाथ बालक से भी अधिक सरोसामान से हीन कर दिया। इतने में दूर, एक पहाड़ी की चोटी के नीचे टिमटिमाती हुई बत्ती की लौ दिखाई दी। कई मील तक पहाड़ के ऊँचे-नीचे उतार-चढ़ाव को पार करके थका हुआ—भूखा और सर्दी से ठिठरा हुआ राजा उस बत्ती के पास पहुँचा। यह एक गरीब पहाड़ी किसान की कुटी थी। इसमें किसान, उसकी स्त्री और उसके दो-तीन बच्चे रहते थे। किसान शिकारी राजा को अपनी झोपड़ी में ले गया। आग जलाई। उसके वस्त्र सुखाए। दो मोटी मोटी रोटियाँ और साग उसके आगे रखा। उसने खुद भी खाया और शिकारी को भी खिलाया। ऊन और रीछ के चमड़े के नरम और गरम बिछौने पर उसने शिकारी को सुलाया। अपने बे-बिछौने की भूमि पर सो रहा। धन्य है, हे मनुष्य! तू ईश्वर से क्या कम है? तू भी तो पवित्र और निष्काम रक्षा का कर्त्ता है। तू भी आपन्न जनों का आपत्ति से उद्धार करनेवाला है।

शिकारी कई रूसों का जार ही क्यों न हो, इस समय तो एक रोटी और गरम बिस्तर पर, अग्नि की एक चिनगारी और टूटी छत पर—उसकी सारी राजधानियाँ बिक गईं। अब यदि वह अपना सारा राज्य उस किसान को, उसकी

अमूल्य रक्षा के मोल में, देना चाहे तो भी वह तुच्छ है। अब उस निर्धन और निरक्षर पहाड़ी किसान की दया और उदारता के कर्म के मौन व्याख्यान को देखो। चाहे शिकारी को पता लगे, परंतु राजा के अंतस् के मौन जीवन में उसने ईश्वरीय औदार्य की कलम गाड़ दी। शिकार में अचानक रास्ता भूल जाने के कारण जब इस राजा को ज्ञान का एक परमाणु मिल गया तब कौन कह सकता है कि शिकारी का जीवन अच्छा नहीं। क्या जंगल के ऐसे जीवन में, इसी प्रकार के व्याख्यानों से, मनुष्य का जीवन, शनैः शनैः नया रूप धारण नहीं करता? जिसने शिकारी के जीवन के दुःखों को नहीं सहन किया उसको क्या पता कि ऐसे जीवन की तह में किस प्रकार के और किस मिठास के आचरण का विकास होता है। इसी तरह क्या एक मनुष्य के जीवन में और क्या एक जाति के जीवन में—पवित्रता और अपवित्रता भी जीवन में आचरण को भली भाँति गढ़ती है—और उस पर भली भाँति कुंदन करती है। जगाई और मधाई यदि पक्के लुटेरे न होते तो महाप्रभु चैतन्य के आचरण-संबंधी मौन व्याख्यान को ऐसी दृढ़ता से कैसे ग्रहण करते। नग्न नारी को स्नान करते देख सूरदासजी यदि कृष्णार्पण किए गए अपने हृदय को एक बार फिर उस नारी की सुन्दरता निरखने में न लगाते और उस समय फिर एक बार अपवित्र न होते तो 'सूरसागर' में प्रेम का वह मौन व्याख्यान, आचरण का वह उत्तम आदर्श—कैसे दिखाई देता? कौन कह सकता है कि जीवन की पवित्रता और अपवित्रता के प्रतिद्वंद्वी भाव से संसार के आचरणों में एक अद्भुत पवित्रता का विकास

नहीं होता। यदि मेरी माडलिन वेश्या न होती तो कौन उसे ईसा के पास ले जाता और ईसा के मौन व्याख्यान के प्रभाव से किस तरह आज वह हमारी पूजनीया माता बनती ? कौन कह सकता है कि ध्रुव की सौतेली माता अपनी कठोरता से ही ध्रुव को अटल बनाने में वैसी ही सहायक नहीं हुई जैसी कि स्वयं ध्रुव की माता।

मनुष्य का जीवन इतना विशाल है कि उसके आचरण को रूप देने के लिए नाना प्रकार के ऊँच-नीच, भले-बुरे विचार, अमीरी और गरीबी, उन्नति और अवनति इत्यादि सहायता पहुँचाते हैं। पवित्र अपवित्रता उतनी ही बलवती है, जितनी कि अपवित्र पवित्रता। जो कुछ जगत में हो रहा है वह केवल आचरण के विकास के अर्थ हो रहा है। अंतरात्मा वही काम करती है जो बाह्य पदार्थों के संयोग का प्रतिबिंब होता है। जिनको हम पवित्रात्मा कहते हैं, क्या पता है किन किन कूपों से निकलकर वे अब उदय को प्राप्त हुए हैं ? जिनको हम धर्मात्मा कहते हैं, क्या पता है, किन किन अधर्मों को करके वे धर्म-ज्ञान को पा सके हैं ? जिनको हम सभ्य कहते हैं और जो अपने जीवन में पवित्रता को ही सब कुछ समझते हैं, क्या पता है, वे कुछ काल पूर्व बुरी और अधर्मपूर्ण अपवित्रता में लिप्त रहे हों ? अपने जन्म-जन्मांतरों के संस्कारों से भरी हुई अंधकारमय कोठरी से निकलकर ज्योति और स्वच्छ वायु से परिपूर्ण खुले हुए देश में जब तक अपना आचरण, अपना नेत्र न खोल चुका हो तब तक धर्म के गूढ़ तत्त्व कैसे समझ में आ सकते हैं। नेत्र-रहित को सूर्य से क्या लाभ ? हृदय-रहित को

प्रेम से क्या लाभ ? बहरे को राग से क्या लाभ ? कविता, साहित्य, पीर, पैगंबर, गुरु, आचार्य, ऋषि आदि के उपदेशों से लाभ उठाने का यदि आत्मा में बल नहीं तो उनसे क्या लाभ ? जब तक जीवन का बीज पृथ्वी के मल-मूत्र के ढेर में पड़ा है, अथवा जब तक वह खाद की गरमी से अंकुरित नहीं हुआ और प्रस्फुटित होकर उससे दो नए पत्ते ऊपर नहीं निकल आए, तब तक ज्योति और वायु उसके किस काम के ?

जगत् के अनेक संप्रदाय अनदेखी और अनजानी वस्तुओं का वर्णन करते हैं; पर अपने नेत्र तो अभी माया-पटल से बंद हैं—और धर्मानुभव के लिए मायाजाल में उनका बंद होना आवश्यक भी है। इस कारण मैं उनके अर्थ कैसे जान सकता हूँ ? वे भाव—वे आचरण जो उन आचार्यों के हृदय में थे और जो उनके शब्दों के अंतर्गत मौनावस्था में पड़े हुए हैं, उनके साथ मेरा संबंध, जब तक मेरा भी आचरण उसी प्रकार न हो जाय तब तक, हो ही कैसे सकता है ? ऋषि को तो मौन पदार्थ भी उपदेश दे सकते हैं; टूटे-फूटे शब्द भी अपने अर्थ भासित कर सकते हैं, तुच्छ से भी तुच्छ वस्तु उसकी आँखों में उसी महात्मा का चिह्न है जिसका चिह्न उत्तम उत्तम पदार्थ हैं। राजा में फकीर छिपा है और फकीर में राजा। बड़े से बड़े पंडित में मूर्ख छिपा है और बड़े से बड़े मूर्ख में पंडित। वीर में कायर और कायर में वीर सोता है। पापी में महात्मा और महात्मा में पापी छिपा हुआ है।

यह आचरण, जो धर्म-संप्रदायों के अनुच्चारित शब्दों को

सुनता है, हम में कहाँ ? जब वही नहीं तब फिर क्यों न ये संप्रदाय हमारे मानसिक महाभारतों के कुरुक्षेत्र बनें ? क्यों न अप्रेम, अपवित्रता, हत्या और अत्याचार इन संप्रदायों के नाम से हमारा खून करें ? कोई भी धर्म-संप्रदाय आचरण-रहित पुरुषों के लिए कल्याणकारक नहीं हो सकता और आचरणवाले पुरुषों के लिए सभी धर्म-संप्रदाय कल्याणकारक हैं। सच्चा साधु धर्म को गौरव देता है, धर्म किसी को गौरवान्वित नहीं करता।

आचरण का विकास जीवन का परमोद्देश है। आचरण के विकास के लिए नाना प्रकार की सामग्री का—जो संसार-संभूत शारीरिक, प्राकृतिक, मानसिक और आध्यात्मिक जीवन में वर्तमान है उन सबका—क्या एक पुरुष और क्या एक जाति के आचरण के विकास के साधनों के संबंध में विचार करना होगा। आचरण के विकास के लिए जितने कर्म हैं उन सबको आचरण को संघटित करनेवाले धर्म के अंग मानना पड़ेगा। चाहे कोई कितना बड़ा महात्मा क्यों न हो वह निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि यों ही करो, और किसी तरह नहीं। आचरण की सभ्यता की प्राप्ति के लिए वह सबको एक पथ नहीं बता सकता। आचरण-शील महात्मा स्वयं भी किसी अन्य की बनाई हुई सड़क से नहीं आया, उसने अपनी सड़क स्वयं ही बनाई थी। इसीसे उसके बनाए हुए रास्ते पर चलकर हम भी अपने आचरण को आदर्श के ढाँचे में नहीं ढाल सकते। हमें अपना रास्ता अपने ही जीवन की कुदाली की एक एक चोट से रात-दिन बनाना पड़ेगा। हर किसी को अपने

देश-कालानुसार रामप्राप्ति के लिए अपनी नैया आप ही चलानी पड़ेगी।

यदि मुझे ईश्वर का ज्ञान नहीं तो ऐसे ज्ञान ही से क्या प्रयोजन ? जब तक मैं अपना हथौड़ा ठीक ठीक चलाता हूँ और रूपहीन लोहे को तलवार के रूप में गढ़ लेता हूँ तब तक यदि मुझे ईश्वर का ज्ञान नहीं तो न होने दो। उस ज्ञान से मुझे प्रयोजन ही क्या ? जब तक मैं अपना उद्धार ठीक और शुद्ध रीति से किए जाता हूँ तब तक यदि मुझे आध्यात्मिक पवित्रता का भान नहीं तो न होने दो। उससे सिद्धि ही क्या हो सकती है ? जब तक किसी जहाज के कप्तान के हृदय में इतनी वीरता भरी हुई है कि वह महाभयानक समय में भी अपने जहाज को नहीं छोड़ता तब तक वह मेरी और तेरी दृष्टि में शराबी और स्त्रैण है तो उसे वैसा होने दो। उसकी बुरी बुरी बातों से हमें प्रयोजन ही क्या ? आँधी हो—बरफ हो—बिजली की कड़क हो—समुद्र का तूफान हो—वह दिन-रात आँख खोले अपने जहाज की रक्षा के लिए जहाज के पुल पर घूमता हुआ अपने धर्म का पालन करता है। वह अपने जहाज के साथ समुद्र में डूब जाता है; परंतु अपना जीवन बचाने के लिए कोई उपाय नहीं करता। क्या उसके आचरण का यह अंश मेरे-तेरे बिस्तर और आसन पर बैठे बिठाए कहे हुए निरर्थक शब्दों के भाव से कम महत्व का है ?

न मैं किसी गिरजे में जाता हूँ और न किसी मंदिर में; न मैं नमाज पढ़ता हूँ और न रोजा ही रखता हूँ; न संध्या ही

करता हूँ, न किसी आचार्य के नाम का मुझे पता है और न किसी के आगे मैंने सिर ही झुकाया है। इन सबसे प्रयोजन ही क्या और हानि भी क्या? मैं तो अपनी खेती करता हूँ; अपने हल और बैलों को प्रातःकाल उठकर प्रणाम करता हूँ; मेरा जीवन जंगल के पेड़ों और पक्षियों की संगति में बीतता है; आकाश के बादलों को देखते-देखते मेरा दिन निकल जाता है। मैं किसी को धोखा नहीं देता; हाँ, यदि मुझे कोई धोखा दे तो उससे मेरी कोई हानि नहीं। मेरे खेत में अन्न उग रहा है; मेरा घर अन्न से भरा है; बिस्तर के लिए मुझे एक कमली काफी है; कमर के लिए एक लँगोटी और सिर के लिए एक टोपी बस है। हाथ-पाँव मेरे बलवान हैं; शरीर मेरा निरोग है; भूख खूब लगती है; बाजरा और मकई, छाछ और दही, दूध और मक्खन मुझे और मेरे बच्चों के लिए खाने को मिल जाता है। क्या इस किसान की सादगी और सचाई में वह मिठास नहीं जिसकी प्राप्ति के लिए भिन्न भिन्न धर्म-संप्रदाय लंबी-चौड़ी और चिकनी-चुपड़ी बातों द्वारा दीक्षा दिया करते हैं?

जब साहित्य, संगीत और कला की अति ने रोम को घोड़े से उतारकर मखमल के गद्दों पर लिटा दिया—जब आलस्य और विषय-विकार की लंपटता ने जंगल और पहाड़ की साफ हवा के असभ्य और उद्दण्ड जीवन से रोमवालों का मुख मोड़ दिया तब रोम नरम तकियों और बिस्तरों पर ऐसा सोया कि अब तक न आप जागा और न कोई उसे जगा ही सका। ऐंगलो-सैकसन जाति ने जो उच्च पद प्राप्त किया वह उसने अपने

समुद्र, जंगल और पर्वत से संबंध रखनेवाले जीवन से ही प्राप्त किया। इस जाति की उन्नति लड़ने-भिड़ने, मरने-मारने, लूटने और लूटे जाने, शिकार करने और शिकार होनेवाले जीवन का ही परिणाम है। लोग कहते हैं कि केवल धर्म ही जाति को उन्नत करता है। यह ठीक है, परंतु वह धर्माकुर जो जाति को उन्नत करता है, इस असभ्य, कमीने और पाप-मय जीवन की गंदी राख की ढेर के ऊपर नहीं उगता है। मंदिरों और गिरजों की मंद-मंद टिमटिमाती हुई मोमबत्तियों की रोशनी से यूरोप इस उच्चावस्था को नहीं पहुँचा। वह कठोर जीवन, जिसको देश-देशांतरों को ढूँढ़ते-फिरते रहने के बिना शांति नहीं मिलती, जिसकी अंतर्ज्वाला दूसरी जातियों को जितने, लूटने-मारने और उन पर राज करने के बिना मंद नहीं पड़ती—केवल वही विशाल जीवन समुद्र की छाती पर मूंग दलकर और पहाड़ों को फाँदकर उनको उस महत्ता की ओर ले गया और ले जा रहा है। राबिन हुड की प्रशंसा में इंगलैंड के जो कवि अपनी सारी शक्ति खर्च कर देते हैं उन्हें तत्त्वदर्शी कहना चाहिए; क्योंकि राबिन हुड जैसे भौतिक पदार्थों से ही नेलसन और वेलिंगटन जैसे अँगरेज वीरों की हड्डियाँ तैयार हुई थीं। लड़ाई के आजकल के सामान—गोले, बारूद, जंगी जहाज और तिजारती बेड़ों आदि—को देखकर कहना पड़ता है कि इनसे वर्तमान सभ्यता से भी कहीं अधिक उच्च सभ्यता का जन्म होगा।

यदि यूरोप के समुद्रों में जंगी जहाज मक्खियों की तरह न फैल जाते और यूरोप का घर-घर सोने और हीरे से न भर जाता तो वहाँ पदार्थ-विद्या के सच्चे आचार्य और ऋषि कभी

भी न उत्पन्न होते। पश्चिमीय ज्ञान से मनुष्य मात्र को लाभ हुआ है। ज्ञान का वह सेहरा—बाहरी सभ्यता की अंतर्वर्तिनी आध्यात्मिक सभ्यता का वह मुकुट—जो आज मनुष्य-जाति ने पहन रखा है यूरोप को कदापि न प्राप्त होता, यदि धन और तेज को एकत्र करने के लिए यूरोप-निवासी इतने कमीने न बनते। यदि सारे पूर्वी जगत् ने इस महत्ता के लिए अपनी शक्ति से अधिक भी चंदा देकर सहायता की तो बिगड़ क्या गया? एक तरफ जहाँ यूरोप के जीवन का एक अंश असभ्य प्रतीत होता है—कमीना और कायरता से भरा हुआ मालूम होता है—वहीं दूसरी ओर यूरोप के जीवन का वह भाग, जिसमें विद्या और ज्ञान के ऋषियों का सूर्य चमक रहा है, इतना महान् है कि थोड़े ही समय में पहले अंश को मनुष्य अवश्य ही भूल जायँगे।

धर्म और आध्यात्मिक विद्या के पौधे को ऐसी आरोग्य-वर्धक भूमि देने के लिए, जिससे वह प्रकाश और वायु में खिलता रहे, सदा फूलता रहे, सदा फलता रहे, यह आवश्यक है कि बहुत से हाथ एक अनंत प्रकृति के ढेर को एकत्र करते रहें। धर्म की रक्षा के लिए क्षत्रियों को हमेशा कमर बाँधे हुए सिपाही बने रहने का भी तो यही अर्थ है। यदि कुल समुद्र का जल उड़ा दो तो रेडियम धातु का एक कण कहीं हाथ लगेगा। आचरण का रेडियम—क्या एक पुरुष का, और क्या जाति का, और क्या एक जगत् का—सारी प्रकृति को खाद बनाए बिना, सारी प्रकृति को हवा में उड़ाए बिना, भला कब मिलने का है? प्रकृति को मिथ्या करके नहीं उड़ाना है, उसे उड़ाकर

मिथ्या करना है। समुद्रों में डोरा डालकर अमृत निकालना है। सो भी कितना ? जरा सा ! संसार की खाक छानकर आचरण का स्वर्ण हाथ आता है। क्या बैठे बिठाए ही वह मिल सकता है ?

हिंदुओं का संबंध यदि किसी प्राचीन असभ्य जाति के साथ रहा होता तो उनके वर्तमान वंश में अधिक बलवान श्रेणी के मनुष्य होते—तो उनके भी ऋषि पराक्रमी, जनरल और धीर-वीर पुरुष उत्पन्न होते। आजकल तो वे उपनिषदों के ऋषियों के पवित्रता-मय प्रेम के जीवन को देख-देखकर अहंकार में मग्न हो रहे हैं और दिन पर दिन अधोगति की ओर जा रहे हैं। यदि वे किसी जंगली जाति की संतान होते तो उनमें भी ऋषि और बलवान् योद्धा होते। ऋषियों को पैदा करने के योग्य असभ्य पृथ्वी बन जाना तो आसान है; परंतु ऋषियों को अपनी उन्नति के लिए राख और पृथ्वी बनाना कठिन है, क्योंकि ऋषि तो केवल अनन्त प्रकृति पर सजते हैं; हमारी जैसी पुष्प-शय्या पर मुरझा जाते हैं। माना कि प्राचीन काल में, यूरोप में सभी असभ्य थे, परंतु आजकल तो हम असभ्य हैं। उनकी असभ्यता के ऊपर ऋषि-जीवन की उच्च सभ्यता फूल रही है और हमारे ऋषियों के जीवन के फूल की शय्या पर आजकल असभ्यता का रंग चढ़ा हुआ है। सदा ऋषि पैदा करते रहना, अर्थात् अपनी ऊँची चोटी के ऊपर इन फूलों को सदा धारण करते रहना ही जीवन के नियमों का पालन करना है।

तारागणों को देखते देखते भारतवर्ष अब समुद्र में गिरा

कि गिरा। एक कदम और, और धड़ाम से नीचे ! कारण इसका केवल यही है कि यह अपने अटूट स्वप्न में देखता रहा है और निश्चय करता रहा है कि मैं रोटी के बिना जी सकता हूँ; हवा में पद्मासन जमा सकता हूँ, पृथ्वी से अपना आसन उठा सकता हूँ। योगसिद्धि द्वारा सूर्य और ताराओं के गूढ़ भेदों को जान सकता हूँ, समुद्र की लहरों पर बेखटके सो सकता हूँ। यह इसी प्रकार के स्वप्न देखता रहा, परंतु अब तक न संसार ही की और न राम ही की दृष्टि में ऐसी एक भी बात सत्य सिद्ध हुई। यदि अब भी इसकी निद्रा न खुली तो बेधड़क शंख फूँक दो ! कूच का घड़ियाल बजा दो ! कह दो भारतवासियों का इस असार संसार से कूच हुआ।

लेखक का तात्पर्य केवल यह है कि आचरण केवल मन के स्वप्नों से कभी नहीं बना करता। उसका सिर तो शिलाओं के ऊपर घिस-घिसकर बनता है; उसके फूल तो सूर्य की गरमी और समुद्र के नमकीन पानी से बारंबार भींगकर और सूख-कर अपनी लाली पकड़ते हैं।

हजारों साल से धर्म-पुस्तकें खुली हुई हैं। अभी तक उनसे तुम्हें कुछ विशेष लाभ नहीं हुआ। तो फिर अपने हठ में क्यों मर रहे हो ? अपनी अपनी स्थिति को क्यों नहीं देखते ? अपनी अपनी कुदाली हाथ में लेकर क्यों आगे नहीं बढ़ते ? पीछे मुड़-मुड़कर देखने से क्या लाभ ? अब तो खुले जगत् में अपने अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा छोड़ दो। तुममें से हरएक को अपना अश्वमेध करना है। चलो तो सही। अपने आपकी परीक्षा करो।

धर्म के आचरण की प्राप्ति यदि ऊपरी आडंबरों से होती

तो आजकल भारत-निवासी सूर्य के समान शुद्ध आचरणवाले हो जाते। भाई ! माला से जप नहीं होता। गंगा नहाने से तो तप नहीं होता। पहाड़ों पर चढ़ने से प्राणायाम हुआ करता है; समुद्र में तैरने से नेती धुलती है; आँधी, पानी, और साधारण जीवन के ऊँच-नीच, गरमी-सरदी, गरीबी-अमीरी के झेलने से तप हुआ करता है। आध्यात्मिक धर्म के स्वप्नों की शोभा तभी भली लगती है जब आदमी अपने जीवन का धर्म पालन करे। खुले समुद्र में अपने जहाज में बैठकर ही समुद्र की आध्यात्मिक शोभा का विचार होता है। भूखे को तो चंद्र और सूर्य भी केवल आटे की बड़ी बड़ी दो रोटियाँ से प्रतीत होते हैं। कुटिया में बैठकर ही धूप, आँधी और बर्फ की दिव्य शोभा का आनंद आ सकता है। प्राकृतिक सभ्यता के आने ही पर मानसिक सभ्यता आती है और तभी स्थिर भी रह सकती है। मानसिक सभ्यता के होने पर ही आचरण-सभ्यता की प्राप्ति संभव है, और तभी वह स्थिर भी हो सकती है। जबतक निर्धन पुरुष पाप से अपना पेट भरता है तब तक धनवान् पुरुष के शुद्ध आचरण की पूरी परीक्षा नहीं। इसी प्रकार जब तक अज्ञानी का आचरण अशुद्ध है, तब तक ज्ञानवान् के आचरण की पूरी परीक्षा नहीं—तब तक जगत् में, आचरण की सभ्यता का राज्य नहीं।

आचरण की सभ्यता का देश ही निराला है। उसमें न शारीरिक झगड़े हैं, न मानसिक, न आध्यात्मिक। न उसमें विद्रोह है, न जंग ही का नामो-निशान है और न वहाँ कोई ऊँचा है, न नीचा। न कोई वहाँ धनवान् है और न कोई वहाँ निर्धन। वहाँ तो प्रेम और एकता का अखंड राज्य रहता है।

जिस समय बुद्धदेव ने स्वयं अपने हाथों से हाफिज शीराजी का सीना उलटकर उसे मौन-आचरण का दर्शन कराया उस समय फारस में सारे बौद्धों को निर्वाण के दर्शन हुए और सब के सब आचरण की सभ्यता के देश को प्राप्त हो गए।

जब पैगंबर मुहम्मद ने ब्राह्मण को चीरा और उसके मौन आचरण को नंगा किया तब सारे मुसलमानों को आश्चर्य हुआ कि काफिर में मोमिन किस प्रकार गुप्त था। जब शिव ने अपने हाथ से ईसा के शब्दों को परे फेंककर उसको आत्मा के नंगे दर्शन कराए तब हिन्दू चकित हो गए कि वह नग्न करने अथवा नग्न होनेवाला उनका कौन सा शिव था। हम तो एक दूसरे में छिपे हुए हैं। हरएक पदार्थ को परमाणुओं में परिणत करके उसके प्रत्येक परमाणु में अपने आपको ढूँढ़ना—अपने आपको एकत्र करना—अपने आचरण को प्राप्त करना है। आचरण की प्राप्ति एकता की दशा की प्राप्ति है। चाहे फूलों की शय्या हो चाहे काँटों की; चाहे निर्धन हो चाहे धनवान्; चाहे राजा हो चाहे किसान; चाहे रोगी हो चाहे नीरोग,—हृदय इतना विशाल हो जाता है कि उसमें सारा संसार बिस्तर लगाकर आनंद से आराम कर सकता है, जीवन आकाशवत् हो जाता है और नाना रूप और रंग अपनी अपनी शोभा में बेखटके निर्भय होकर स्थित रह सकते हैं। आचरणवाले नयनों का मौन व्याख्यान केवल यह है—"सब कुछ अच्छा है, सब कुछ भला है।" जिस समय आवरण की सभ्यता संसार में आती है उस समय मनुष्य को वेदध्वनि सुनाई देती है, नर-नारी पुष्पवत् खिलते

जाते हैं, प्रभात हो जाता है, प्रभात का गजर बज जाता है, नारद की वीणा अलापने लगती है, ध्रुव का शंख गूँज उठता है, प्रहलाद का नृत्य होता है, शिव का डमरू बजता है, कृष्ण की बाँसुरी की धुन प्रारंभ हो जाती है। जहाँ ऐसे शब्द होते हैं, जहाँ ऐसे पुरुष रहते हैं, जहाँ ऐसी ज्योति होती है, वहीं आचरण की सभ्यता का सुनहरा देश है। वही देश मनुष्य का स्वदेश है। जब तक घर न पहुँच जाय, सोना अच्छा नहीं; चाहे वेदों में, चाहे इंजील में, चाहे कुरान में, चाहे त्रिपिटक में, चाहे इस स्थान में, चाहे उस स्थान में, कहीं भी सोना अच्छा नहीं। आलस्य मृत्यु है। लेख तो पेड़ों के चित्र सदृश होते हैं, पेड़ तो होते ही नहीं जो फल लावें। लेखक ने यह चित्र इसलिए अंकित किया है कि इस चित्र को देखकर शायद कोई असली पेड़ को जाकर देखने का यत्न करे।

हिंदी-लिंग-विचार

(लेखक—श्री जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी)

[पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी हिंदी के प्रसिद्ध और ख्यातनामा लेखकों में हैं। आपका अध्ययन अत्यंत विषद और अभिव्यंजना अत्यन्त सरल है। आपने कई विषयों पर सुंदर सुंदर लेख लिखे हैं।

हिंदी के 'लिंग' (Gender) का विचार बहुत ही विद्वत्तापूर्ण शैली में किया गया है। महाभाष्यकार पतंजलि ने स्पष्ट कह दिया है कि 'लिंगं तु लोकसंश्रयात्' अर्थात् लिंग का निर्णय लोकव्यवहार से ही होता है। कोई शब्द क्यों पुंलिंग है क्यों स्त्रीलिंग, इस 'क्यों' के फेर में न पड़कर भाषा के व्यवहार का ध्यान रखना चाहिए। इसी से 'क्यों' का उत्तर भी मिल जायगा। कुछ अपवादों के होते हुए भी हिंदी में लिंग-भेद किसी निश्चित नियम के अनुसार ही होता है। पूरबी और पछाहीं लेखकों के कारण बहुत से शब्द दो-दो लिंगों में चलते हैं। ऐसा होना ठीक नहीं। हिंदी भाषा भी सीखने और पढ़ने से आती है। किसी विशेष प्रदेश का आग्रह त्याग देना होगा। दूसरी भाषाओं से आनेवाले शब्दों में भी पूरब और पछाहं के भेद से लिंग-भेद है। बर्फ, मोटर, नोटिस पश्चिम में पुंलिंग बोले जाते हैं पर पूरब में स्त्रीलिंग। लेखकों को मनमानी न करके व्यवहार पर ही विचार रखना चाहिए और खड़ी बोली जहाँ की भाषा है वहाँ जिस लिंग में शब्दप्रयोग हो उसी को ग्रहण करना चाहिए]

संस्कृत-व्याकरण का लिंग-प्रकरण जैसा कठिन और जटिल है वैसा हिंदी-व्याकरण का नहीं। पत्नी-वाचक होकर भी 'कलत्र' शब्द संस्कृत में क्लीबलिंग और 'दार' शब्द पुंलिंग है।

समस्त संसार का स्रष्टा होकर भी ब्रह्म नपुंसक है। यह सरासर असंभव और अस्वाभाविक है। आनंद की बात है, हमारी प्यारी हिंदी में ऐसी बेढंगी बातें नहीं। यहाँ पुरुष पुरुष और स्त्री स्त्री ही रहती है। लिंग-विपर्यय नहीं होता।

संस्कृत में तीन लिंग हैं—पुंलिंग, स्त्रीलिंग और क्लीवलिंग। संस्कृत से निकली हुई भाषाओं का विचित्र हाल है। किसी में तीन लिंग, किसी में दो और किसी में एक भी नहीं, जैसे गुजराती-मराठी में तीन हैं। बँगला और उड़िया भाषाओं में संस्कृत-तत्सम शब्द संस्कृत के अनुसार उन्हीं तीन लिंगों में विभक्त हैं, पर ठेठ बँगला और उड़िया शब्द लिंग-रहित हैं। पंजाबी और सिंधी की तरह हिंदी में भी दो ही लिंग हैं। यहाँ स्त्री या पुरुष के सिवा कोई नपुंसक नहीं। अगर कुछ गड़बड़ भी है तो चील-कौओं में। क्योंकि हिंदी में कौआ नित्य पुंलिंग और चील नित्य स्त्रीलिंग है। पर तो भी कुछ लोग हिंदी के लिंग-प्रकरण पर कुठाराघात करने के लिए तुले बैठे हैं। अगर इनकी चलती तो बँगला की तरह हिंदी के लिंग का भी आज तक सफ़ाया हो जाता। पर भगवान् गंजे को नाखून ही नहीं देता।

लिंग-विरोधियों का कहना है कि हिंदी का लिंग-भेद बड़ा कठिन है। और भाषाओं में तो संज्ञा-सर्वनाम में लिंग होता है; पर हिंदी की क्रिया भी लिंग से खाली नहीं। इससे भिन्न भाषा-भाषी ही नहीं, हिंदी-भाषा-भाषी भी हैरान हैं। बहुत सावधान रहने पर भी वे लिंग की भूलों से नहीं बच सकते, क्योंकि हिंदी में सजीवों की कौन कहे, निर्जीव भी स्त्रीलिंग-पुंलिंग के फेर में पड़े हैं। इसलिए जहाँ तक बने, जल्द इस बला को हिंदी से दूर

करना चाहिए, क्योंकि हिंदी के राष्ट्रभाषा होने में लिंग बड़ी भारी बाधा डाल रहे हैं। इत्यादि।

एक ग्रंथ में लिखा है—"हिंदी में सबसे बड़ा झगड़ा लिंग-भेद का है। इसके कोई भी स्थिर नियम नहीं हैं, केवल बोल-चाल और महावरे के अनुसार इस पर काररवाई की जाती है।" यदि कोई भिन्न भाषा-भाषी या विदेशी ऐसी बात कहता तो आश्चर्य न होता, पर ऐसा वह कहते हैं जो हिंदी के सुलेखक और सुकवि भी कहाते हैं। इनके मुँह से यह सुनकर कि हिंदी के कोई स्थिर नियम नहीं, आश्चर्य ही नहीं, कौतूहल भी होता है। स्थिर नियम है या नहीं, यह कुछ न कह केलॉग साहब क्या कहते हैं, केवल वही यहाँ उद्धृत कर देता हूँ। केलॉग साहब ने अँगरेजों के लिए हिंदी का व्याकरण बनाया है। उसमें वह कहते हैं—

"हिंदी-शब्दों का लिंग यद्यपि मनमाने तौर से बना लिया गया है तथापि कुछ नियम हैं, जिनसे अधिकांश शब्दों का लिंग जाना जा सकता है।" बस, इन्हीं दोनों उक्तियों को आप मिलाकर देख लें, और जो कुछ समझना हो समझ लें। एक तो हिंदी-भाषा-भाषी हैं और दूसरे भिन्न भाषा-भाषी विदेशी। पहले सज्जन कहते हैं कि स्थिर नियम नहीं हैं और दूसरे कहते हैं। कि हैं मैं समझता हूँ कि आप लोग पहले सज्जन की ही बात मानेंगे, क्योंकि वह हिंदी के सुपुत्र हैं। उनकी ही बात सत्य हो सकती है। पर अफसोस! बात उल्टी निकली। केलॉग साहब ने कुछ नियम बताए हैं, जिनमें पहला यह है—अर्थ और प्रत्यय के अनुसार लिंग होता है। और बात भी यही

है। पर जो यह नियम नहीं जानते वे लिंग-विपर्यय करते और कहते हैं कि हिंदी में स्थिर नियम ही नहीं है। खैर, नियम है कि जिन शब्दों में 'हट', 'वट' आदि प्रत्यय हों वे स्त्रीलिंग होते हैं, जैसे बनावट, चिल्लाहट आदि। कुछ लोगों ने भ्रम-वश 'बुलाहट' और 'बनावट' के वजन पर 'झंझट' को भी सारी पहना एक नया झंझट खड़ा कर दिया। 'झंझट' में 'हट' 'वट' कोई प्रत्यय नहीं। यह स्वतंत्र शब्द है। फिर यह कैसे स्त्रीलिंग हो गया, इसका विचार कोई नहीं करता। सभी 'गड्डलिका-प्रवाह' न्याय से चले जाते हैं। अगर सोचें-विचारें तो ऐसी भद्दी भूलें ही न हों। शिष्ट प्रयोग की तरफ जाइए, तो वहाँ भी झंझट आपको पुरुष-वेष में ही मिलेगा।

हिंदी के प्रसिद्ध कवि और लेखक स्वर्गवासी पंडित प्रताप-नारायण मिश्र 'मन की लहर' में कहते हैं—

"मिला रहे अपने प्यारे से नशे में उसके चूर रहे;
जी चाहे सो करे और सारे झंझट से दूर रहे।"

'भारतमित्र' के भूतपूर्व संपादक स्वर्गवासी बाबू बालमुकुन्द गुप्त दिल्ली-प्रांत के वासी थे। उन्हें इस विषय का मैं प्रमाण मानता हूँ। वह 'झंझट' को सदा पुंलिंग ही मानते थे। इसका प्रमाण 'गुप्त-निबंधावली' में है। उसमें लिखा है—"न मार्ग चलते भीड़ में रुकने का झंझट।" जोधपुर निवासी प्रसिद्ध इतिहासज्ञ मुंशी देवीप्रसादजी मुंसिफ 'बहराम बहरोज' नाम की हिंदी-पुस्तिका में लिखते हैं—"बहरोज ने यह खबर सुनकर अपने बाप और चचा से कहा कि मैं तो विवाह करके बड़े झंझट में पड़ गया।" 'सतसई-संहार' वाले श्रीयुत

पंडित पद्मसिंह शर्मा संस्कृत-हिंदी के अच्छे विद्वान् और फारसी-उर्दू के आलिम हैं। उनसे पूछा, तो वह लिखते हैं—"झंझट के झगड़े में आपकी सर्वतोमुखी जीत हुई। उर्दू के कोशकार फरहंगे-आसफिया के लेखक देहलवी और जलाल तथा जलील लखनवी इसे मुजक्कर (पुंलिंग) ही मानते हैं।" पद्मसिंहजी सिर्फ राय ही नहीं देते, पुंलिंग में इसका प्रयोग भी करते हैं। अपने पत्र में आप लिखते हैं—"अब आपको गृहस्थ के झंझटों का अधिक सामना करना पड़ेगा।" इसलिए झंझट के पुंलिंग होने में अब झगड़ा या झंझट न होना चाहिए।

झंझट के बाद 'आहट' है। इसकी भी खूब खींचा-तानी है। इसमें 'हट' प्रत्यय नहीं, तो भी इसका प्रयोग स्त्रीलिंग-सा है। स्वर्गवासी राजा लक्ष्मणसिंह हिंदी के उन्नायकों में से हैं। वह आगरे के निवासी थे। इससे उनके प्रयोग प्रमाण-स्वरूप हैं। राजा साहब के बनाए 'अभिज्ञान शाकुंतल' नाटक की दो प्रतियाँ मेरे सामने हैं। एक तो आगरे के मून-प्रेस की सन् १९०४ की छपी है और दूसरी सन् १९०८ ई० की है, जो प्रयाग के इंडियन प्रेस में छपी है। इन दोनों में बड़ा भारी लिंगभेद है। अब मैं किसे प्रमाण मानूँ, यह समझ में नहीं आता।

आगरेवाली प्रति के दसवें पन्ने की टिप्पणी में लिखा है—"हमारा आहट पाकर कुछ भी नहीं चौंकते।" और प्रयागवाली के चौथे पृष्ठ में है—"हमारी आहट पाकर कुछ भी नहीं चौंके।" शायद यह छापाखाने के भूतों की लीला हो। इसलिए लिंग-परिवर्तन का दूसरा उदाहरण लीजिए। आगरेवाली प्रति

के १२६ वें पन्ने में माढव्य की यह उक्ति है—"जहाँ मणि-जटित पटिया बिछी है यही माधवी कुञ्ज है। निस्संदेह यह ऐसी दीखती है, मानो मनोहर फूलों की भेंट लिए हमें आदर देती है। चलो, यहीं बैठें।" यहाँ 'कुंज' शब्द की ओर आप लोगों का ध्यान आकृष्ट करता हूँ। इसे राजा साहब ने स्त्रीलिंग में प्रयोग किया है। अब दूसरी प्रति खोलिए। उसके ७८वें पन्ने में वही माढव्य कहता है—"यह माधवी कुंज, जिसमें मणि-जटित पटिया बिछी है, यद्यपि निर्जीव है तो भी ऐसा दिखाई देता है, मानो आपका आदर करता है। आओ, चलकर बैठें।"

अच्छा, 'आहट' सुन अभी मत चौंकिए। आइए 'कुंज' की ओर। देखिए, यहाँ क्या गुल खिलते हैं। चतुर्थ संमेलन के सभापति, हिंदी के सुप्रसिद्ध कवि पं० श्रीधर पाठक भी आगरा-वासी हैं। वह अपने 'ऊजड़ गाँव' में कहते हैं—

"प्यारी-प्यारी वे मलूक हरियाली कुंजें।
सोभा-छवि-आनंद-भरी सब सुख की पुंजें।"

'जगत-सचाई-सार' में भी पाठकजी ने 'कुंज' को स्त्रीलिंग लिखा है। यथा—

"ये नदियाँ, ये झील-सरोवर, कमलों पर भौंरों की गुंज;
बड़े सुरीले बोलों से अनमोल, घनी वृक्षों की कुंज।"

इससे सिद्ध होता है कि आगरे की ओर 'कुंज' शब्द स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होता है और काशी-प्रयाग में पुंलिंग। शायद इसी से संपादक ने 'कुंज' और 'आहट' का लिंग-परिवर्तन कर राजा साहब की इसलाह कर दी है।

कुछ लोग 'गेंद' को पुँलिंग लिखते हैं; पर यह स्त्रीलिंग है। यथा—

"स्याम मोहिं चोरी लगाई।
खेलत गेंद गिरी जमुना में, तू मेरी गेंद छिपाई।"

उर्दूवाले भी गेंद को स्त्रीलिंग ही मानते हैं। जैसे—

"हाथ में गेंद उठा तुमने उछाली बेढब।"

इसी तरह 'आत्मा' के स्त्रीलिंग होने का प्रमाण भी दादू-दयाल की विनती में मिलता है—

"तन-मन निर्मल आत्मा, सब काहू की होय,
दादू विषय-विकार की बात न बूझे कोय।"

अब तीसरा नियम लीजिए। 'इया' प्रत्ययांत-शब्द स्त्रीलिंग होते हैं। यथा—चिड़िया, फुड़िया आदि। अब वजन पर लिंग बनानेवालों ने 'चिड़िया' के वजन पर 'तकिया' और 'पहिया' को भी स्त्रीलिंग बना डाला, हालाँकि इनमें 'इया' प्रत्यय नहीं है। स्वर्गवासी पंडित केशवराम भट्ट ने अपने व्याकरण में साफ लिखा है—"आकारांत संज्ञाएँ पुलिंग होती हैं। जैसे—तकिया, पहिया आदि।" मैं समझता हूँ, लिंग-प्रकरण के स्थिर नियम सिद्ध करने के लिए ये उदाहरण अलम् होंगे।

एक लेखक कहते हैं—"जहाँ तक कोई नपुंसक लिंग वाला प्रयोग स्पष्ट और निर्विवाद रूप से अशुद्ध न ठहर जावे वहाँ तक उसमें लिंग-भेद-विषयक अशुद्धियाँ स्थापित न करनी चाहिए, क्योंकि वास्तव में निर्जीव पदार्थ न पुंलिंग हैं और न स्त्रीलिंग।" वास्तव में बात ऐसी ही है। कोई समझदार इसका खंडन न करेगा। निर्जीव पदार्थ न पुंलिंग हैं, न स्त्रीलिंग

और न नपुँसक ही हैं। उन्हें किसी लिंग में मान लेना सच-मुच सरासर अन्याय है। पर लाचारी है। यह हमारा आपका शरीर वास्तव में नाशवान् है—यह जगत् वास्तव में अनित्य और असत्य है, पर तो भी हम संसार के सब काम करते ही हैं।

जो अँगरेजी-भाषा आजकल गंगाजल से धोई-पखारी बड़ी पवित्र समझी जाती है, वह भी इसका शौक करती है। अँगरेजी में जहाज (Ship), चंद्रमा (Moon), रेलगाड़ी (Train) और देश (Country) आदि शब्द स्त्रीलिंग हैं, और सूर्य पुंलिंग है। क्यों ? क्या यह सजीव हैं ? हम हिंदू तो सूर्य-चंद्र को भला सजीव मानते भी हैं, पर योरपवाले नहीं मानते। फिर सूर्य पुरुष और चंद्रमा नारी क्यों ? अँगरेजी के असीम अनुग्रह से ही हमारा प्यारा भारतवर्ष आज भारतमाता बन गया है।

अप्राणिवाचक शब्दों का लिंग-निर्माण उनके गुणानुसार होता है। मधुरता, कोमलता, मनोहरता, सुकुमारता, निकृष्टता, हीनता, लघुता, दुर्बलता आदि गुणवाली वस्तुएँ स्त्रीलिंग और कठोरता, उग्रता, दृढ़ता, सहनशीलता, उत्कृष्टता आदि गुणवाले पदार्थ पुंलिंग कहलाते हैं।

मेरे इस कथन की पुष्टि 'भारतमित्र' संपादक पं० अंबिका-प्रसाद वाजपेयी-कृत 'हिंदी-कौमुदी' नामक व्याकरण से होती है, जिसमें लिखा है—"अप्राणिवाचक शब्दों के स्त्रीलिंग से हीनता या छुटाई का भाव निकलता है।"

पर अँगरेजी की गवाही बिना आजकल पक्ष पुष्ट नहीं होता। इसलिए ढूँढ़-ढाँढ़कर अँगरेज गवाह लाया हूँ। अँगरेज

भी कैसा ? खासा सिविलियन। इनका नाम है मिस्टर जॉन बीम्स, यह अपने कंपरेटिव ग्रामर 'तुलनात्मक व्याकरण' में कहते हैं—बड़ी, मजबूत, भारी और मोटी चीजें पुंलिंग; छोटी, कमजोर, हलकी तथा पतली चीजें स्त्रीलिंग, और सुस्त, ढीली तथा तुच्छ वस्तुएँ क्लीबलिंग समझी जाती हैं। आनंद की बात है, हिंदी में क्लीबता को स्थान नहीं मिला। इसलिए इस बारे में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं।

हिंदी के राष्ट्रभाषा होने में लिंग बाधा डालते हैं या नहीं, यह अभी विचारणीय नहीं है। अभी तो यह विचारना है कि लिंग के प्रयोग में इतनी विभिन्नता क्यों है और उसके सुधार का क्या उपाय है ? साथ ही यह भी निवेदन कर देना अनुचित न होगा कि मैं अंग-भंग कर हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के पक्ष में नहीं—"वा सोने को बारिए, जासों टूटे कान।" मैं वैसा सोना नहीं चाहता जिससे कान टूटें। मैं हिंदी की वैसी उन्नति नहीं चाहता जिससे उसकी स्वाभाविकता नष्ट हो ! इसके सिवा हिंदी अपनी सरलता और व्यापकता के कारण स्वयं ही राष्ट्रभाषा बन गई है और बनती चली जा रही है।

बाकी रही लिंग के प्रयोग की कठिनता, वह शिक्षा और अभ्यास से दूर हो सकती है। अँगरेजी-जैसी कठिन और दुरूह भाषा हम सीख लेते हैं, जिसमें अक्षरों का अभाव, वर्ण-विन्यास का व्यतिक्रम और उच्चारण की उच्छृंखलता है। नियम का तो वहाँ नियम ही नहीं है। लिखा जाय प्सालम (Psalm) और पढ़ा जाय 'साम'। ऐसे ही देअर (There) और हीअर (Here)। सर्किल (Circle) में 'सी' क और स दोनों का काम करती है।

इसके सिवा जहाँ रनिंग वाटर (Running Water) माने बहता पानी और वाकिंग स्टिक (walking stick) माने 'टहलती हुई छड़ी' न होकर 'टहलने की छड़ी' होता है वहाँ के गड़बड़झाले का क्या ठिकाना है। जब इस भाषा को हम केवल सीख ही नहीं, अँगरेजों की तरह ठीक बोल और लिखकर गौरव प्राप्त कर सकते हैं तो हिंदी का लिंग-ज्ञान कौन बड़ी बात है! आख़िर यह भारत की भाषा है और संस्कृत से निकली है। इसके सीखने में देर न लगेगी। जरा ध्यान देने से ही हिंदी का लिंग-प्रकरण सहज हो जायगा।

हिंदी के लिंग पर लोगों की इतनी कड़ी नजर क्यों है? इसलिए कि कुछ पंडिताभिमानी अहंमन्य लेखकों ने इसका दुरुपयोग किया है और कर रहे हैं। मनमाने तौर से लिंग का प्रयोग हो रहा है। इसका कारण हिंदी-शिक्षा और समालोचना का अभाव है। अगर सीखकर लोग हिंदी लिखें तो ऐसी गड़बड़ न हो। कोई तो अँगरेजी के सहारे हिंदी का सुलेखक बन जाता है और कोई संस्कृत के। कुछ करीमा-मामकीमा पढ़कर और कुछ बिना पढ़े ही हिंदी के सुलेखक तथा सुकवि बन बैठते हैं। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि ये लोग हिंदी न लिखें। जरूर लिखें। मैं इसके लिए इनसे विनीत प्रार्थना करता हूँ। पर सीखकर लिखें। यदि सीखकर लिखते तो हिंदी के लिंग की आज यह दुर्दशा न होती। हमारे संस्कृत के पंडितजी महाराज 'आत्मा' को कभी साड़ी न पहनाएँगे, क्योंकि उसके सिर पर संस्कृत-प्रणाली से पगड़ बाँधते आए हैं। लाख समझाने पर भी वह अपना अभ्यास न छोड़ेंगे। हिंदीवाले तो 'आत्मा' को

स्त्रीलिंग लिखेंगे, पर पंडितजी 'आत्मा' को स्त्रीलिंग बनाना अपनी आत्मा के विरुद्ध मानते हैं। इसी तरह 'स्वाहा' के रहते पंडितजी 'अग्नि' को कभी स्त्रीलिंग न मानेंगे और न 'देवता' को वह पुंलिंग ही; क्योंकि संस्कृत में 'अग्नि' पुंलिंग, और 'देवता' स्त्रीलिंग है। इसी तरह वायु, महिमा, अंजलि, तान, शपथ, धातु, देह, जय, मृत्यु, संतान, समाज, ऋतु, राशि, विधि आदि शब्दों में झगड़ा है, क्योंकि संस्कृत में ये पुंलिंग हैं, पर हिंदी में स्त्रीलिंग। हिंदी लिखने के समय इनका प्रयोग हिंदी के अनुसार ही होना उचित है।

अब उर्दूवालों की लीला सुनिए। वे 'धरमसाले' में 'पाठ-साले' का 'चर्चा' कर 'मोहनमाले' से अपना 'मान-मर्यादा' बढ़ाते हैं, पर हिंदीवाले ऐसा नहीं करते। वे बहुत करेंगे तो अपनी 'कबीला' की 'हुलिया' अपनी 'तायफा' को बता 'उम्दी धोती' न दे 'बेहूदी बातें' बक 'ताजी खबरें' सुनाएँगे। कहने का तात्पर्य यह कि हिंदी में धर्मशाला, पाठशाला, चर्चा, माला, मर्यादा आदि शब्द स्त्रीलिंग हैं, पर उर्दूवालों ने इन्हें पुंलिंग बना दिया है। इसी तरह कबीला, हुलिया, तायफा पुंलिंग हैं, पर हिंदी के रँगरूटों ने इन्हें स्त्रीलिंग कर डाला है। उम्दा, बेहूदा, ताजा वगैरह लफ्ज स्त्रीलिंग के लिए कभी उम्दी, बेहूदी, ताजी नहीं बनते। इनका रूप सदा एक-सा रहता है।

हिंदी के लिंग-विभाग पर प्रायः सभी प्रांतवाले कुछ-न-कुछ अत्याचार करते हैं, पर बदनाम हैं बेचारे बिहारी-बंधु ही। इसका कारण समझ में न आया। अगर बिहार में 'हाथी विहार करती है' तो पंजाब से 'तारें आती' हैं, और युक्तप्रांत

के काशी-प्रयाग में लोग 'अच्छो शिकारें मारकर लंबी सलामें' करते हैं। अगर बिहार में 'दही खट्टी' होती है तो मारवाड़ में 'बुखार चढ़ती है', 'जनेऊ उतरता' है; और कानपुर में 'बूँद गिरता' और 'रामायण पढ़ा जाता' है। बिहार में 'हवा चलता' है, तो झालरापाटन में 'नाक कटता है' और मुरादाबाद में 'गोलमाल मचती' है। फिर बिहार ही क्यों बदनाम है ?

कुछ गड़बड़ कोषकारों ने भी की है। पादड़ी क्रेवन अपनी 'रॉयल डिक्शनरी' में 'अफवाह' और 'भूख' को पुंलिंग लिखते हैं। अँगरेजों की बात जाने दीजिए। हमारे हिंदीवाले भी 'तथैव च' हैं। किसी ने संस्कृत-लिंग का सहारा लिया और किसी ने उर्दू-फारसी का। कुछ ने तो दोनों की खिचड़ी पकाई है। हिंदी का माननीय कोष एक भी नहीं, जिसके भरोसे हिंदी का लिंग ठीक हो सके।

सबसे बढ़कर हैं वजन पर लिंग बनानेवाले। उनका कहना है कि जब 'बंदूक' स्त्रीलिंग है, तो 'संदूक' को भी स्त्रीलिंग होना चाहिए, क्योंकि इन दोनों का वजन याने तुक एक है। इसी तरह मकान के वजन पर दूकान को पुंलिंग या दूकान के वजन पर मकान को स्त्रीलिंग होना चाहिए।

हिंदी के सुलेखक कहलानेवाले एक सज्जन ने संदूक को दोनों लिंगों में व्यवहार किया था। मैंने इसका कारण पूछा तो बोले– "जिस समय बड़े संदूक का खयाल आ गया, पुंलिंग लिखा और छोटे संदूक का खयाल आया तो स्त्रीलिंग लिखा।" यह माकूल जवाब सुन मैं चुप हो रहा और कुछ पूछने की हिम्मत न पड़ी।

समास और संधि-युक्त पदों के लिंग में भी लोग गड़बड़ करने लगे हैं। ऐसे स्थानों में उत्तर शब्द के अनुसार ही समस्त पद का लिंग होता है। जैसे—इच्छानुसार, ईश्वरेच्छा। यहाँ 'अनुसार' अंत में है, इसलिए 'इच्छा' के रहते भी इच्छानुसार पुंलिंग है और ईश्वरेच्छा में 'इच्छा' अंत में है, इसलिए यह स्त्रीलिंग है। इसी नियम के अनुसार चाल-चलन और चाल-व्योहार भी पुंलिंग हैं, पर केलॉग साहब ने इन्हें स्त्रीलिंग बताया है। यह उनकी भूल है।

'भली भाँति' की जगह 'भली प्रकार' और 'अच्छी तरह' की जगह 'अच्छो तौर' से लिखने की चाल चली है, पर यह तौर अच्छा नहीं और न प्रकार ही भला है।

संस्कृत के कुछ प्रेमी हिंदी में भी अपने संस्कृत-प्रेम का परिचय दे हिंदी को असंस्कृत कर रहे हैं। वे 'शृंगार-संबंधिनी चेष्टा' 'उपयोगिनी पुस्तकें', 'कार्यकारिणी सरकार', 'परोपकारिणी वृत्ति', 'प्रभावशालिनी वक्तृता' 'मनोहारिणी कविता' ही नहीं, प्रबला स्त्री' का भी प्रयोग करने लगे हैं। अब 'भविष्यत् पत्नी' और 'भावी पत्नी' के स्थान पर 'भविष्यंती पत्नी' और 'भाविनी पत्नी' के भी दर्शन होंगे। फिर 'सुंदरा कन्या' 'पवित्रा पाठशाला' में 'विदुषी व्यक्तियों' से 'संस्कृता भाषा' पढ़ेगी। इधर 'स्थायी समिति' 'अभागी हिंदी' की 'शोचनीय स्थिति' देख 'स्वतंत्रता-वादी महिला' की भाँति 'प्रभावशाली देवता' से प्रार्थना कर रही है। इससे हिंदी बोलनेवाली व्यक्तियाँ, हस्तिनी शंखिनी के साथ कहीं 'कुलिनी', 'पुरुषिनी' न बन जायँ।

भ्रम, भूल, हठ, दुराग्रह, प्रांतीयता चाहे जिस कारण से हो,

हिंदी में उभयलिंग शब्दों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जाती है। यह हिंदी के लिए हानिकारक है। यदि यही दशा रही तो अनर्गलता बढ़ जायगी। इसलिए मेरी राय है कि एक समिति बना ली जाय जो समाज, पुस्तक, साँस, आत्मा, हठ, सामर्थ्य, प्रलय, यज्ञ, पीतल, कुशल आदि शब्दों का लिंग-निर्णय कर दे, और वही शुद्ध माना जाय।

प्रांतीयता का प्रेम छोड़कर दिल्ली-मथुरा-आगरे के प्रयोगों का अनुकरण सबको करना चाहिए, क्योंकि मेरी समझ से यहीं के प्रयोग शुद्ध और माननीय हैं। और प्रांतों के प्रयोग इनके प्रयोग के सामने कट जायँगे, क्योंकि हिंदी की जन्मभूमि यहीं है, और यहीं के निवासी अहलेजबाँ हैं। दिल्ली, मथुरा, आगरा इन तीनों में मत-भेद हो, तो आगरे को प्रधानता देनी चाहिए, क्योंकि हिंदी के प्राचीन और नवीन कवि अधिकांश आगरे या आगरे के आस-पास हुए हैं। शुद्ध अँगरेजी सीखने के लिए जैसे हम अँगरेजों के बनाए ग्रंथ पढ़ते और उनके मुँह की ओर देखा करते हैं, वैसे ही शुद्ध लिंगप्रयोग सीखनेवालों को दिल्ली-आगरा-मथुरावालों के मुँह की ओर देखना चाहिए, और प्राचीन कवि और लेखकों के ग्रंथ पढ़ने चाहिए। लिंग-सुधार का यही अच्छा और सरल उपाय है।

कबीर

(लेखक—श्री पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी)

[भक्तिकालीन साहित्य के मर्मज्ञ पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी का आविर्भाव बलिया जिले के एक गाँव में हुआ। आपका प्रारम्भिक अध्ययन संस्कृत में, विशेषतः ज्यौतिष शास्त्र में हुआ। कुछ दिनों तक काशी विश्वविद्यालय में रहकर ये कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठक्कुर की विश्वभारती नामक संस्था में अध्यापन करने चले गये और अभी तक वहीं विराजमान हैं। इन्होंने कबीर, सूर, तुलसी विद्यापति, चण्डीदास प्रभृति हिन्दी और बँगला के सभी भक्त कवियों का मार्मिक दृष्टि से गम्भीर अध्ययन किया है। अंग्रेजी तथा संस्कृत के अन्तस्तल में इनका प्रवेश है। इसलिए इनकी आलोचना में तुलनात्मक प्रवृत्ति अत्यन्त सजीव रूप में पाई जाती है। इनकी आलोचना पद्धति अत्यन्त मौलिक है, अतः अत्यन्त आकर्षक है। सूर-सुषमा, हिन्दी साहित्य की भूमिका, सन्त कबीर, वाण की आत्मकथा प्रभृति उच्चकोटि के साहित्यिक ग्रन्थों का प्रणयन इनकी लेखनी द्वारा हुआ है। अनुसन्धानविषयक लेख बहुधा 'विशालभारत' सरीखे प्रमुख मासिक पत्रों में निकला करते हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र की सन्निधि में रहकर इन्होंने साहित्य की आलोचना के लिए उदार अन्तर्दृष्टि पाई है। इसीलिए इनकी आलोचना सहानुभूति से भरी हुई होती है। इसके अतिरिक्त उनमें व्यक्तिगत छाप भी रहती है।

इनकी भाषा अत्यन्त प्राञ्जल, मृदुल, भावप्रवण और साथ ही साथ सुबोध होती है। बँगला के अध्ययन के स्वाभाविक परिणाम-वश उसमें कुछ संस्कृत की कान्त समस्तपदावली का भी सन्निवेश हुआ है। संस्कृत के केवल उन्हीं तत्सम शब्दों को द्विवेदीजी ने अपनाया है जो टकसाली हैं।

अलङ्कारों की भी प्रचुरता है। भावाभिव्यंजन के लिए तद्भव शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। इन सब बातों से शैली अत्यन्त मनमोहक बन गई है।]

कबीर धर्म-गुरु थे। इसलिये उनकी वाणियों का आध्यात्मिक रस ही आस्वाद्य होना चाहिये, परन्तु, विद्वानों ने नाना रूप में उन वाणियों का अध्ययन और उपयोग किया है। काव्य-रूप में उसे आस्वादन करने की तो प्रथा ही चल पड़ी है, समाज-सुधार के रूप में, सर्व-धर्म-समन्वयकारी के रूप में, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य-विधायक के रूप में, विशेष सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता के रूप में और वेदान्त-व्याख्याता दार्शनिक के रूप में भी उनकी चर्चा कम नहीं हुई है। यों तो 'हरि अनन्त हरि-कथा अनन्ता, विविध भाँति गावहिं श्रुति-सन्ता' के अनुसार कबीर-कथित हरि-कथा का विविध रूप में उपयोग होना स्वाभाविक ही है, पर कभी कभी उत्साह-परायण विद्वान् गलती से कबीर को इन्हीं रूपों में से किसी एक का प्रतिनिधि समझ कर ऐसी ऐसी बातें करने लगते हैं, जो असंगत कही जा सकती हैं।

भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर (विधायक) थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है,—बन गया है तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नजर आती है। उसमें मानों ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके, और अकहकहानी को

रूप देकर मनोग्राही बना देने की तो जैसी ताकत कबीर की भाषा में है वैसी बहुत कम लेखकों में पाई जाती है। असीम-अनन्त ब्रह्मानंद में आत्मा का साक्षीभूत होकर मिलना कुछ वाणी के अगोचर,—पकड़ में न आ सकनेवाली ही, बात है।

पर 'बेहद्दी मैदान में रहा कबीरा सोय' में न केवल उस गंभीर निगूढ़ तत्त्व को मूर्तिमान् कर दिया गया है बल्कि अपनी फक्कड़ाना प्रकृति की मुहर भी मार दी गयी है। वाणी के ऐसे बादशाह को साहित्य-रसिक काव्यानंद का रसास्वाद करानेवाला समझें तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। फिर व्यंग करने में और चुटकी लेने में भी कबीर अपना प्रतिद्वंद्वी नहीं जानते। पंडित और काजी, अवधू और जोगिया, मुल्ला और मौलवी, सभी उनके व्यंग्य से तिलमिला जाते हैं। अत्यन्त सीधी भाषा में वे ऐसी गहरी चोट करते हैं कि चोट खानेवाला केवल धूल झाड़ के चल देने के सिवा और कोई रास्ता ही नहीं पाता। इस प्रकार यद्यपि कबीर ने कहीं काव्य लिखने की प्रतिज्ञा नहीं की तथापि उनकी आध्यात्मिक रस की गगरी से छलके हुए रस से काव्य की कटोरी में भी कम रस इकट्ठा नहीं हुआ है।

हिंदी-साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वन्द्वी जानता है—तुलसीदास! परन्तु तुलसीदास और कबीर के व्यक्तित्व में बड़ा अन्तर था। यद्यपि दोनों ही भक्त थे, परंतु दोनों स्वभाव, संस्कार और दृष्टिकोण में एकदम भिन्न थे। मस्ती, फक्कड़ाना स्वभाव और सब कुछ को झाड़-फटकार चल देनेवाले तेज ने कबीर को हिंदी-

साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति बना दिया है। उनकी वाणियों में अनन्य-साधारण जीवन-रस भर दिया है। कबीर की वाणी का अनुकरण नहीं हो सकता। अनुकरण करने की सभी चेष्टाएँ व्यर्थ सिद्ध हुई हैं। इसी व्यक्तित्व के कारण कबीर की उक्तियाँ श्रोता को बल-पूर्वक आकृष्ट करती हैं।

इसी व्यक्तित्व के आकर्षण को सहृदय समालोचक सँभाल नहीं पाता और रीझ कर कबीर को 'कवि' कहने में सन्तोष पाता है। ऐसे आकर्षक वक्ता को 'कवि' न कहा जाय तो और कहा क्या जाय ? परंतु यह भूल नहीं जाना चाहिये कि यह कवि-रूप घलुए में मिली हुई वस्तु है। कबीर ने कविता लिखने की प्रतिज्ञा करके अपनी बातें नहीं कही थीं। उनकी छन्दो-योजना, उक्ति-वैचित्र्य और अलंकार-विधान पूर्णरूप के स्वाभाविक और अयत्न-साधित हैं। काव्यगत रूढ़ियों के न तो वे जानकार थे और न कायल ही।

अपने अनन्य-साधारण व्यक्तित्व के कारण ही वे सहृदय को आकृष्ट करते हैं। उनमें एक और बड़ा भारी गुण है जो उन्हें अन्यान्य संतों से विशेष बना देता है। यद्यपि कबीरदास एक ऐसे विराट् और आनंदमय लोक की बात करते रहते हैं जो साधारण मनुष्यों की पहुँच के बहुत ऊपर है और वे अपने को उस देश का निवासी बताते हैं जहाँ बारह महीने वसंत रहता है और निरंतर अमृत की झड़ी लगी रहती है फिर भी, जैसा कि एवेलिन अण्डरहिल ने कहा है, वे उस आत्मविस्मृति-कारी परम उल्लासमय साक्षात्कार के समय भी दैनंदिन-व्यवहार की दुनिया को छोड़ नहीं जाते और साधारण मानव-जीवन को

भुला नहीं देते। उनके पैर मजबूती के साथ धरती पर जमे रहते हैं; उनके महिमा-समन्वित और आवेगमय विचार, बराबर धीर और सजीव बुद्धि तथा सहजभाव द्वारा नियंत्रित होते रहते हैं, जो सच्चे मरमी कवियों में ही मिलते हैं।

उनकी सर्वाधिक लक्ष्य होनेवाली विशेषताएँ हैं—(१) सादगी और सहज-भाव पर निरंतर जोर देते रहना (२) बाह्य धर्माचारों की निर्मम आलोचना और (३) सब प्रकार के विराग-भाव के प्रति वैर-भाव। इसीलिए वे साधारण मनुष्य के लिए दुर्बोध्य नहीं हो जाते और अपने असाधारण भावों को ग्राह्य बनाने में सदा सफल दिखाई देते हैं।

कबीरदास के इस गुण ने सैकड़ों वर्ष से उन्हें साधारण जनता का नेता और साथी बना दिया है। वे केवल श्रद्धा और भक्ति के पात्र ही नहीं, प्रेम और विश्वास के आस्पद भी बन गये हैं। सच पूछा जाय तो जनता कबीरदास पर श्रद्धा करने की अपेक्षा प्रेम अधिक करती है। इसीलिये उनके संत-रूप के साथ ही उनका कवि-रूप बराबर चलता रहता है। वे केवल नेता और गुरु नहीं हैं, साथी और मित्र भी हैं।

कबीर ने ऐसी बहुत-सी बातें कही हैं जिनसे (अगर उपयोग किया जाय तो) समाज-सुधार में सहायता मिल सकती है, पर इसीलिये उनको समाज-सुधारक समझना गलती है। वस्तुतः वे व्यक्तिगत साधना के प्रचारक थे। समष्टि-वृत्ति उनके चित्त का स्वाभाविक धर्म नहीं था। वे व्यष्टिवादी थे।

सर्व-धर्म-समन्वय के लिये जिस मजबूत आधार की जरूरत होती है वह वस्तु कबीर के पदों में सर्वत्र पायी जाती है, वह

बात है भगवान् के प्रति अहेतुका प्रेम और मनुष्य-मात्र को उसके निर्विशिष्ट रूप में समान समझना। परंतु, आजकल सर्वधर्म-समन्वय से जिस प्रकार का भाव लिया जाता है वह कबीर में एकदम नहीं था। सभी धर्मों के बाह्य आचारों और अन्तर-संस्कारों में कुछ-न-कुछ विशेषता देखना और सब आचारों और संस्कारों के प्रति सम्मान की दृष्टि उत्पन्न करना ही यह भाव है। कबीर इसके कठोर विरोधी थे। उन्हें अर्थ-हीन आचार पसन्द नहीं थे, चाहे वे बड़े से बड़े आचार्य या पैगम्बर के ही प्रवर्तित हों या उच्च से उच्च समझी जानेवाली धर्मपुस्तक से उपदिष्ट हों। बाह्याचार की निरर्थक पूजा और संस्कारों की विचार-हीन गुलामी कबीर को पसंद नहीं थी।

वे इनसे मुक्त मनुष्यता को ही प्रेम-भक्ति का पात्र मानते थे। धर्मगत विशेषताओं के प्रति सहन-शीलता और संभ्रम का भाव भी उनके पदों में नहीं मिलता। परन्तु वे मनुष्यमात्र को समान मर्यादा का अधिकारी मानते थे; जातिगत, कुलगत, आचारगत श्रेष्ठता का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं था। सम्प्रदाय-प्रतिष्ठा के भी वे विरोधी जान पड़ते हैं। परन्तु, फिर भी, विरोधाभास यह है कि उन्हें हजारों की संख्या में लोग संप्रदाय-विशेष के प्रवर्तक मानने में ही गौरव अनुभव करते हैं!

जो लोग हिन्दू-मुस्लिम-एकता के व्रत में दीक्षित हैं, वे भी कबीरदास को अपना मार्ग-दर्शक मानते हैं। यह उचित भी है। राम-रहीम और केशव-करीम की जो एकता स्वयं-सिद्ध है उसे भी सम्प्रदाय-बुद्धि से विकृत मस्तिष्कवाले लोग नहीं समझ पाते। कबीरदास से अधिक जोरदार शब्दों में इस एकता का

प्रतिपादन किसी ने नहीं किया। पर जो लोग उत्साहाधिक्य-वश कबीर को केवल हिन्दू-मुस्लिम एकता का पैराम्बर मान लेते हैं वे उनके मूलस्वरूप को भूलकर उसके एक देश-मात्र की बात करने लगते हैं।

ऐसे लोग यदि यह देखकर क्षुब्ध हों कि कबीरदास ने 'दोनों धर्मों को ऊँची संस्कृति या दोनों धर्मों के उच्चतर भावों में सामंजस्य स्थापित करने की कहीं भी कोशिश नहीं की, और सिर्फ यही नहीं, बल्कि उन सभी धर्मगत विशेषताओं की खिल्ली ही उड़ाई है जिसे मज़हबी नेता बहुत श्रेष्ठ धर्माचार कह कर व्याख्या करते हैं तो कुछ आश्चर्य करने की बात नहीं है, क्योंकि कबीरदास इस बिन्दु पर से धार्मिक द्वंद्वों को देखते ही न थे। उन्होंने रोग का ठीक निदान किया था या नहीं, इसमें दो मत हो सकते हैं पर औषध-निर्वाचन में और अपथ्य-वर्जन के निर्देश में उन्होंने बिलकुल ग़लती नहीं की। यह औषध है भगवद्विश्वास। दोनों धर्म समान रूप से भगवान् में विश्वास करते हैं और यदि सचमुच ही आदमी धार्मिक है तो इस अमोघ औषध का प्रभाव उस पर पड़ेगा ही। अपथ्य हैं बाह्य आचारों को धर्म समझना, व्यर्थ कुलाभिमान, अकारण ऊँच-नीच का भाव।

कबीरदास की इन दोनों व्यवस्थाओं में ग़लती नहीं है और अगर किसी दिन हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता हुई तो इसी रास्ते हो सकती है। इसमें केवल बाह्याचार-वर्जन की नकारात्मक प्रक्रिया नहीं है, भगवद्विश्वास का अविश्लेष्य सीमेंट भी काम करेगा। इसी अर्थ में कबीरदास हिंदू और मुसलमानों

के ऐक्य-विधायक थे। परन्तु जैसा कि आरंभ में ही कहा गया है, कबीरदास को केवल इन्हीं रूपों में देखना सही देखना नहीं है। वे मूलतः भक्त थे।

भगवान् पर उनका अविचल अखंड विश्वास था। वे कभी सुधार करने के फेर में नहीं पड़े। शायद वे अनुभव कर चुके थे कि जो स्वयं सुधरना नहीं चाहता उसे ज़बर्दस्ती सुधारने का व्रत व्यर्थ का प्रयास है। वे अपने उपदेश 'साधु' भाई को देते थे या फिर स्वयं अपने आपको ही सम्बोधित करके कह देते थे। यदि उनकी बात कोई सुननेवाला न मिले तो वे निश्चिन्त होकर स्वयं को ही पुकार कर कह उठते: "अपनी राह तू चले कबीरा !" अपनी राह अर्थात् धर्म, सम्प्रदाय, जाति-कुल और शास्त्र की रूढ़ियों से जो बद्ध नहीं है, जो अपने अनुभव के द्वारा प्रत्यक्षीकृत है।

कबीरदास का यह भक्त-रूप ही उनका वास्तविक रूप है। इसी केन्द्र के इर्द-गिर्द उनके अन्य-रूप स्वयमेव प्रकाशित हो उठे हैं। मुश्किल यह है कि इस केन्द्रीय वस्तु का प्रकाश भाषा की पहुँच के बाहर है। भक्ति कहकर नहीं समझायी जा सकती, वह अनुभव करके आस्वादन की जा सकती है। कबीरदास ने इस बात को हज़ार तरह से कहा है। इस भक्ति या भगवान् के प्रति अहेतुक अनुराग की बात कहते समय उन्हें ऐसी बहुत-सी बातें कहनी पड़ी हैं जो भक्ति नहीं हैं पर भक्ति के अनुभव करने में सहायक हैं।

मूल वस्तु चूँकि वाणी के अगोचर है, इसीलिये केवल वाणी का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी को अगर भ्रम में पड़

जाना पड़ा हो तो आश्चर्य की कोई बात नहीं है। वाणी-द्वारा उन्होंने उस निगूढ़ अनुभवैकगम्य तत्व की ओर इशारा किया है, उसे 'ध्वनित' किया है। ऐसा करने के लिए उन्हें भाषा के द्वारा रूप खड़ा करना पड़ा है और अरूप को रूप के द्वारा अभिव्यक्त करने की साधना करनी पड़ी है।

काव्यशास्त्र के आचार्य इसे ही कवि की सबसे बड़ी शक्ति बताते हैं। रूप के द्वारा अरूप की व्यंजना, कथन के ज़रिये अकथ्य का ध्वनन, काव्य-शक्ति का चरम निदर्शन नहीं तो क्या है? फिर भी वह ध्वनित वस्तु ही प्रधान है; ध्वनित करने की शैली और सामग्री नहीं। इस प्रकार काव्यत्व उनके पदों में फोकट का माल है,—बाईप्रोडक्ट है, वह कोलतार और सीरे की भाँति और चीज़ों को बनाते बनाते अपने आप बन गया है।

प्रेम-भक्ति को कबीरदास की वाणियों की केन्द्रीय वस्तु न मानने का ही यह परिणाम हुआ है कि अच्छे अच्छे विद्वान् उन्हें घमंडी, अटपटी वाणी का बोलनहारा, एकेश्वरवाद और अद्वैत-वाद के बारीक भेद को न जाननेवाला, अहंकारी, अगुण-सगुण-विवेक-अनभिज्ञ आदि कह कर अपने को उनसे अधिक योग्य मानकर सन्तोष पाते रहे हैं। यह मानी हुई बात है कि जो बात लोक में अहंकार कहलाती है वह भगवत्प्रेम के क्षेत्र में,—स्वाधीनभर्तृका नायिका के गर्व की भाँति—अपने और अपने प्रिय के प्रति अखण्ड विश्वास की परिचायक है; जो बात लोक में दब्बूपन और कायरता कहलाती है वही भगवत्प्रेम के क्षेत्र में भगवान् के प्रति भक्त का अनन्यपरायण आत्मार्पण होती है और जो बातें लोक में परस्पर-विरुद्ध जँचती हैं

भगवान् के विषय में उनका विरोध दूर हो जाता है ।

लोक में ऐसे जीव की कल्पना नहीं की जा सकती जो कर्ण-हीन होकर भी सब कुछ सुनता हो, चक्षुरहित बना रहकर भी सब कुछ देख सकता हो, जो छोटे से छोटा भी हो और बड़े से बड़ा भी ; जो एक भी हो और अनेक भी ; जो बाहर भी हो और भीतर भी ; जिसे सबका मालिक भी कहा जा सके और सबका सेवक भी ; जिसे सबके ऊपर भी कहा जा सके और सर्वमय भी ; जिसमें समस्त गुणों का आरोप भी किया जा सके और गुण-हीनता का भी ; और फिर भी जो न इन्द्रिय का विषय हो, न मन का, न बुद्धि का ! परन्तु भगवान के लिये ये सब विशेषण सब देशों के साधक सर्व-भाव से देते रहे हैं ।

जो भक्त नहीं हैं, जो अनुभव-द्वारा साक्षात्कार किये हुए सत्य में विश्वास नहीं रखते, वे केवल तर्क में उलझ कर रह जाते हैं पर जो भक्त हैं, वे भुजा उठाकर घोषणा करते हैं, 'अगुणहिं-सगुणहिं नहिं कछु भेदा !' (तुलसीदास) । परन्तु तर्क-परायण व्यक्ति इस कथन के अटपटेपन को वदतोव्याघात कहकर सन्तोष कर लेता है । यदि भक्ति को कबीरदास की वाणियों की केन्द्रीय वस्तु मान लिया जाता, तो निस्सन्देह स्वीकार कर लिया जाता कि भक्त के लिये वे सारी बातें बेमतलब हैं जिन्हें कि विद्वान् लोग बारीक भेद कहकर आनंद पाया करते हैं । भगवान के अनिर्वचनीय स्वरूप को भक्त ने जैसा कुछ देखा है वह वाणी के प्रकाशनक्षेत्र के बाहर है, इसीलिये वाणी नाना प्रकार से विरोधी और अविरोधी शब्दों

द्वारा उस परम प्रेममय का रूप निर्देश करने की चेष्टा करती है। भक्त उसकी असमर्थता पर नहीं जाता, वह उसकी रूपातीत व्यंजना को देखता है।

भक्ति-तत्त्व की व्याख्या करते करते उन्हें उन बाह्याचार के जंजालों को साफ करने की जरूरत महसूस हुई है जो अपनी जड़-प्रकृति के कारण विशुद्ध चेतन-तत्त्व की उपलब्धि में बाधक हैं। यह बात ही समाज-सुधार और साम्प्रदायिक ऐक्य की विधात्री बन गई है। पर यहाँ भी यह कह रखना ठीक है कि यह भी फोकट का माल या बाईप्रोडक्ट ही है।

जो लोग इन बातों से ही कबीरदास की महिमा का विचार करते हैं वे केवल सतह पर ही चक्कर काटते हैं। कबीरदास एक जबर्दस्त क्रान्तिकारी पुरुष थे। उनके कथन की ज्योति जो इतने क्षेत्रों को उद्भासित कर सकी है सो मामूली शक्तिमत्ता की परिचायिका नहीं है। परन्तु यह समझना कि उद्भासित पदार्थ ही ज्योति है, बड़ी भारी गलती है। उद्भासित पदार्थ ज्योति की ओर इशारा करते हैं और ज्योति किधर और कहाँ है, इस बात का निर्देश देते हैं। ऊपर-ऊपर सतह पर चक्कर काटनेवाले समुद्र भले ही पार कर जायँ पर उसकी गहराई की थाह नहीं पा सकते। इन पंक्तियों का लेखक अपने को सतह का चक्कर काटनेवालों से विशेष नहीं समझता।

उसका दृढ़ विश्वास है कि कबीरदास के पदों में जो महान् प्रकाश-पुंज है वह बौद्धिक आलोचना का विषय नहीं है। वह म्यूजियम की चीज नहीं है बल्कि जीवित प्राणवान् वस्तु है। कबीर पर पुस्तकें बहुत लिखी गई हैं, और भी लिखी

जायँगी पर ऐसे लोग कम ही हैं जो उस साधना की गहराई तक जाने की चेष्टा करते हों। राम की वानरी सेना समुद्र जरूर लाँघ गई थी पर उसकी गहराई का पता तो मंदर पर्वत को ही था जिसका विराट शरीर आपाताल निमग्न हो गया था। सो, कबीरदास की सच्ची महिमा तो कोई गहरे में गोता लगानेवाला ही समझ सकता है।

कबीर ने जिन तत्त्वों को अपनी रचना से ध्वनित करना चाहा है उनके लिये कबीर की भाषा से ज्यादा साफ और जोरदार भाषा की संभावना भी नहीं है और जरूरत भी नहीं है। परन्तु काल-क्रम से भाषा आज के शिक्षित व्यक्ति को दुरूह जान पड़ती है। कबीर ने शास्त्रीय भाषा का अध्ययन नहीं किया था, पर फिर भी उनकी भाषा में परम्परा से चली आई हुई विशेषताएँ वर्तमान हैं। इसका ऐतिहासिक कारण है। इस ऐतिहासिक कारण को जाने बिना उस भाषा को ठीक-ठीक समझना संभव नहीं है।

कबीरदास ने स्वयं अरुप को रूप देने की चेष्टा की थी। परन्तु वे स्वयं कह गये हैं कि ये सारे प्रयास तभी तक थे जब परम-प्रेम के आधार प्रियतम का मिलन नहीं हुआ था। साखी, पद, शब्द और दोहरे उसी प्राप्ति के साधन हैं, मार्ग हैं। गन्तव्य तक पहुँच जाने पर मार्ग का हिसाब करना बेकार होता है। फिर इन साखी, शब्द और दोहरों की व्याख्या के प्रयास को क्या कहा जाय? ये तो साधन को समझाने के साधन,—साधन के भी साधन हैं?

अध्ययन

(लेखक—श्री मिश्रबंधु)

[पं० गणेशबिहारी मिश्र, पं० श्यामबिहारी मिश्र और रायबहादुर पं० शुकदेवबिहारी मिश्र—हिन्दी-साहित्य में 'मिश्रबन्धु' नाम से विख्यात हैं। ये तीनों भाई मिलकर ही साहित्य-सेवा किया करते हैं। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं। इनका जन्म इटौंजा (जि० लखनऊ) में क्रमशः सन् १८६५, १८७३ तथा १८७८ में हुआ। बड़े भाई पं० गणेशबिहारी मिश्र गृहस्थी का काम-काज देखते हैं। मँझले भाई पं० श्यामबिहारी मिश्र एम० ए०, डिप्टी-कलेक्टर, पुलिस सुपरिंटेंडेंट, कोआपरेटिव-सोसाइटीज के डिप्टी-रजिस्ट्रार तथा छत्रपुर-राज के दीवान आदि उच्च पदों पर काम कर चुके हैं। छोटे भाई रायबहादुर पं० शुकदेवबिहारी मिश्र बी० ए० वकील, भी मुंसिफ तथा छत्रपुर के दीवान रह चुके हैं।

हिन्दी-साहित्य-सेवियों में इस बन्धुत्रय का स्थान पर्याप्त ऊँचा है। इन्होंने लगभग २० पुस्तकें लिखी हैं। इनके साहित्यिक निबन्धों के संग्रह 'पुष्पांजलि' और 'सुमनांजलि' के नाम से प्रकाशित हुए हैं।

इन्होंने समाहार तथा प्रथम हिंदी की जो सेवा की है वह अद्वितीय और चिरस्मरणीय है। हिंदी-ग्रंथों का अध्ययन करके इन्होंने जो अनुपम इतिहास "मिश्रबंधु-विनोद" के नाम से प्रस्तुत किया है वह इतना विशद और पूर्ण है कि परवर्ती सब अँगरेजी और भारतीय विद्वानों ने स्पष्ट रूप से उसका उपयोग किया है। सबसे प्रथम और ऐसे विशद इतिहास के प्रणयन करने के लिए हिंदी संसार इनका आभारी है। शिवसिंह सेंगर-रचित शिवसिंह सरोज इतना सिलसिलेवार न था। इसी प्रकार हिंदी के नौ उच्चतम कवियों पर एक आलोचनात्मक ग्रंथ "हिंदी नवरत्न" नाम

से आप लोगों ने प्रस्तुत किया है। यह भी श्लाघ्य और सुन्दर कृति है। मिश्रबंधुओं के निस्स्वार्थ प्रयास के मूल्य और महत्व को सारा हिन्दी-संसार स्वीकार करता है।

मिश्रबंधुओं ने पृथक् पृथक् और सम्मिलित रूप से कवितायें भी लिखी हैं, तथा कुछ निबंध रचना भी की है। इनकी आलोचना बड़ी निर्भीक रही है और अपने विषय को प्रकट करने में इन्होंने बड़े निस्संकोच भाव से काम लिया है। इनकी शैली बहुत ही सरल और सर्व-सुबोध है। शब्दों के लिपि-विन्यास की जटिलता और व्याकरण की दुरूहता के पचड़े में पड़ना मिश्रबंधु हिंदी के लिये ठीक नहीं समझते।]

अध्ययन जन्म से प्रारम्भ होता है। बालक जन्म से एक ऐसी जगह आ जाता है कि जहाँ वह कुछ भी नहीं जानता। उसको इतना बोध भी नहीं होता कि आग जलाती है और साँप काटता है। धीरे धीरे अनुभव द्वारा वह अपना ज्ञान बढ़ाता जाता है, यहाँ तक कि समय पर बिना एक अक्षर भी पढ़े वह संसार की सभी साधारण बातें जान जाता है। यह सब ज्ञान-प्राप्ति एक प्रकार से अध्ययन ही है। अध्ययन शब्द अधिपूर्वक "इ" धातु से निकला है, जिसका प्रयोजन अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान का है। यह अनुभव चाहे अपना हो चाहे पराया, किन्तु दोनों द्वारा प्राप्त ज्ञान को अध्ययन ही कहेंगे। अपने अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान कुछ विशेष चिरस्थायी एवं लाभकारी होता है, किन्तु यदि मनुष्य सारा ज्ञान अपने ही अनुभव द्वारा प्राप्त करे, तो उसके ज्ञान की मात्रा बहुत ही सीमा-संकुचित रहेगी। संसार में ज्ञेय वस्तुएँ प्रायः अनन्त हैं और मनुष्य का अनुभव एवं समय बहुत ही थोड़ा है। फिर यदि सभी लोग अपने ही अनुभवों द्वारा ज्ञान प्राप्त करें, तो संसार में ज्ञान-वृद्धि

बहुत कम हो। यहाँ तो ज्ञान प्राप्ति के प्रयत्न को जहाँ से एक छोड़ता है, वहीं से आरम्भ करके दूसरा उसे उसके आगे ले जाता है और इसी प्रकार सहस्रों मनुष्यों द्वारा प्रत्येक विभाग में अनन्त ज्ञानवृद्धि होती है। फिर भी केवल दूसरों का अनुगामी पूरा पण्डित नहीं हो सकता। पाण्डित्य के लिए आत्मानुभव, आत्मनिर्भरता और स्वतंत्रता की भी आवश्यकता पड़ती है।

मनुष्य के वश में राज्य, प्रचुर धन, महाबल आदि प्राप्त करना सदैव नहीं है। इनके लिए भाग्य एवं आकस्मिक घटनाओं की भी आवश्यकता है। इधर पाण्डित्य का प्राप्त करना बहुत करके प्रत्येक मनुष्य ही पर निर्भर है। कहते हैं कि इसके लिए राजाओं के वास्ते भी कोई पृथक् मार्ग नहीं है। निरन्तर कठिन परिश्रम एवं साधना ही इसका मूल कारण है। परिश्रम मनुष्य के लिए सदैव लाभकारी है। बिना इसके किसी प्रकार का वास्तविक महत्त्व प्राप्त नहीं होता। परिश्रम से भागना अपने महत्त्व को लात मारना है। उचित परिश्रम से किसी प्रकार का दैहिक अथवा मानसिक कष्ट नहीं हो सकता। शक्ति का उचित प्रयोग करने से उसकी दिनों-दिन वृद्धि होती है न कि क्षीणता।

बहुत लोग जब चित्त न लगाने के कारण अथवा शिक्षण प्रणाली में कुछ दोष होने के कारण विद्याध्ययन में समुचित उन्नति नहीं कर पाते, तब समझते हैं कि हमारे पास बुद्धि की मात्रा कम है। यह विचार बहुत दशाओं में भ्रममूलक होता है। भाग्यदत्त बुद्धि की मात्रा विविध मनुष्यों में एक नहीं हो

सकती। वही दशा स्वास्थ्य आदि की है। फिर भी जैसे आयुर्वेद के नियमों पर ध्यानपूर्वक एवं दृढ़ भाव से चलकर एक साधारण स्वास्थ्यवाला भी परम सन्तोषदायक उन्नति कर सकता है और अपने से बहुत श्रेष्ठतर ऐसे भाग्यदत्त शरीरवाले से जो कुपथ्यसेवी है, बहुत बढ़कर हो सकता है, वैसे ही उद्यमी पुरुष भाग्यदत्त साधारण बुद्धि को क्रमशः बहुत बढ़ा सकता है। वही लोहे का टुकड़ा तलवार बनने से और भली भाँति रखे जाने से शीशे की भाँति चमकने लगता है और वही लापरवाही से रखा जाकर मुर्चा खा जाने से कोयले के समान काला और तिनके के समान टूटनेवाला हो जाता है। परिश्रम अध्ययन का जीव है। बिना विद्या-प्राप्ति के मनुष्य और पशु में बहुत कम अन्तर रह जाता है। भारी धनाढ्यता मनुष्य को प्रायः आलसी बना देती है। इसीलिए पण्डित लोग इसे अध्ययन का सहज शत्रु समझकर इसका निरादर करते हैं।

प्रत्येक मनुष्य में कुछ पशुता भी होती है। अन्य गुणावगुणों के समान इसकी वृद्धि अथवा ह्रास भी मनुष्य की इच्छा ही पर निर्भर है। जो मनुष्य समुचित अध्ययन द्वारा गुणों की उन्नति तथा अवगुणों की अवनति करता है, उसमें इसका ह्रास होता जाता है, अन्यथा नहीं। संभावित पुरुष को उचित है कि यदि वह कोई व्यसन ग्रहण करे, तब भी वह विद्या ही का होना चाहिए। विद्या से यहाँ केवल पुस्तकमय ज्ञान का तात्पर्य नहीं है, वरन् सभी प्रकार की ज्ञान-प्राप्ति इसी के अन्तर्गत आ जाती है। समय का मूल्य बहुत बातों से अधिक समझना चाहिए। बिना समय का उचित प्रयोग किए अध्ययन आदि

किसी सद्गुण का साधन नहीं हो सकता फिर भी शक्ति के बाहर पड़ना रोगोत्पादक होगा। सभी बातों के लिए समभाव उचित है। वैषम्य सदैव हानिकारक है। पढ़ना-लिखना, खेलना कूदना, सब कुछ यथासमय करना चाहिए। औचित्य का सीमोल्लंघन किसी दशा में न होना चाहिए। जैसे अन्य बातों में हम वैविध्य की प्रशंसा तथा पौनर्वृत्य की निन्दा करते आए हैं, वही दशा अध्ययन की भी है। मनुष्य को विविध विषयों में ज्ञान प्राप्त करना उचित है। एक ही बात में उतारू हो जाना मानसिक उन्नति को रोक कर मनुष्य को गूलर के फलवाले भुनगे के समान बना देता है। यथासमय पढ़ना-लिखना और खेलना-कूदना मनुष्य को पूरा मनुष्य बनाता है. किन्तु स्मरण रहे कि जो बात जिस समय की जाय वह पूर्ण तल्लीनता के साथ हो। पढ़ने के सभय खेलना और खेलने के समय पढ़ना बिलकुल ही भुला देना चाहिए। एक कार्य करते समय दूसरे का विचार भो चित्त में न आना चाहिए। एकाग्रभाव बहुत बड़ा मानसिक बल है। यही प्राणायाम का मूल और योग का बंधु है। गीता में भगवान ने आज्ञा दी है:—

"योगः कर्मसु कौशलम्"

अतः कर्मों में कुशलता ही योग है, जो काम करे उसी को पूर्ण उत्साह के साथ करे। जब तक उसे करता जाय तब तक उससे अप्रसंगी कोई भाव तक चित्त में न उठने पावे। जो इस प्रकार का काम कर सके वही योगी है। इसी से कहा गया है कि संसार में सच्चे योगी के लिए कोई भी वस्तु असंभव नहीं है।

अध्ययन कैसे किया जाय यह एक चिन्तनीय विषय है।

अध्ययन एक प्रकार से भोजन के समान है। जैसे बहुत कुछ खा लेने पर अपच हो जाता है और कुछ भी न खाने से थोड़े ही दिनों में मरणावस्था उपस्थित होती है, वैसा ही अध्ययन का हाल है। कुछ भी न पढ़ने से मनुष्य पूरा मूर्ख रहता है और उचित से अधिक ग्रन्थावलोकन से वह ग्रन्थों के भावों का आत्मीकरण नहीं कर सकता। ऐसे ही लोगों के विचार तथा सम्मतियाँ स्वयं उनकी नहीं वरन् औरों की होती हैं। वे समझते हैं कि हम अपनी सम्मति प्रकट कर रहे हैं, किन्तु वास्तव में वे जानते हुए अथवा न जानते हुए दूसरों की चोरी किया करते हैं। उन्होंने इतने पराए विचार अपने मन में भर लिए हैं कि वे उन पर पूर्णतया मनन करके उन्हें अपना नहीं बना सकते। फिर भी जब ऐसे विचार-बहुभक्षी लोग पराए सिद्धान्तों का अपने कथनों में दूसरे प्रसंग में प्रयोग करते हैं, तब आत्मीकरण के अभाव से उनका बहुधा दुरुपयोग हो जाता है। ऐसे ही कथनों पर जब अटलतार्किक सिद्धान्तों के अनुसार सूक्ष्मदर्शिता से विचार किया जाता है तब उनका एक-एक अक्षर भूसी के समान उड़ जाता है और मन भर के गट्ठर में एक भी अनाज का दाना नहीं निकलता। ऐसे ही विचारों में प्रतिकूलता-पोषण बहुतायत से होता है। जब मनुष्य कोई सारगर्भित नवीन भाव पावे, तब उसे उचित है कि अपने प्राचीन विचार-समुदाय में उस भाव को स्थान देने के पूर्व सोच ले कि वह कितनों के प्रतिकूल और कितनों के अनुकूल पड़ता है। प्रतिकूलता की दशा में दोनों का यह ध्यान देकर निर्णय कर लेना चाहिए कि उसमें से कौन ग्राह्य है और कहाँ तक।

नवीन और प्राचीन विचारों में थोड़ा सा भी विरोध होने से ध्यान-पूर्वक निर्णय करके उनका संशोधन कर लेना चाहिए। जब किसी नए विचार का प्राचीन भाव से मिलान करके पूरा निर्णय होकर एक बात निश्चित रह जातो है, तभी कहा जा सकता है कि नवागत विचार हजम हुआ, अर्थात् अपना हो गया। जो लोग ऐसे आत्मीकरण करके नए विचार ग्रहण करते जाते हैं, उनका मानस-शरीर बहु-भक्षी लोगों की देहों के समान कभी अस्वास्थ्ययुक्त नहीं रह सकता। जो लोग अपने प्राचीन विचारों को नवीन भावों की वृद्धि द्वारा दृढ़तर बनाते हुए दिनों दिन उन्नतिशील नहीं रखते, उनका मानस-शरीर दुबला और बलहीन हो जाता है। बहुत से लोग साधारण बातों, व्याख्यानों एवं ग्रन्थ-निर्माण द्वारा अपने विचार औरों पर बहुतायत से प्रकट किया करते हैं। ऐसी प्रगल्भता से प्रायः प्रतिकूल विचारों का पुष्टिकरण हो जाता है और कथनों में सारगर्भिता की मात्रा बहुत कम होती है। उपदेशकों को संक्षिप्त गुण का अवश्य ध्यान रखना चाहिए, नहीं तो उनके कथनों में मूर्ख-मोहिनी विद्या रह जाती है।

अध्ययन दो प्रकार का होता है, अर्थात् साधारण और दैनिक व्यापार-सम्बन्धी। यह प्रकट ही है कि मानसिक उन्नति के लिए व्यापारिक शिक्षा से साधारण शिक्षा बहुत श्रेष्ठतर है। फिर भी बिना व्यापारिक शिक्षा के काम नहीं चल सकता। मानसिक उन्नति के प्रतिकूल प्रायः व्यापार में खास-खास बुराइयाँ होती हैं। संभावित को इन पर सदैव ध्यान रखना चाहिये, जिससे कि वह मानसिक उन्नति का अवरोध न कर सके। प्रायः

देखा गया है कि जो लोग जिस व्यापार में पड़ते हैं, वे अपने आह्निक अवकाश में भी सभा-सोसाइटियों में बैठकर उसी की बातें किया करते हैं। चतुर मनुष्य को अवकाश के समय में मेड़ुवा गोजई का भाव न सोचकर, ऐसे विषयों की ओर चित्त लगाना चाहिए, जिनको उसके व्यापार-संबंधी आह्निक कर्त्तव्यों में कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। मनुष्यों को अंधवत् एक ही लीक पर अनुगमन करने से बचना चाहिए।

अध्ययन का मूल दो प्रकार का होता है, अर्थात् स्वावलंबी और परावलंबी, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। स्वावलंबी अध्ययन अपने ही अनुभवों एवं विचारों से प्राप्त होता है और परावलंबी अध्ययन पुस्तकों, गुरुओं और मित्रों आदि पर आश्रित है। स्वावलम्बी अध्ययन में ज्ञान वृद्धि के लिये बहुत कुछ अधिक समय दरकार है, किन्तु वह बहुत पक्का होता है। संसारीपने की कार्य-कारिणी बुद्धि स्वानुभव से ही विशेषतया प्राप्त होती है और बिना स्वावलम्बी ज्ञान के केवल परावलंबी अध्ययन से पूर्ण मानसिक उन्नति नहीं हो सकती। दोनों प्रकार के अध्ययनों में विद्यार्थी को कक्षा-विभाग पर विशेष ध्यान देना चाहिए। प्रत्येक वस्तु को ध्यानपूर्वक देखकर अथवा उसके विषय में सुनकर और वस्तुओं से उसकी समता और असमता पर पूर्ण विचार करो। जो वस्तुएँ जहाँ तक समान हों उनको जानो और फिर समान वस्तुओं के सूक्ष्म से भी सूक्ष्म अंतर को बुद्धि-बल से खोज निकालो। प्रकृति ने समानता और अन्तर का ऐसा विचित्र बनाव रक्खा है कि इस पर जहाँ तक मनन करो वहाँ तक ज्ञान विस्तीर्ण होता जाता है। संसार में अरबों मनुष्य

प्रस्तुत हैं और उनका शरीर सांगोपांग समान है, किन्तु फिर भी कोई दो मनुष्य ऐसे न मिलेंगे जिनकी बनावट एक दूसरे से बिलकुल मिलती हो। तत्त्वज्ञानियों ने ज्ञानपूर्वक निरीक्षण द्वारा जाना है कि संसार में प्रकृति जीवधारी की रचना-शक्ति के प्रदर्शन में पुनरुक्ति कभी नहीं करती, यहाँ तक कि कोई दो पत्ती अथवा दूब के दल तक एक दूसरे से बिलकुल समान कभी नहीं होते। ऐसी समता एवं भिन्नता का ज्ञान भारी सूक्ष्मदर्शिता से प्राप्त होता है। ऐसी शक्ति को बढ़ाने के लिए सभी ठौर समता और भिन्नता पर ध्यान देना चाहिए। अधिक से अधिक पदार्थों को ध्यानपूर्वक देखते जाओ और तब आपकी अधिकाधिक ज्ञान-वृद्धि होगी। किसी वस्तु को देखकर यह सदैव सोचो कि यह ऐसी क्यों है, किसी अन्य प्रकार की क्यों नहीं ? इसके रचयिता ने इसे यहाँ किस विचार से रक्खा। रास्ता चलने में भी विचारते रहो कि अमुक पगडंडी की वर्तमान स्थिति उसी प्रकार से उसी स्थान से क्यों हुई। एक छोटा-सा कंटकित पौधा भी यदि मार्ग में पड़ जाता है तो पगडंडी उसके कारण हाथ भर मुड़ जाती है। कोई पथिक साधारण उसे उखाड़ कर फेंक सकता है अथवा जूते की ठोकर से कुचल सकता है, किन्तु पथिक लोग प्रायः इतना कष्ट उठाते हुए देखे नहीं गए हैं। विदेशों में ट्रेन पर यात्रा करने में अन्य बातों में उतना ध्यान न देकर मनुष्य को देश की बनावट देखनी चाहिए। इससे उस प्रान्त के निवासियों के बहुत से स्वभाव सहज ही से ज्ञात हो जाते हैं। सारांश यह कि यथा-साध्य सभी नवीन बातों में तार्किक सिद्धान्तों का ध्यान कभी न भूलो। तर्क-शास्त्र

कोई नवीन बात नहीं बतलाता, किन्तु साधारण अनुभवों द्वारा ज्ञानप्राप्ति के ऐसे सुन्दर नियम मिलते हैं कि नेत्रों को नेत्र और कानों को कान बनाते हैं।

परावलम्बी ज्ञान प्रणाली में पुस्तकों और गुरुओं की प्रधानता है। यदि कोई बात ज्ञात न हो, तो उसके पूछने में कोई संकोच न करो। भगवान दत्तात्रेय ने मकड़ी आदि चौबीस जन्तुओं को भी अपना गुरु करके माना था। गुरुओं एवं पुस्तकों के कथनों को भी अंधपरंपरा की रीति से कभी न मानो। परमोच्च ग्रन्थों के भी परमोच्च विचारों पर ध्यान दो। ग्रन्थों के पढ़ने में पूर्ण बुद्धि व्यवसाय से काम लेना चाहिए और एक पेंसिल तथा जेबी कोष तो अखबारों तक के पढ़ने में अपने पास रखना उचित है। कोष के पास होने से छोटे से छोटा संदेह निवृत्त हो जाता है और ज्ञान-वृद्धि में बहुत अच्छी सहायता मिलती है।

पढ़ने में अपने प्रिय विषय पर विशेषता अवश्य रक्खे, किन्तु अन्य विषयों पर तिरस्कार कभी न करे। कहा भी है कि 'विद्वान् को कुछ का सब कुछ और सब का कुछ कुछ अवश्य जानना चाहिए। बिना इसके वैविध्य लुप्त होकर पौनर्वृत्य आ जाता है। मनुष्य को सभा-चातुर्य्य और ज्ञान-गरिमा वैविध्य से प्राप्त होती है। अपने ऊपर उचित से अधिक विश्वास और अविश्वास न करे। ये दोनों विफलता के मूलकारणों में से हैं। अपने साधारण अनुभव से हम ऐसे महापुरुषों के चरित्र से अच्छे उदाहरण प्राप्त कर सकते हैं, वैसे ही जीवन-चरित्र भी श्रेष्ठ उदाहरण प्रदर्शन द्वारा हम भारी लाभ उठा सकते हैं।

रामायण और महाभारत में राम और युधिष्ठिर के अतिरिक्त भी बहुत से अच्छे अच्छे उदाहरण मिलते हैं। जीवन-चरित्रों में व्यक्तित्व की मुख्यताओं का होना परमावश्यक है, यहाँ तक कि उसमें दोषों का भी कथन होना चाहिए, नहीं तो उदाहरण बहुत ऊँचा उठ जाता है और साधारण मनुष्यों को समझ पड़ने लगता है कि उसका अनुकरण असंभव है।

शिवमूर्त्ति

(लेखक—स्वर्गीय श्री पंडित प्रतापनारायण मिश्र)

[आपका जन्म सं० १९१३ में हुआ। थोड़ी अंगरेजी भी आपने पढ़ी थी परंतु उर्दू फारसी का आपको अच्छा अभ्यास था। बंगला और संस्कृत का भी आपको ज्ञान था। १८८३ में 'ब्राह्मण' नामक पत्र का संपादन आपने आरंभ किया।

आत्मव्यंजक निबंधों में [लेखक अपनी 'व्याप्ति' द्वारा शब्द-लक्षण प्रस्तुत करता है और उसके भीतर न जाने कितनी बातें खींच लेता है। बोलचाल, वाग्योग (मुहावरे) और लोकोक्ति तीनों का विधान करके शैली का एक ऐसा वैशिष्ट्य उत्पन्न किया गया है जो भारतेंदु काल के ऐसे लेखकों में बराबर दिखाई पड़ता है। मिश्रजी में चलतापन और चमत्कार की प्रवृत्ति सबसे अधिक है। विनोदवृत्ति का निरालापन और मस्ती से भरा ढंग इनकी अपनी विशेषता है। मिश्रजी में समाहार की रुचि थी, विश्लेषण की उतनी नहीं। इनमें चपलता का बहुत अधिक योग दिखाई देता है जो आलंकारिकता लिए रहता है।

प्रतापनारायण मिश्र की भाषा विनोद, कटूक्तियों और कहावतों की वशवर्तिनी है अतः इसमें भारतेंदुजी की शिष्टता और नागरिकता नहीं है। प्रतापनारायण मिश्र एक मौजी और प्रेमी जीव थे। शहर में रहते हुए वे शहर के आचार-व्यवहार की कृत्रिमता से दूर रहते थे। उनकी ग्रामीणता-प्रधान भाषा में मार्मिक हास्य रहता था। उनकी जैसी वाग्विदग्धता उस समय तक के किसी भी लेखक में नहीं मिलती है। वे केवल साहित्यिक ही न थे, वरन् एक उद्भट समाज-सुधारक और सार्वजनिक जीवन में तत्पर रहनेवाले एक विनोदी नागरिक भी थे। 'ब्राह्मण' में साहित्यवार्ता

के साथ-साथ मनोरंजन-मिश्रित समाज-शिक्षा रहती थी। आपके लिखे निबंधों की भाषा में प्रौढ़ हास्य, रोचकता और सुबोधता निखरा करती थी। इनकी शैली में पाठकों के प्रति एक आत्मीयता निहित है। पं० प्रतापनारायण मिश्र का सैयद इंशा अल्ला से शैली-विषयक साम्य स्थिर किया जा सकता है। उनके द्वारा सृजित साहित्य में हमें उनका व्यक्तित्व और एक विचित्र चमत्कार मिलता है। उनके लेख विभिन्न-विषयक होते थे। यह समझना भूल है कि उनकी शैली नितांत हास्यरसात्मक है। गंभीर विषयों पर लिखते हुए आपने बड़ी संयत और सचिक्कण भाषा व्यवहृत की है। उनके लिखे लेखों के शीर्षक से विषय-विभिन्नता और विचित्रता दोनों ही लक्षित हैं जैसे—'समझदार की मौत है', 'मरे का मारैं शाहमदार', 'इसे रोना समझो चाहे गाना', 'बात', 'वृद्ध', 'भौं', 'धोखा' आदि।

उनकी सजीव प्रकृति झलकती है, किंतु अधिकतर इनमें तार्किकता अथवा मननशीलता का अभाव ही देख पड़ता है। आपकी शैली अवश्य एक विशेष प्रकार के चमत्कार से पूर्ण है। उन्होंने गंभीर विषयों पर भी लिखा है जैसे—'काल', 'स्वार्थ', 'शिवमूर्त्ति', 'सोने का डंडा' और 'पौंडा' आदि। किंतु आपकी भाषा परिमार्जित नहीं है। विरामादि चिह्नों का प्रायः अभाव है, व्याकरण-संबंधी भूलें भी आपने की हैं और कहीं-कहीं विचित्र लिपि-दोष है। उनके निबंधों में अधिकतर पांडित्य प्रदर्शन की वृत्ति नहीं है, इसके स्थान पर वे तरल हास्य के पेंदे में नैतिकता की शिक्षा जमा देते हैं।]

हमारे ग्राम-देव भगवान् भूतनाथ से अकथ्य अप्रतर्क्य एवं अचिंत्य हैं। तौ भी उनके भक्तजन अपनी रुचि के अनुसार उनका रूप, गुण, स्वभाव कल्पित कर लेते हैं। उनकी सभी बातें सत्य हैं, अतः उनके विषय में जो कुछ कहा जाय सब सत्य है।

मनुष्य की भाँति वे नाड़ी आदि बंधन से बद्ध नहीं हैं। इससे हम उनको निराकार कह सकते हैं और प्रेम दृष्टि से अपने हृदय-मंदिर में उनका दर्शन करके साकार भी कह सकते हैं। यथा-तथ्य वर्णन उनका कोई नहीं कर सकता। तौ भी जितना जो कुछ अभी तक कहा गया है और आगे कहा जावेगा सब शास्त्रार्थ के आगे निरी बकबक है और विश्वास के आगे मनःशांतिकारक सत्य है !!! महात्मा कबीर ने इस विषय में कहा है वह निहायत सच है कि जैसे कई अंधों के आगे हाथी आवै और कोई उसका नाम बता दे, तो सब उसे टटोलेंगे। यह तो संभव ही नहीं है कि मनुष्य के बालक की भाँति उसे गोद में ले के सब कोई अवयव का बोध कर लें। केवल एक अंग टटोल सकते हैं और दाँत टटोलनेवाला हाथी को खूँटी के समान, कान छूनेवाला सूप के समान, पाँव स्पर्श करनेवाला खंभे के समान कहेगा ! यद्यपि हाथी न खूँटे के समान है और न खंभे के। पर कहनेवालों की बात झूठी भी नहीं है। उसने भली भाँति निश्चय किया है और वास्तव में हाथी का एक अंग वैसा ही है जैसा वे कहते हैं। ठीक यही हाल ईश्वर के विषय में हमारी बुद्धि का है। हम पूरा पूरा वर्णन वा पूरा साक्षात् कर लें तो वह अनंत कैसे और यदि निरा अनंत मान के अपने मन और वचन को उनकी ओर से बिलकुल फेर लें तो हम आस्तिक कैसे ! सिद्धांत यह कि हमारी बुद्धि जहाँ तक है वहाँ तक उनकी स्तुति-प्रार्थना, ध्यान, उपासना कर सकते हैं और इसी से हम शांति लाभ करेंगे !

उनके साथ जिस प्रकार का जितना संबंध हम रख सकें उतना ही हमारा मन, बुद्धि, शरीर, संसार, परमार्थ के लिये

मंगल है। जो लोग केवल जगत् के दिखाने को वा सामाजिक नियम निभाने को इस विषय में कुछ करते हैं उनसे तो हमारी यही विनय है कि व्यर्थ समय न बितावें। जितनी देर पूजा-पाठ करते हैं, जितनी देर माला सरकाते हैं, उतनी देर कमाने-खाने, पढ़ने-गुनने में ध्यान दें तो भला है! और जो केवल शास्त्रार्थी आस्तिक हैं वे भी व्यर्थ ईश्वर को अपना पिता बना के निज माता को कलंक लगाते हैं। माता कह के बेचारे जनक को दोषी ठहराते हैं, साकार कल्पना करके व्यापकता का और निराकार कह के अस्तित्व का लोप करते हैं। हमारा यह लेख केवल उनके विनोदार्थ है जो अपनी विचारशक्ति को काम में लाते हैं और ईश्वर के साथ जीवित संबंध रख के हृदय में आनंद पाते हैं तथा आप लाभकारक बातों को समझ के दूसरों को समझाते हैं! प्रिय पाठक! उसकी सभी बातें अनंत हैं तो मूर्तियाँ भी अनंत प्रकार से बन सकती हैं और एक एक स्वरूप में अनंत उपदेश प्राप्त हो सकते हैं। पर हमारी बुद्धि अनंत नहीं है, इससे कुछ एक प्रकार की मूर्तियों का कुछ कुछ अर्थ लिखते हैं।

मूर्ति बहुधा पाषाण की होती है जिसका प्रयोजन यह है कि उनसे हमारा दृढ़ संबंध है। दृढ़ वस्तुओं को उपमा पाषाण से दी जाती है। हमारे विश्वास की नींव पत्थर पर है। हमारा धर्म पत्थर का है। ऐसा नहीं कि सहज में और का और हो जाय। इसमें बड़ा सुभीता यह भी है कि एक बार बनवा के रख ली, कई पीढ़ी को छुट्टी हुई। चाहे जैसे असावधान पूजक आवें कोई हानि नहीं हो सकती है। धातु की मूर्ति से यह अर्थ

है कि हमारा स्वामी द्रवणशील अर्थात् दयामय है। जहाँ हमारे हृदय में प्रेमाग्नि धधकी वहीं हमारा प्रभु हम पर पिघल उठा। यदि हम सच्चे तदीय हैं तो वह हमारी दशा के अनुसार बर्तेंगे। यह नहीं कि उन्हें अपने नियम पालने से काम। हम चाहे मरें या जियें। रत्नमयी मूर्ति से यह भाव है कि हमारा ईश्वरीय संबंध अमूल्य है। जैसे पन्ना पुखराज की मूर्ति बिना एक गृहस्थी भर का धन लगाए नहीं हाथ आती। यह बड़े ही अमीर को साध्य है वैसे ही प्रेममय परमात्मा भी हमको तभी मिलेंगे जब हम अपने ज्ञान का अभिमान छोड़ दें। यह भी बड़े ही मनुष्य का काम है! मृत्तिका की मूर्ति का यह अर्थ है कि उनकी सेवा हम सब ठौर कर सकते हैं। जैसे मिट्टी और जल का अभाव कहीं नहीं है, वैसे ही ईश्वर का वियोग कहीं नहीं है। धन और गुण का ईश्वर-प्राप्ति में कुछ काम नहीं। वह निर्धन के धन हैं। 'हुनरमंदों से पूछे जाते हैं बाबे हुनर पहिले'। या यों समझ लो कि सब पदार्थ आदि और अंत में सब ईश्वर से उत्पन्न हैं, ईश्वर में ही लय होते हैं इस बात से दृष्टांत मट्टी से खूब घटता है। गोबर की मूर्ति यह सिखाती है कि ईश्वर आत्मिक रोगों का नाशक है, हृदय-मंदिर की कुवासनारूपी दुर्गंध को हरता है। पारे की मूर्ति में यह भाव है कि प्रेमदेव हमारे पुष्टिकारक 'सुगंधिं पुष्टिवर्द्धनं' यह मूर्ति बनाने वा बनवाने की सामर्थ्य न हो तो पृथ्वी और जल आदि अष्ट मूर्ति बनी बनाई पूजा के लिये विद्यमान हैं।

वास्तविक प्रेम-मूर्ति मनोमंदिर में विराजमान है। पर यह दृश्य मूर्तियाँ भी निरर्थक नहीं हैं। मूर्तियों के रंग भी यद्यपि

अनेक होते हैं पर मुख्य रंग तीन हैं। श्वेत जिसका अर्थ यह है कि परमात्मा शुद्ध है, स्वच्छ है; उसकी किसी बात में किसी का कुछ मेल नहीं है। पर सभी उसके ऐसे आश्रित हो सकते हैं जैसे उजले रंग पर सब रंग। वह त्रिगुणातीत तो हुई, पर त्रिगुणालय भी उसके बिना कोई नहीं। यदि हम सतोगुणमय भी कहें तो बेअदबी नहीं करते! दूसरा लाल रंग है जो रजोगुण का वर्ण है। ऐसा कौन कह सकता है कि यह संसार भर का ऐश्वर्य किसी और का है। और लीजिये कविता के आचार्य्यों ने अनुराग का रंग लाल कहा है। फिर अनुराग देव का रंग और क्या होगा? तीसरा रंग काला है। उसका भाव सब सोच सकते हैं कि सबसे पक्का यही रंग है, इस पर दूसरा रंग नहीं चढ़ता। ऐसे ही प्रेम-देव सबसे अधिक पक्के हैं, उन पर और का रंग क्या चढ़ेगा? इसके सिवा बाह्य जगत् के प्रकाशक नैन हैं। उनली पुतली काली होती है, भीतर का प्रकाशक ज्ञान है। उसकी प्रकाशिनी विद्या है जिसकी समस्त पुस्तकें काली मसी में लिखी जाती हैं। फिर कहिये जिससे भीतर-बाहर दोनों प्रकाशित होते हैं, जो प्रेमियों को आँख की ज्योति से भी प्रियतर है, जो अनंत विद्या-मय है उसका फिर और क्या रंग हम मानें?

हमारे रसिक पाठक जानते हैं किसी सुंदर व्यक्ति की आँखों में काजल और गोरे-गोरे गाल पर तिल कैसा भला लगता है कि कवियों भर को पूरी शक्ति, रसिकों भर का सर्वस्व एक बार उस शोभा पर निछावर हो जाता है। यहाँ तक कि जिनके असली तिल नहीं होता उन्हें सुन्दरता बढ़ाने

को कृत्रिम तिल बनाना पड़ता है। फिर कहिये तो, सर्व शोभामय परमसुंदर का कौन रंग कल्पना करोगे? समस्त शरीर में सर्वोपरि शिर है उस पर केश कैसे होते हैं? फिर सर्वोत्कृष्ट देवाधिदेव का और क्या रंग है? यदि कोई बड़ा मैदान हो लाखों कोस का और रात को उसका अंत लिया चाहो तो सौ दो सौ दीपक जलाओगे। पर क्या उनसे उसका छोर देख लोगे? केवल जहाँ दीप-ज्योति है वहीं तक देख सकोगे फिर आगे अंधकार ही तो है? ऐसे ही हमारी, हमारे अगणित ऋषियों की, सबकी बुद्धि जिसका ठीक हाल नहीं प्रकाश कर सकती उसे अप्रकाशवत् न मानें तो क्या मानें? रामचंद्र, कृष्णचंद्रादि को यदि अँगरेजी जमानेवाले ईश्वर न मानें तौ भी यह मानना पड़ेगा कि हमारी अपेक्षा ईश्वर से और उनसे अधिक संबंध था। फिर हम क्यों न कहें कि यदि ईश्वर का अस्तित्व है तो इसी रंग-ढंग का है।

अब आकारों पर ध्यान दीजिये। अधिकतर शिवमूर्ति लिंगाकार होती हैं जिसमें हाथ, पाँव, मुख कुछ नहीं होते। सब मूर्तिपूजक कह देंगे कि 'हम तो साक्षात् ईश्वर नहीं मानते न उसकी यथातथ्य प्रतिकृति मानें। केवल ईश्वर की सेवा के लिये एक संकेत चिह्न मानते हैं।' यह बात आदि में शैवों ही के घर से निकली है, क्योंकि लिंग शब्द का अर्थ ही चिह्न है।

सच भी यही है जो वस्तु बाह्य नेत्रों से नहीं देखी जाती उसकी ठीक ठीक मूर्ति क्या? आनंद की कैसी मूर्ति? दुःख की कैसी मूर्ति? केवल चित्तवृत्ति! केवल उसके गुणों का कुछ

द्योतन !! बस । ठीक शिव-मूर्ति यही है। सृष्टि कर्तृत्व, अचिन्त्यत्व, अप्रतिमत्व कई एक बातें लिंगाकार मूर्ति से ज्ञात होती हैं । ईश्वर यावत् संसार का उत्पादक है । ईश्वर कैसा है, यह बात पूर्णरूप से कोई वर्णन नहीं कर सकता। अर्थात् उसकी सभी बातें गोल हैं। बस, जब सभी बातें गोल हैं तो चिह्न भी हमने गोल मोल कल्पना कर लिया। यदि 'न तस्य प्रतिमास्ति' का ठीक अर्थ यही है कि ईश्वर की प्रतिमा नहीं है तो इसकी ठीक सिद्धि ज्योतिर्लिंग ही से होगी, क्योंकि जिसमें हाथ, पाँव, मुख, नेत्रादि कुछ भी नहीं हैं उसे प्रतिमा कौन कह सकता है ? पर यदि कोई मोटी बुद्धिवाला कहे कि जो कोई अवयव ही नहीं तो फिर यही क्यों नहीं कहते कि कुछ नहीं है। हम उत्तर दे सकते हैं कि आँखें हों तो धर्म से कह सकते हो कि कुछ नहीं है ? तात्पर्य यह कि कुछ है, और कुछ नहीं है। दोनों बातें ईश्वर के विषय में न कही जा सकें, न नहीं कही जा सकें, और हाँ कहना भी ठीक है। एवं नहीं कहना भी ठीक है। इसी भाँति शिवलिंग भी समझ लीजिये। वह निरवयव है, पर मूर्ति है। वास्तव में यह विषय ऐसा है कि मन, बुद्धि और वाणी से जितना सोचा, समझा और कहा जाय उतना ही बढ़ता जायगा। और हम जन्म भर बका करेंगे, पर आपको यही जान पड़ेगा कि अभी श्रीगणेशाय नमः हुआ है !!!

इसीसे महात्मा लोग कह गए हैं कि ईश्वर को वाद में न ढूँढ़ो पर विश्वास में। इसलिये हम भी योग्य समझते हैं कि सावयव (हाथ, पाँव इत्यादि वाली) मूर्तियों के वर्णन की ओर

झुकें। जानना चाहिये कि जो जैसा होता है उसकी कल्पना भी वैसी ही होती है। यह संसार का जातीय धर्म है कि जो वस्तु हमारे आसपास है उन्हीं पर हमारी बुद्धि दौड़ती है। फ़ारस, अरब और इंग्लिश देश के कवि जब संसार की अनित्यता वर्णन करेंगे तो क़बरिस्तान का नक़शा खींचेंगे, क्योंकि उनके यहाँ श्मशान होते ही नहीं हैं। वे यह न कहें तो क्या कहें कि बड़े-बड़े बादशाह ख़ाक में दबे हुए सोते हैं। यदि क़बर का तख़्ता उठाकर देखा जाय तो शायद दो चार हड्डियाँ निकलेंगी जिन पर यह नहीं लिखा कि यह सिकंदर की हड्डी है, यह दारा की। इत्यादि। हमारे यहाँ उक्त विषय में श्मशान का वर्णन होगा, क्योंकि अन्य धर्म्मियों के आने से पहले यहाँ क़ब्रों की चाल ही न थी।

योरप में ख़ूबसूरती के बयान में अलकावली का रंग काला कभी न कहेंगे। यहाँ ताम्रवर्ण सौंदर्य का रंग न समझा जायगा। ऐसे ही सब बातों में समझ लीजिये तब समझ में आ जायगा कि ईश्वर के विषय में बुद्धि दौड़ानेवाले सब कहीं सब काल में मनुष्य ही हैं। अतएव उसके स्वरूप की कल्पना मनुष्य ही के स्वरूप की सी सब ठौर की गई है। इंजील और क़ुरान में भी कहीं कहीं ख़ुदा का दाहिना हाथ, बाँया हाथ इत्यादि वर्णित है, वरंच यह खुला हुआ लिखा है कि उसने आदम को अपने स्वरूप में बनाया। चाहे जैसी उलट-फेर की बातें कही जायँ पर इसका यह भाव कहीं न जायगा कि ईश्वर यदि सावयव है, तो उसका भी रूप हमारे रूप का सा होगा। हो चाहे जैसा पर हम यदि ईश्वर को अपना आत्मीय मानेंगे तो अवश्य ऐसा ही मान सकते हैं, जैसों से

हमारा प्रत्यक्ष संबंध है। हमारे माता, पिता, भाई-बंधु, राजा-गुरु जिनको हम प्रतिष्ठा का आधार एवं आधेय कहते हैं उन सब के हाथ, पाँव, नाक मुँह हमारे हस्तपादादि से निकले हुए हैं, तो हमारे प्रेम और प्रतिष्ठा का सर्वोत्कृष्ट संबंधी कैसा होगा। बस, इसी मत पर सावयव सब मूर्ति मनुष्य की सी मूर्ति बनाई जाती है। विष्णुदेव की सुंदर-सौम्य मूर्तियाँ प्रेमोत्पादनार्थ हैं क्योंकि खूबसूरती पर चित्त अधिक आकर्षित होता है। भैरवादि की मूर्तियाँ भयानक हैं जिसका यह भाव है कि हमारा प्रभु हमारे शत्रुओं के लिये भयजनक है। अथच हम उनकी मंगल-मयी सृष्टि में हलचल डालेंगे तो वह कभी उपेक्षा न करेगा। उसका स्वभाव क्रोधी है। पर शिव-मूर्ति में कई एक विशेषतायें हैं। उनके द्वारा हम यह उपकार यथामति ग्रहण कर सकते हैं।

शिर पर गंगा का चिह्न होने से यह भाव है कि गंगा हमारे देश की सांसारिक और पारमार्थिक सर्वस्व हैं और भगवान् सदाशिव विश्वव्यापी हैं। अतः विश्वव्यापी की मूर्ति कल्पना में जगत् वा सर्वोपरि पदार्थ ही शिरस्थानी कहा जा सकता है। दूसरा अर्थ यह है कि पुराणों में गंगा की विष्णु के चरण से उत्पत्ति मानी गई है और शिवजी को परम वैष्णव कहा है। उस परम वैष्णवता की पुष्टि इससे उत्तम और क्या हो सकती है कि उनके चरण निर्गत जल को शिर पर धारण करें। ऐसे विष्णु भगवान् को परम शैव लिखा है कि विष्णु भगवान् नित्य सहस्र कमल पुष्पों से सदाशिव की पूजा करते थे। एक दिन एक कमल घट गया तो उन्होंने यह विचार करके

कि हमारा नाम कमल-नयन है अपना नेत्र-कमल शिवजी के चरण-कमल को अर्पण कर दिया। सच है अधिक शैवता क्या हो सकती है! हमारे शास्त्रार्थी भाई ऐसे वर्णन पर अनेक कुतर्क कर सकते हैं। पर उनका उत्तर हम कभी पुराण-प्रतिपादन से देंगे। इस अवसर पर हम इतना ही कहेंगे कि ऐसे ऐसे संदेह बिना कविता पढ़े कभी नहीं दूर होने के। हाँ, इतना हम कह सकते हैं कि भगवान् विष्णु की शैवता और भगवान् शिव की वैष्णवता का आलंकारिक वर्णन है। वास्तव में विष्णु अर्थात् व्यापक और शिव अर्थात् कल्याणमय ये दोनों एक ही प्रेम स्वरूप के नाम हैं। पर उसका वर्णन पूर्णतया असंभव है। अतः कुछ कुछ गुण एकत्र करके दो स्वरूप कल्पना कर लिए गए हैं जिसमें कवियों को वचन शक्ति के लिये आधार मिले।

हमारा मुख्य विषय शिवमूर्ति है और वह विशेषतः शैवों के धर्म्म का आधार है। अतः इन अप्रतर्क्य विषयों को दिग्दर्शन-मात्र कथन करके अपने शैव भाइयों से पूछते हैं कि आप भगवान् गंगाधर के पूजक होके वैष्णवों से किस बिरते पर द्वेष रख सकते हैं? यदि धर्म से अधिक मतवालेपन पर श्रद्धा हो तो अपने प्रेमाधार भगवान् भोलानाथ को परम वैष्णव एवं गंगाधर कहना छोड़ दीजिये! नहीं तो सच्चा शैव वही हो सकता है जो वैष्णव-मात्र को अपना देवता समझे। इसी भाँति यह भी समझना चाहिये कि गंगाजी परम शक्ति हैं। इससे शैवों को शाक्तों के साथ भी विरोध अयोग्य है। हमारी समझ में तो आस्तिक-मात्र को किसी से द्वेष-बुद्धि रखना पाप है, क्योंकि सब हमारे जगदीश ही की प्रजा हैं, सब हमारे खुदा

ही के बंदे हैं। इस नाते सभी हमारे आत्मीय बन्धु हैं पर शैव समाज का वैष्णवों और शाक्त लोगों से विशेष संबंध ठहरा। अतः इन्हें तो महामैत्री से परस्पर रहना चाहिये। शिवमूर्ति में अकेली गंगा कितना हित कर सकती हैं इससे जितने बुद्धिमान् जितना विचारें उतना ही अधिक उपदेश प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये हम इस विषय को अपने पाठकों के विचार पर छोड़ आगे बढ़ते हैं।

बहुत मूर्तियों के पाँच मुख होते हैं जिससे हमारी समझ में यह आता है कि यावत् संसार और परमार्थ का तत्त्व तो चार वेदों में आपको मिल जायगा, पर यह न समझियेगा कि उनका दर्शन भी वेद-विद्या ही से प्राप्त है। जो कुछ चार वेद सिखलाते हैं उससे भी उनका रूप, उनका गुण अधिक है। वेद उनकी वाणी है। केवल चार पुस्तकों पर ही उस वाणी की इति नहीं है। एक मुख और है जिसकी प्रेमययी वाणी केवल प्रेमियों के सुनने में आती है। केवल विद्याभिमानी अधिकाधिक चार वेदों द्वारा बड़ी हद तक चार फल (धर्म्म, अर्थ, काम, मोक्ष) पा जायँगे, पर उनके पंचम मुख संबंधी सुख औरों के लिये है।

शिवमूर्ति क्या है और कैसी है यह बात तो बड़े बड़े ऋषि मुनि नहीं कह सकते हम क्या हैं। पर जहाँ तक साधारणतया बहुत सी मूर्तियाँ देखने में आई हैं, उनका कुछ वर्णन हमने यथामति किया, यद्यपि कोई बड़े बुद्धिमान् इस विषय में लिखते तो बहुत सी उत्तमोत्तम बातें और भी लिखते, पर इतने लिखने से भी हमें निश्चय है किसी न किसी भाई का कुछ भला हो ही रहेगा। मरने के बाद कैलाश-वास तो विश्वास की बात है।

हमने न कैलाश देखा है न किसी देखनेवाले से वार्तालाप अथवा पत्र-व्यवहार किया है। हाँ, यदि होता होगा तो प्रत्येक मूर्ति के पूजक को ही रहेगा। पर हमारी इस अक्षरमयी मूर्ति के सच्चे सेवकों को संसार ही में कैलास का सुख प्राप्त होगा इसमें संदेह नहीं है, क्योंकि जहाँ शिव हैं वहाँ कैलाश है। तो जब हमारे हृदय में शिव होंगे तो हमारा हृदय-मंदिर क्यों न कैलाश होगा? हे विश्वनाथ! हमारे हृदय-मंदिर को कभी कैलाश बनाओगे? कभी वह दिन दिखाओगे कि भारतवासी-मात्र केवल तुम्हारे हो जायँ और यह पवित्रभूमि फिर कैलाश हो जाय? जिस प्रकार अन्य धातु-पाषाणादि-निर्मित मूर्तियों का, रामनाथ, वैद्यनाथ, आनंदेश्वर, खेरेश्वर आदि नाम होता है वैसे इस अक्षरमयी शिवमूर्ति के अगणित नाम हैं। हृदयेश्वर, मंगलेश्वर, भारतेश्वर इत्यादि, पर मुख्य नाम प्रेमेश्वर है। कोई महाशय प्रेम का ईश्वर न समझें। मुख्य अर्थ है कि प्रेममय ईश्वर। इनका दर्शन भी प्रेम-चक्षु के बिना दुर्लभ है। जब अपनी अकर्मण्यता का और उनके एक एक उपकार का सच्चा ध्यान जमेगा तब अवश्य हृदय-उमड़ेगा और नेत्रों से अश्रुधारा बह चलेगी। उस धारा का नाम प्रेमगंगा है। उसीके जल से स्नान कराने का माहात्म्य है। हृदय-कमल उनके चरणों पर चढ़ाने से अक्षय पुण्य है। यह तो इस मूर्ति की पूजा है जो प्रेम के बिना नहीं हो सकती। पर यह भी स्मरण रखिये कि यदि आपके हृदय में प्रेम है तो संसार भर के मूर्तिमान् और अमूर्तिमान् सब पदार्थ शिवमूर्ति हैं, अर्थात् कल्याण के रूप हैं। नहीं तो सोने और हीरे की मूर्ति तुच्छ

है। यदि उससे स्त्री का गहना बनवाते तो उसकी शोभा होती, तुम्हें सुख होता, भैयाचारे में नाम होता, विपत्ति-काल में निर्वाह होता। पर मूर्ति से कोई बात सिद्ध नहीं हो सकती। पाषाण, धातु, मृत्तिका का कहना ही क्या है ? स्वयं तुच्छ पदार्थ है, केवल प्रेम ही के नाते ईश्वर है, नहीं तो घर की चक्की से भी गए बीते पानी पीने के भी काम के नहीं, यही नहीं प्रेम के बिना ध्यान ही में क्या ईश्वर दिखाई देगा ? जब चाहो आँखें मूँद कर अंधे की नकल कर देखो। अंधकार के सिवाय कुछ न सूझेगा। वेद पढ़ने में हाथ, मुख दोनों दुखेंगे। अधिक श्रम करोगे, दिमाग़ में गर्मी चढ़ जायगी। खैर, इन बातों के बढ़ाने से क्या है ? जहाँ तक सहृदयता से विचार कीजियेगा वहाँ तक यही सिद्ध होगा कि प्रेम के बिना वेद झगड़े की जड़, धर्म बे सिर पैर के काम, स्वर्ग शेखचिल्ली का महल, मुक्ति प्रेत की बहन है। ईश्वर का तो पता ही लगना कठिन है। ब्रह्म शब्द ही नपुंसक है। और हृदयमंदिर में प्रेम का प्रकाश है तो संसार शिवमय है क्योंकि प्रेम ही वास्तविक शिवमूर्ति अर्थात् कल्याण का रूप है।

कवि और कविता

माद्दा = शक्ति; इस्तेदाद = शक्ति; उत्तर रामचरित = भवभूति का संस्कृत नाटक; पस्तहिम्मती = हताश भावना; मूठ = अवास्तविक; दीवान = काव्य संकलन; इश्क = प्रेम; नखशिख = नख से चोटी तक; नुकताचीनी = छिद्रान्वेषण; पर्यालोचना = निरीक्षण; बेबुनियाद = निराधार।

एक घूँट

इस पद्य में प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय कथानक के वास्तविक स्वरूप की ओर संकेत करता है।

टीस = वेदना; छोटी छोटी कल्पना के उपासक = खंडित कल्पना-खंड को संचित करनेवाले कवि; स्वर-विन्यास = संगीत की स्पष्टता; मुक्त प्रेरणा = अनवरुद्ध स्फूर्ति; गुर्राने लगते हैं = आनन्द प्रवाह में व्याघात उपस्थित करते हैं।

इस एकांकी नाटक के पात्र—वनलता = कवि रसाल की पत्नी जिसका पति कविता में लाग रहता है और पत्नी के प्रेम का उचित मात्रा में प्रत्युत्तर नहीं देता। रसाल = वनलता का पति, आश्रम का कवि; प्रेमलता = आश्रम की कारी कन्या। आनन्द = आनंद का संदेश लेकर घूमनेवाला स्वच्छन्द प्रेम का प्रचारक नवयुवक दार्शनिक; कुंज, मुकुल = दो पुरुष पात्र आश्रमवासी।

त्रिमूर्त्ति

उदीयमान = निकलते हुए; होमर = एक प्राचीन यूनानी

कवि; हेलेन = होमर कवि की नायिका; अनवच्छिन्न = परे ईलियड; और ओडेसी = यूनानी प्राचीन काव्यग्रंथ ।

क्षमा

सशंक = चिन्तित; इलाक़े = स्थानों; अबाएँ = चोग़ा; रविशों = क्यारियाँ; धमनियाँ = नसें; क़ातिल = हत्यारा; नामोनिशान = चिह्न; ज़ालिम = अत्याचारी; पनाह = शरण; कबीले = भीड़ की भीड़ ।

ललित कलाएँ और काव्य

सापेक्षिक = संबंधित; आविर्भाव = उत्पत्ति; सन्निकर्ष = द्वारा; अवरोह-आरोह = उतार-चढ़ाव; मध्यस्थता = द्वारा; प्रतिच्छाया = आभास; अन्योन्याश्रयभाव = परस्पर अवलंबित; गोचर = इंद्रियों की पहुँच ।

हिंदी उर्दू और हिंदुस्तानी

मुअर्रब = अर्बी किया गया; मुफ़र्रस = फ़ारसी किया गया; अलफ़ाज़ = शब्द; गुरेज = भागना, परहेज करना; मुस्तनद लुग़ात = माने हुए अर्थ; इस्तलाहात = शब्दार्थ; नौ-ब-नौ = नए नए; तसन्नौ = बनावट; बसा औक़ात अलफ़ाज़ की नशिस्त = बहुधा शब्दों का बैठाव; (अजमी) = अजमवाली अर्थात् फ़ारस से संबद्ध; अफ़आल = क्रियाएँ; फ़सीह उर्दू-ए-मुअल्ला = सुसंस्कृत उर्दू; दरम्यानी सूरत = बीच का समझौता; सक़ील = भद्दी; ग़ैरमानूस = जो रोज के प्रयोग में न आती हो; ख़ुतबे = भाषणों; महदूद = सीमित; इस्तलाहें = परिणाम; रीता = खाली;

सियासी ताल्लुक़ात = राजनैतिक संबंध; अमले = बाबू और हाकिम लोग; 'शुद्धि' = दूसरी भाषा में सम्मिलित हो जाते हैं।

काव्यपद्धति और हिंदी का श्रेष्ठ कवि

अनुकृत = Imitative; प्रकृत = Realistic; अतिरंजित = Exaggerative; प्रगीत = Lyrical; पौराणिक = Mythological; प्रस्तुत = उपमेय; अप्रस्तुत = उपमान; 'विश्वामित्र' शब्द में लेखक का उभयार्थी चमत्कार स्पष्ट है। प्रेमाख्यानी रंग = Romantic turn; प्रेषणीयता = Communicability; स्वानुभूतिनिरूपणी = Subjective; बाह्यार्थनिरूपणी = Objective; मर्मपक्ष = हृदय पर प्रभाव डालनेवाली परिस्थितियाँ; सामान्यतः = साधारणतया; 'योगक्षेम' = अप्राप्तस्य प्राप्तिणम् योगः क्षेमः प्राप्तस्य रक्षणम्, अप्राप्त की प्राप्ति योग है और प्राप्त की रक्षा क्षेम है; अप्रस्तुत = उपमान; कला-वादी = कला कला के लिए है इसके प्रचारक; नीतिकार = जीवन संस्तरण कला के व्याख्याता; नारायणत्व = ईश्वर का रूप; 'स्वांतःसुखाय' = अपने निज को प्रसन्न करने के लिए।

अपने राम की चिट्ठी

देवताबाजी = नये-नये देवताओं की उपासना का तमाशा करनेवाले; हिमाकतबाजी = मूर्खता; एहसान = कृपा; तबीयत-दार = मनचले; अलम-गलम = इधर-उधर की वस्तुएँ; आम के आम और गुठली के दाम = दोहरा काम निकलना; ईश्वरी = दैवी; नापास = अस्वीकृत; हमारे शहर = कानपुर; तमादी = अंतकाल; तवल्लुद = प्रगट।

बिंदु सिंधुत्व का दावेदार

सिंधुत्व का दावेदार = सिंधु बनने की धुन में, सिंधु स्वरूप प्राप्त करने का अधिकारी; सीमा-रेखा = अलग-अलग करने में; 'द्रवित' के वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों की ओर संकेत है। भूमिका = आरंभिक कथा; सूर, तुकाराम, चेतक = कवि संत अथवा दार्शनिक; ऊपर से नीचे की ओर गिरना = कैसी कठोर तपस्या है, अपनों से विलग होकर बूँद-बूँद होकर नीचे आना; असीम का ससीम होना = यह व्यापार कठोर साधना ऊकार है; नीचे में·····टपक आम = वायु में भाप मिली रहती है परंतु बरसने के समय बूँद का व्यक्तित्व सामने आता है; इतिहास = साधना और विकास की गाथा; नीचे····· देवत्व बताते हैं = अवतार ही नीचे आता है; आँखों की सतह पर उतरानेवाले = आँसू; बचपन करते हैं = मूर्खता का प्रयास करते हैं; अवतार की तरह उतावले = नीचे आने की शीघ्रता; उदार = पवित्र; उन्मुक्त आँखें देखना = परिस्थिति को समझना; आवेग = भावुक विवशता; स्नेह = प्रेम की भावुकता; शास्त्र = लोकलाज, विधिनिषेध की व्यवस्था; पाँव के निशान = किरणों का प्रकाश; ···जिसे···कहता = किसीने भविष्य के लिए उन आँसुओं की लुकाछिपी का मूल्य नहीं कूता; बाँसुरी = काव्य; सूरज चाँ·····जोखा = दिन में अथवा रात में इसी पृथ्वी पर किए गए पाप-पुण्य; पत्थर = शिलालेख अथवा कीर्ति कला के रूप में; खंडहर = टूटे फूटे रूप में; किंतु कवि का 'मैं'···जाता है = काव्य में शृंगाररस का वही

मूल्य है जो करुण रस का; तेरी सिसक···हो गई = काव्य में रोने का भी लोग मूल्य और महत्व आँकते हैं; जीवधारी = समीक्षक; नदी = कवि की ओर संकेत है; मर्यादित = सीमित; कर्मण्यता में लाचार = ठोस पृथ्वी पर ठोस काम करने के अयोग्य; दासी = कविता की ओर संकेत है; परिवर्त्तन = नई-नई उद्भावनाओं को; मेरी लेखनी का प्रासाद = काव्य का प्रभाव; प्रजनन भावना = काव्यशक्ति, कला; किंतु यदि···मरते रहते = मैं पशु बना रहता; अमरत्व के दिग्विजय = किंतु समुद्र में मिलकर ही अमर होता है, बिंदु रहते फिर भी वायु में भाव बनाया जा सकता है; गति में भी स्वर था = चाल की गरज, हहराना; 'तरलाई' शब्द अनेकार्थवाची है। प्रजनन = उत्पत्ति, आकर्षण को कला, कला के प्रजनन में कामभावना काम करती है ऐसा किसी दार्शनिक का मत है; 'तुम' = शाक्त; मेरे = काव्य; मेरे शरीर = एक बूँद कहता है, बूँद स्थिर होकर भी पानी का बहाव देखता है; श्रीजगदीशचंद्र = वृक्षों और पल्लवों में प्राण हैं इस सिद्धांत के आविष्कार करनेवाले।

कैकेयी

कुंतल = केश; कौणप = राक्षस; बुद्धिजीवी = बुद्धि ही का व्यवसाय करनेवाला; चिंतन व्यवसायी = सर्वदा सोचते रहनेवाला; व्यवधान = परदा; अधिनायिक = आज्ञा देनेवाली; तिखारकर = वचन लेकर।

साहित्य और जीवन का संबंध

कद्र = सम्मान; दाद = समर्थन; सरंजाम = प्रबंध; शिकंजे = बंधन; उपक्रम = व्यवस्था; सरणिया = पद्धतियाँ ।

अपना-अपना भाग्य

पोलो = घोड़ों पर चढ़कर खेलनेवाला एक खेल; अविरत = निरंतर; बुजुर्गी = बुढ़ापा और गंभीरता; निरापद = अभय; परिवेष्टनों = वस्त्रों; नेटिव = देशी; लॉन = हरा खेल का मैदान; अन्दाजा = अनुमान; प्रकाशवृत्त = रोशनी के घेरे को; बेहयाई = निर्लज्जता ।

वादों का विवाद

समाहार = योग; भाव = प्राबल्य-जन्य; तद्रूपशीलता = भाव विभोर होकर तन्मय होना; 'वाद' = सिद्धान्त विशेष की परिपाटी; 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' = निश्चय रूप से सब ब्रह्म ही ब्रह्म है; स्फुलिंग = चिनगारी; प्रतीक = संकेत चिन्ह; वाढ़ी = लकड़ी काटनेवाला; मूल्यावधारण = नये सिरे से मूल्य निश्चय करना ;

सर्वभूतेषु·····सात्त्विक

सात्त्विक ज्ञान वह है जो सर्वभूतों में एक अविनाशी भाव देखता है तथा विभिन्न तथा विभक्त स्वरूपों में अविभिन्नता और अविभक्तता देखता है । यक 'करनी' का भेद है—इत्यादि । इस पद में 'करनी' शब्द का अर्थ समझ लेने की आवश्यकता है । यहाँ ज्ञान-कांड और कर्म-कांड की सापेक्षित विवेचना नहीं है । 'करनी' शब्द वेदोक्त कर्म-कांड के लिये नहीं आया है । संत लोग वास्तव में ऐसे कर्म-कांड-विरोधी रहे हैं । करनी से यहाँ 'सुरत-शब्द' अभ्यास से तात्पर्य है । यह एक विशेष प्रकार

का साधन है, जिसकें द्वारा आध्यात्मिक निरूपण का विधान विवक्षित किया गया है। अर्थात् 'करनी' शब्द से संत उस दैनिक अभ्यास की ओर संकेत करता है जिसके द्वारा अखंड शक्ति का साक्षात्कार होता है। उष्णता = उतावलापन; दुरूह-वाद = जानबूझ कर कठिन लिखने की परिपाटी; समीचीनता = सामयिकता; रागात्मक संबंध = हृदय का संबंध; घुलावट = तन्मयता।

साहित्यिक चंद्रमा

आग जाने, लोहार जाने = जिसका काम सो जाने; भूत-भावन = शिव; प्रभृति = इत्यादि; कलुष कलंक = पाप का कलंक; "वैद्यो नारायणो हरिः" = भगवान ही वैद्य हैं।

विज्ञान और प्रकृति

चर्वाकों की नाई = नास्तिकों की भाँति। चर्वाक एक मत है जिसमें लोकान्तर और जन्मांतर के विश्वासों का खंडन किया है, और जीवन की सारी इयत्ता इसी वर्तमान जीवन में ही सीमित मानी है। यह घोर जड़-वादी है। इसमें वेदों की अलौकिकता और ईश्वर की स्थिति को भी स्वीकार नहीं किया है। हस्तामलकवत = हाथ में लिये आँवले की सदृश स्पष्ट; जिबु-ईल = एक फरिस्ता, बाइबिल के कथानक की ओर संकेत है; योगक्षेम = अप्राप्त वस्तु की प्राप्त-साधन का नाम 'योग' है और प्राप्त वस्तु की यथोचित रक्षा को 'क्षेम' कहते हैं; योग्यतमा-वशेष = Survival of the fittest. श्लोक का अर्थ—आपत्ति काल के लिये धन की रक्षा करनी चाहिये और धन से स्त्रियों

(को अधिक समझ कर उनकी) रक्षा करनी चाहिये, परन्तु अपनी रक्षा हमेशा करनी चाहिये, धन से भी और स्त्री से भी ; डारविन = विकासवादी दार्शनिक; 'पर' = संस्कृत में शत्रु को कहते हैं; उपस्त्री = रखैली स्त्री; युयुत्सा = युद्ध की इच्छा; हक्सले = एक योरपीय दार्शनिक; श्लोक = धर्म्म से ऊर्ध्वगमन होता है और अधर्म्म से निम्नगमन होता है ।

आचरण की सभ्यता

ज्योतिष्मती = प्रकाशमान; निघंटु = कोष; उन्मदिष्णु = पागल; नरगिस = एक फूल का नाम है जिसकी सूरत आँख से मिलती जुलती है; संसार संभूत = संसार में उत्पन्न हुआ । भान्न = ज्ञान; राविन हुड = इंगलैण्ड के एक सम्पन्न परिवार का व्यक्ति जिसको इंगलैन्ड के राजा जान ने कानून के संरक्षण से बाहर कर दिया था ।

हिंदी-लिंग-विचार

क्लीव = नपुंसक; सफाया = अंत; सारी पहनाया = स्त्री-लिंग बनाया; अप्राणिवाचक = निर्जीव; ऊहलेजवाँ = तरुण ।

कबीर

आस्वाद्य = स्वाद लेने योग्य; समन्वयकारी = मिलानेवाली; विधायक = करनेवाली; वेदांत = वह दार्शनिक सिद्धांत जो आत्मा परमात्मा और जीव तथा ब्रह्म को एक मानता है; फरमाइश = आज्ञा; अवधू = फकीर; साक्षात्कार = तन्मयता; पैगम्बर = प्रवर्त्तक; उद्भासित = चमकने वाला; म्युज़ियम = विचित्र निकेतन ।

अध्ययन

दैहिक = शारीरिक; भौंड़ी = भद्दी; आत्मीकरण = अपने में मिला लेना Assimilation, हजम कर लेना; बहुभक्षी = आवश्यकता से अधिक खाने वाले; आह्निक = दिन के; पारगामी = पूर्ण विद्वान ।

श्लोक का अर्थ—जो व्यक्ति संगीतकला अथवा साहित्यकला से अपरिचित हैं वह पूँछ और सींग के बिना साक्षात् पशु हैं । यह पशुओं का बड़ा भारी भाग्य है कि वह तृण खाये बिना ही जीता है ।

हुनर = कला; सुधी = विद्वान् ।

शिवमूर्त्ति

अप्रतर्क्य = तर्क के परे; बक-बक = व्यर्थ का कथन ।

'महात्मा कबीर ने इस विषय में कहा है, वह निहायत सच है' वास्तव में इस विषय की उक्ति हिंदी कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने कही है—

सुनि हस्ती कर नाँव, अँधरन टोवा धाइकै ।
जेहि टोवा तेहि ठाँव, मुहमद सो तैसे कहा ।।

तदीय = भगवद्मय; मसी = स्यासी; कवियों भरे की = सब कवियों की; क्वतें गोल हैं = रहस्यमय हैं; श्रीगणेशाय नमः = आरंभ । बरते = आधार, प्रमाण; शेखचिल्ली का महल = निराधार वस्तु ।